भूमिका

हिंन्दी साहित्य का इतिहास भारतीय जीवन का उन समस्त प्रवृत्तियों का प्रतिविम्ब है जो हिन्दी भाषा के विकास के साथ ही विविधि युगों में प्रतिविम्बित हुआ है। इसमें न केवल उन महान् साहित्यकारों का स्थान है जिन्होंने स्थायी रचनाओं की सृष्टि की है वरन् उन समस्त प्रवृत्तियों और परम्पराओं का क्रमिक विकास है जो राजनीति, धर्म, दर्शन और समाज की मान्यताओं से निर्मित हुआ है। यह एक क्षोभ की बात है कि हमारे देश की साहित्यिक परम्परा अपने क्रमिक रूप में सुरक्षित नहीं रह सकी। राजनैतिक वातावरण के वैषम्य में एवं विदेशी राजवंशों के प्रतिकूल दृष्टि में या तो इन परम्पराओं के विकास ने योग नहीं दिया या उनकी सुरक्षा का कोई उद्योग नहीं किया। राजनैतिक और धार्मिक क्रान्तियों ने भी हमारे साहित्य के इतिहास को या तो अग्नि की लपटों में समर्पित कर दिया या पवित्र नदियों के प्रवाह में विसर्जित हो जाने दिया। शेष जो साहित्यिक सम्पत्ति रही वह ऐसे अन्धे स्थानों में सड़ती रही जिसके उद्धार का प्रयत्न समुचित ढंग से आज तक नहीं हो सका। परिणामस्वरूप साहित्य की अनेक परम्परायें अधूरी रह गयी हैं और उनके क्रमिक विकास का सम्यक रूप लुप्तप्राय हो गया है। आज तुलसीदास के बाद राम साहित्य की परम्परा अज्ञात सी है। कितने महान् कवि तुलसीदास के बाद हुये होंगे जिन्होंने राम परम्परा में सहयोग दिया होगा—आज अज्ञात हैं। आख्यानक काव्य की परम्परा साहित्य की एक प्रशस्त परम्परा रही है। उसे हिन्दू और मुसलमान दोनों कवियों का सहयोग प्राप्त हुआ है किन्तु प्राप्त सामग्री अपर्याप्त है। हिन्दी गद्य के विकास में साहित्य के कितने प्रयोगों से भाषा को गति मिली, इसका आजतक कहीं उल्लेख नहीं है। ब्रजभाषा गद्य, राजस्थानी गद्य, मैथिली गद्य, दक्खिनी गद्य तथा हिन्दी की अनेक बोलियों के गद्य प्रयोगों ने हिन्दी के साहित्यिक गद्य की नींव में अपार कोष संचित किया किन्तु आजतक उस समस्त राशि का समन्व-

यात्मक रूप हिन्दी गद्य की सृजनात्मक प्रवृत्तियों के संग्रह में नहीं हो सकता है। मैं तो ऐसा समझता हूँ कि रीतिकालीन साहित्य का सम्यक साहित्यगत मूल्यांकन नहीं हो सका। जो कुछ भी लिखा गया है वह संचित रीति साहित्य की सिद्धान्तगत समीक्षा के प्रकाश में ही लिखा गया। हिन्दी साहित्य की जीवन दर्शन की दृष्टि तथा भाषा की प्रकृति को आधार मान कर रीति काल की विवेचना नहीं हुई। हिन्दी की सौंदर्य दृष्टि अपनी विशेषता रखती है उसमें परम्परागत प्रभाव भले ही हो किन्तु मुगल कालीन वैभव में कला की आसक्ति उसके निरूपण एवं शिल्प की जो सूक्ष्मता जीवन के शृंङ्गार में उतर सकी है उसका कहीं भी उल्लेख नहीं है।

मैं समझता हूँ साहित्य का अध्ययन इन सांस्कृतिक भूमिकाओं से रहित होकर केवल कवियों के नाम और प्रवृत्तिमात्र के उल्लेख में नहीं है। साहित्य हमारे राष्ट्र का जीवन-दर्शन है। हमें जीवन के इस विकास का इतिहास साहित्य में देखना है। इस भाँति हिन्दी साहित्य के इतिहासकार का दायित्व महान् है और इन दायित्वों में ही हिन्दी साहित्य के इतिहास की रूप रेखा अंकित हो सकेगी। प्रस्तुत इतिहास में इसी दृष्टिकोण से साहित्य के क्रमिक विकास की रूपरेखा स्पष्ट करने का प्रयत्न किया गया है साहित्य के विविध कार्य्यों में व्यस्त रहने के कारण सम्भव है कहीं कुछ बातों के उल्लेख में कुछ कमी रह गयी हो। मेरे सहृदय मित्र डा० त्रिलोकी नारायण दीक्षित ने मेरे इस कार्य में सहायता की है। इधर इतिहास संबंधी वे मेरे सहायक रहे हैं। वे मेरे इतने निकट हैं कि मैं उन्हें धन्यवाद देकर उसकी आत्मीयता का मूल्य नहीं कम करना चाहता। मेरे प्रिय शिष्य और मेरे निर्देशन में खोज कार्य्य करने वाले विद्यार्थी श्री प्रह्लाद दास अग्रवाल ने भी मुझे इस पुस्तक में कुछ अच्छे परामर्श दिये हैं जिसके लिये वे मेरे स्नेह के पात्र हैं। पुस्तक प्रकाशन में कुछ विलम्ब हुआ इसके लिये इतिहास के विद्वानों और विद्यार्थियों से क्षमा याचना करता हूँ।

साकेत
१५ सितम्बर १९५५

रामकुमार वर्मा

विषय-सूची

विषय प्रवेश

पहला प्रकरण

संधिकाल (पूर्वार्द्ध)

सिद्ध साहित्य : जैन साहित्य

संधि काल (उत्तरार्द्ध)

दूसरा प्रकरण

चारण काल

तीसरा प्रकरण

भक्ति काल की अनुक्रमणिका

चौथा प्रकरण

भक्ति काल

संत-काव्य

पाँचवाँ प्रकरण

प्रेम-काव्य

छठा प्रकरण

राम-काव्य

सातवाँ प्रकरण

कृष्ण-काव्य

आठवाँ प्रकरण

रीति काल (सं० १७००-१९००)

नवाँ प्रकरण

आधुनिक काल (सं० १९००)

दसवाँ प्रकरण

भारतेन्दु युग

ग्यारहवाँ प्रकरण

द्विवेदी युग

बारहवाँ प्रकरण

वर्तमान युग (सं० १६२० से आरम्भ)

तेरहवाँ प्रकरण

समसामयिक साहित्य

विषय-प्रवेश

किसी निर्जन वन-प्रदेश की शैवालिनी की भाँति हिन्दी साहित्य की धारा अबाध रूप से अवश्य प्रवाहित होती रही, किन्तु उसके उद्गम और विस्तार पर आद्यन्त विस्तृत दृष्टि डालने का प्रयास बहुत दिनों तक नहीं हुआ। अपभ्रंश के भग्नावशेषों को लेकर हिन्दी के निर्माण काल के समय (लगभग सं० ७००) से विक्रम की १९वीं शताब्दी के अन्त तक हिन्दी साहित्य का इतिहास बिखरी हुई रत्न-राशि के समान पड़ा रहा; उसके संग्रह करने का प्रयास किसी के द्वारा नहीं हुआ। किसी काल-विशेष के कवि के द्वारा किये गये अपने पूर्ववर्ती कवि अथवा भक्त के विषय में उल्लेख अवश्य मिलते हैं, पर वे व्यष्टि रूप से हैं; समष्टि रूप से नहीं। जायसी के द्वारा अपने पूर्ववर्ती कवियों का उल्लेख, नाभादास के द्वारा भक्तमाल में भक्तों और कवियों का विवरण, गोकुलनाथ के द्वारा 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' में पुष्टि-मार्ग में दीक्षित वैष्णव का जीवन चरित्र, कुछ लेखकों द्वारा अनेक कवियों की नामावली और काव्य-संग्रह आदि हमें अवश्य प्राप्त हैं, पर इन्हें हम इतिहास नहीं कह सकते। इन कवियों का निर्देश धर्म की भावना को लेकर किया गया है, व्यक्तित्व और कवित्व को ध्यान में रखकर नहीं। इनमें साहित्य की प्रगति और विचारों की प्रवृत्ति का भी विवरण नहीं है। लल्लूदास और सदल मिश्र ने क्रमशः 'प्रेम सागर' और 'नासिकेतोपाख्यान' में हिन्दी गद्य के स्वरूप का निर्देश करते हुए तत्कालीन गद्य साहित्य की परिस्थितियों का आभास दिया है; परन्तु वह इतिहास नहीं कहा जा सकता। राजा शिवप्रसाद सितारे हिन्द ने भाषा के इतिहास पर एक निबंध लिखा था; परन्तु साहित्य के विकास पर नहीं। इस प्रकार १९वीं शताब्दी तक हिन्दी का कोई क्रम-बद्ध इतिहास नहीं मिलता है। कवियों के नामों का सबसे पहला संग्रह जो इतिहास के रूप का आभास मात्र है, फ्रेंच साहित्य में गार्सें द तासी लिखित "इस्तवार द ला लितेरात्यूर ऐंदूई ऐं ऐंदुस्तानी" है। इसका प्रथम

संस्करण दो भागों में प्रकाशित हुआ था। प्रथम भाग तथा द्वितीय भाग क्रमशः सन् १८३९ ई० तथा सन् १८४६ ई० में प्रकाशित हुये थे। इनमें अँग्रेजी वर्णमाला से हिन्दी तथा मुसलमान कवियों एवं कवियित्रियों का विवरण दिया गया है। इनमें यत्र-तत्र प्रमुख कवियों की जीवनियों के साथ उनके काव्य के उदाहरण भी दिये गये हैं।

हिन्दी का प्रथम इतिहास फ्रेंच भाषा में लिखा गया; परन्तु द्वितीय श्री महेशदत्त शुक्ल द्वारा हिन्दी में लिखा गया। 'भाषा काव्य-संग्रह' नामक इतिहास में संग्रहकर्ता ने सर्वप्रथम कवियों की रचनाओं का उल्लेख किया है, तत्पश्चात् उन्हीं कवियों की जीवनी दी गई है और अन्त में कठिन शब्दों का कोष भी है। इसका प्रकाशन संवत् १९३० में नवल किशोर प्रेस, लखनऊ से हुआ। इसके पश्चात् संवत् १९४० में शिवसिंह सेंगर ने 'शिवसिंह सरोज' नामक संग्रह प्रस्तुत किया। यद्यपि तासी के ग्रन्थ की अपेक्षा इसमें कवियों की संख्या अधिक है; तथापि शैली में कोई विशेष अन्तर नहीं दिखाई देता। 'सरोज' के आधार पर सर जार्ज ए० ग्रियर्सन ने 'माडर्न वर्नाक्यूलर लिटरेचर आव हिन्दुस्तान' की रचना की (संवत् १९४६)। काल विभाग के साथ समय-समय पर उठी हुई प्रवृत्तियों का दिग्दर्शन ही पुस्तक की विशेषता है।

संवत् १९६६ तथा १९७१ में बाबू श्यामसुन्दरदास बी० ए० द्वारा सम्पादित 'हिन्दी कोविद रत्नमाला' के दो भाग प्रकाशित हुये। इसमें आधुनिक ८० लेखकों के जीवन चरित्र तथा कृतियों का उल्लेख है। इसमें इतिहास का कोई सूत्र नहीं है।

केवल ब्रजभाषा के २६ प्रमुख कवियों का जीवनवृत्त और उनका मधुर काव्य संकलित कर श्री वियोगी हरि ने संवत् १९८० में 'ब्रजमाधुरी सार' नामक संग्रह ग्रन्थ प्रस्तुत किया। इस ग्रन्थ के संग्रह की प्रेरणा संग्रहकार को सर्वप्रथम गोलोकवासी पं० राधाचरण गोस्वामी से मिली थी। इस संग्रह में कोई ऐतिहासिक काव्य मीमांसा नहीं है। कवियों का काव्य संग्रह काल क्रमानुसार अवश्य किया गया है। ग्रन्थ में आये हुये प्रत्येक कवि की जीवनी के आदि में

ब्रजमाधुरी सार

नाभा जी का या उन्हीं की शैली में भा० हरिश्चन्द्र या गो० राधाचरण या स्वयं संग्रहकर्त्ता का छप्पय दिया गया है। कविताओं का संग्रह अत्यन्त सुरुचि-पूर्ण और माधुर्य से ओतप्रोत है। व्रजभाषा का काव्य-वैभव इस संग्रह में पूर्णतः संचित है। संवत् १९९० में इस ग्रन्थ का दूसरा संस्करण प्रकाशित हुआ। इसमें परमानन्ददास और कुंभनदास के नाम जोड़ कर कवि संख्या २८ कर दी गई और संग्रह के दो खंड कर दिए गए। पहले खंड में सूरदास से लेकर ललित किशोरी तक और दूसरे में बिहारी, देव, हरिश्चन्द्र, रत्नाकर और सत्यनारायण कविरत्न रखे गए। पहले खंड के कवियों ने केवल कृष्ण-भक्ति पर काव्य रचना की, दूसरे खड के कवियों ने कृष्ण भक्ति के अतिरिक्त अन्य विषयों पर भी लिखा। इस ग्रन्थ का तृतीय संस्करण सं० १९९६ में प्रकाशित हुआ।

हिन्दी साहित्य विमर्श

हिन्दी साहित्य के इतिहास को आलोचनात्मक ढंग से समझाने का श्रेय श्री पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी को है जिन्होंने संवत् १९८० में 'हिन्दी साहित्य विमर्श' नामक १९६ पृष्ठ की पुस्तक लिखी। यह पुस्तक वस्तुतः उनके हिन्दी साहित्य के विकास के सम्बन्ध में लिखे गए कुछ निबन्धों का संग्रह है। प्रस्तावना में साहित्य की आत्मा और उसकी रूपरेखा पर गहरी मनोवैज्ञानिक दृष्टि डालते हुये हिन्दी साहित्य का आदि काल, संतवाणी संग्रह, हिन्दी साहित्य और मुसलमान कवि, हिन्दी साहित्य का मध्य काल, हिन्दी काव्य और कवि कौशल, हिन्दी साहित्य और पाश्चात्य विद्वान् और आधुनिक हिन्दी साहित्य विषय पर लेखक ने गम्भीर अनुशीलन किया है। इन निबन्धों में साहित्य की विभिन्न प्रवृत्तियों का पांडित्यपूर्ण विभाजन और मूल्यांकन किया गया है तथा कवियों और लेखकों के साहित्यगत व्यक्तित्व पर पूर्ण प्रकाश डाला गया है। पुस्तक में दोष यही है कि वह अपने विषय में संश्लिष्टात्मक नहीं है। निबन्ध यद्यपि एक क्रम से सजाये गये हैं किन्तु वे अलग-अलग हैं। लेखक ने ऐतिहासिक शैली से पुस्तक लिखी भी नहीं है। इतना निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि इस प्रकार का आलोचनात्मक विवेचन एक क्रम से पहली बार किया गया।

संवत् १९८२ में श्री बद्रीनाथ भट्ट ने हिन्दी साहित्य सम्मेलन की रिपोर्टों, मिश्रबन्धु विनोद, शिवसिंह सरोज आदि ग्रन्थों की सहायता से ९६ पृष्ठ की

हिन्दी

हिन्दी भाषा और साहित्य के इतिहास से सम्बन्ध रखने वाली एक छोटी-सी पुस्तिका 'हिन्दी' नाम से लिखी। पुस्तिका की तीसरी आवृत्ति संवत् १९८८ में प्रकाशित हुई। इसमें हिन्दी भाषा और साहित्य की रूपरेखा मात्र है। मनोरंजक भाषा में साहित्य की प्रवृत्तियों और कवियों की आलोचना अवश्य है किन्तु यह आलोचना विहंगावलोकन के रूप में भी है। यद्यपि इस पुस्तक से कवियों और लेखकों की अंतर्दृष्टि और उनकी क्रमागत परम्पराएँ स्पष्ट नहीं होतीं तथापि उससे हिन्दी भाषा और साहित्य की जानकारी अच्छी हो जाती है।

संवत् १९८३ में श्री अखौरी गंगाप्रसाद सिंह ने 'हिन्दी के मुसलमान कवि' नाम ग्रन्थ में १५२ मुसलमान कवियों का जीवन चरित्र और काव्य संग्रह

हिन्दी के मुसलमान कवि

किया। सन् १९२१ के असहयोग आन्दोलन में हिन्दू-मुसलमानों की एकता के फलस्वरूप पूर्व तथा वर्तमान कालीन हिन्दू-मुसलमानों की साहित्यिक एकता का दिग्दर्शन कराने के निमित्त ही श्री रामनारायण मिश्र की प्रेरणा से ग्रन्थ का संकलन हुआ। इस ग्रन्थ की भूमिका खोज और अध्ययन के साथ लिखी गई है। इसमें हिन्दी साहित्य के इतिहास की एक रूप-रेखा भी है। कवियों का क्रम ऐतिहासिक काल क्रम के अनुसार है। प्रारम्भ में कवि की जीवनी है, फिर उसकी कविता का अत्यन्त ललित और सुन्दर संग्रह है।

इतिहास का इतिवृत्तात्मक लेखन सबसे पहले मिश्रबन्धुओं के 'विनोद' में पाया जाता है। 'विनोद' चार भागों में लिखा गया जिसके प्रथम तीन भाग सं० १९७० में प्रकाशित हुए और चतुर्थ भाग स० १९९१ में प्रकाशित हुआ। इसमें कवियों के विवरणों के साथ साहित्य के विविध अंगों पर पर्याप्त प्रकाश डाला गया है। यद्यपि कवियों के काव्य की समीक्षा प्राचीन काल के आदर्शों के आधार पर की गई है, पर उसकी विवेचना में हम आधुनिक दृष्टिकोण नहीं पाते। जीवन की आलोचना, कवि का सन्देश इत्यादि के आधार पर साहित्य-

कारों की आलोचना नहीं की गई है फिर भी हिन्दी के प्रथम इतिहास को विस्तारपूर्वक लिखने का श्रेय मिश्र बन्धुओं को अवश्य है ।

पं० रामनरेश त्रिपाठी लिखित 'कविता-कौमुदी' का प्रकाशन संवत् १६७४ में हुआ । इसमें भारतेंदु हरिश्चन्द्र के पूर्व तक के ८६ कवियों का जीवन-चरित्र उनकी कविता के साथ दिया गया है । यह न तो इतिहास ग्रन्थ है और न आलोचनात्मक अध्ययन, वरन् कवियों का परिचय मात्र है ।

संवत् १६७५ में एडविन ग्रीव्स ने 'ए स्केच आव हिन्दी लिटरेचर' के नाम से हिन्दी साहित्य का एक इतिहास लिखा । उपर्युक्त सभी ग्रन्थों के आधार पर इस ग्रन्थ का प्रणयन हुआ । ग्रीव्स महोदय ने हिन्दी साहित्य के इतिहास को पाँच भागों में विभाजित किया है । पुस्तक की रचना ११२ पृष्ठों में होने के कारण विषय-विवेचना अत्यन्त संक्षिप्त है । यह पुस्तक साहित्य की गति-विधि का परिचय मात्र है ।

श्री एफ० ई० 'के' महोदय ने संवत् १६७७ में 'ए हिस्ट्री आव लिटरेचर' की रचना ११६ पृष्ठों में की । इसमें साहित्य की प्रगतियों के दृष्टिकोण से इतिहास की रूप रेखा निर्धारित की गई है । यह भी साहित्य का परिचय मात्र है ।

नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा सम्पादित 'शब्दसागर' की आठवीं जिल्द में हिन्दी साहित्य के इतिहास की यथेष्ट रूप से परिष्कृत रूप-रेखा दृष्टिगोचर होती है । इसके लेखक पं० रामचन्द्र शुक्ल थे । उसी सामग्री का प्रयोग करके शुक्ल जी ने सविस्तार हिन्दी साहित्य का इतिहास लिखा । इसमें कवियों की संख्या की अपेक्षा उनके महत्व पर विशेष ध्यान दिया गया । इतिहास के साथ इसमें समालोचना और आधुनिक दृष्टिकोण से कवियों का निरूपण किया गया है । काव्य-धाराओं का विवेचन जैसा इसमें है, वैसा अन्यत्र नहीं ।

एक वर्ष बाद सं० १६८७ में (श्री पश्चात् डा०) श्यामसुन्दर दास का 'हिन्दी भाषा और साहित्य' ग्रन्थ लिखा गया । इसका 'भाषा' भाग बाबू साहब लिखित 'भाषा-विज्ञान' पुस्तक का एक परिवर्तित भाग मात्र है । 'साहित्य' भाग में हिन्दी की प्रमुख धाराओं, उनके विकास और विस्तार का निरूपण किया

गया है। संवत् २००१ में इसका संशोधित संस्करण 'हिन्दी साहित्य' के नाम से प्रकाशित हुआ।

इसी समय पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय ने बाबू रामदीन सिंह रीडरशिप के सम्बन्ध में पटना विश्वविद्यालय में 'हिन्दी भाषा और उसके साहित्य का विकास' विषय पर व्याख्यान दिये। इसमें भाषा और साहित्य पर पांडित्यपूर्ण आलोचना की गई और इतिहास का विकास भी अच्छी तरह से दिया गया है। कविता के उदाहरण अत्यन्त सुरुचिपूर्ण और मनोरम हैं।

सं० १९८७ में श्री सूर्यकान्त शास्त्री ने 'हिन्दी साहित्य का विवेचनात्मक इतिहास' लिखा। प्रस्तुत इतिहास में लेखक ने अँग्रेजी साहित्य के भावों का प्रमाण देते हुए हिन्दी साहित्य को समझाने का प्रयत्न किया है जो असंगत-सा लगता है। साहित्य की विवेचना के साथ उन्होंने अपनी भाषा में गद्यकाव्य की छटा भी छिटका दी है जो सम्भवतः इतिहास के विषय के अनुपयुक्त है।

संवत् १९८८ में श्री (अब डा०) रामशंकर शुक्ल 'रसाल' ने एक बहुत बड़ा हिन्दी का इतिहास लिखा। इसमें साहित्य की सभी ज्ञातव्य बातों पर प्रकाश डाला गया है।

संवत् १९९१ में श्री कृष्ण शंकर शुक्ल का 'आधुनिक हिन्दी साहित्य का इतिहास' प्रकाशित हुआ। इसमें आधुनिक काल का इतिहास विस्तार सहित दिया गया है, परन्तु ग्रन्थकार की अपनी कोई धारणा नहीं है। उसने प्रत्येक कवि के विषय में ज्ञातव्य बातों का उल्लेख अवश्य कर दिया है।

संवत् १९९६ में डा० इन्द्रनाथ मदन ने अंग्रेजी में 'माडर्न हिंदी लिटरेचर' नाम का ग्रन्थ लिखा। यह पंजाब यूनीवर्सिटी में पी० एच० डी० के लिये स्वीकृत थीसिस है। इसमें आधुनिक हिन्दी साहित्य का एक संक्षिप्त अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। विषय विवेचन वैज्ञानिक दृष्टिकोण से है किन्तु ग्रन्थ के अन्तर्गत अनेक प्रयोगों को आलोचनात्मक दृष्टिकोण से अनुचित महत्व दिया गया है। अंग्रेजी के पाठकों के लिये ग्रन्थ की उपादेयता अस्वीकृत नहीं की जा सकती।

माडर्न हिन्दी लिटरेचर

संवत् १९९६ में पं० मोतीलाल मेनारिया, एम० ए० ने 'राजस्थानी साहित्य

की रूपरेखा' ग्रन्थ प्रस्तुत किया। इसमें राजस्थानी भाषा, साहित्य तथा कवियों का विवेचनात्मक परिचय है। वस्तुतः डिंगल को हिन्दी की एक शैली ही माननी चाहिये। यदि हिन्दी साहित्य के चारण काल में हम डिंगल की कृतियों का समावेश करते हैं तो कोई कारण नहीं कि आगे के साहित्य में भी हम उनका समावेश क्यों न करें। इस दृष्टि से राजस्थानी साहित्य की रूपरेखा को हमें हिन्दी साहित्य के इतिहास के अन्तर्गत ही मानना चाहिये। इस ग्रन्थ में लेखक ने राजस्थान के डिंगल और पिंगल दोनों के बहुत प्रसिद्ध-प्रसिद्ध कवियों को चुना है। यह चुनाव काव्योत्कर्ष, भाषा शास्त्र और इतिहास की दृष्टि से ही हुआ है। राजस्थानी साहित्य के प्राचीन काल से लेकर आज तक के इतिहास का यह पहला व्यवस्थित और क्रमबद्ध रूप है। पुस्तक अध्ययन और खोज के साथ लिखी गई है। परिशिष्ट में फुटकर कवियों की कविता के उदाहरण दिये गये हैं।

राजस्थानी साहित्य की रूपरेखा

संवत् १९९६ में 'जैन इतिहास की पूर्व पीठिका और हमारा अभ्युत्थान' नामक पुस्तक प्रकाशित हुई। इसके लेखक प्रो० (अब डाक्टर) हीरालाल जैन हैं। पुरातत्व निबन्धावली के निबन्धों की भाँति इसके विविध अध्याय भी पत्र-पत्रिकाओं और सभा-पत्रों द्वारा जनता तक पहुँच चुके थे। समाज पर इनका प्रभाव अधिक पड़ने की दृष्टि से ही वे अध्याय इस व्यवस्थित और स्थायी रूप में प्रकाशित किये गये। हमारे इतिहास के आदि काल में डा० जैन की यह सामग्री लाभप्रद सिद्ध होगी।

जैन इतिहास की पूर्व पीठिका और हमारा अभ्युत्थान

संवत् १९९८ में श्री व्रजरत्नदास ने 'खड़ी बोली हिन्दी साहित्य का इतिहास' ग्रन्थ लिखा। इसमें राष्ट्र-भाषा हिन्दी खड़ी बोली को तथा उसमें प्राप्त साहित्य को लेकर ही ऐतिहासिक दृष्टिकोण से विषय विवेचन किया गया है। अभी तक के इतिहासों में ब्रजभाषा, अवधी, डिंगल आदि ही के साहित्य का विशेष रूप से विवरण दिया गया है, खड़ी बोली हिन्दी अर्थात् राष्ट्र भाषा की ओर ध्यान भी नहीं दिया गया है। स्व० लाला भगवानदीन जी के काशी

खड़ी बोली हिन्दी साहित्य का इतिहास

साहित्य विद्यालय के एक वार्षिक अधिवेशन में स्वर्गीय मुंशी प्रेमचन्द जी ने भी कहा था कि हिन्दी में प्राचीन साहित्य ही कहाँ है, ब्रजभाषा-अवधी का साहित्य हिन्दी का साहित्य नहीं है। पुस्तक अपने दृष्टिकोण से हिन्दी में प्रथम है और इससे खड़ी बोली साहित्य के विकास पर अच्छा प्रकाश पड़ता है।

प्रयाग विश्वविद्यालय में हिन्दी विभाग के अध्यक्ष डा० धीरेन्द्र वर्मा एम० ए०, डी० लिट्० के निर्देशन में हिन्दी साहित्य के इतिहास पर विशेष कार्य हुआ। सम्वत् १९९८ में डा० लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय एम० ए०, डी० फिल० ने 'आधुनिक हिन्दी साहित्य' नामक एक ग्रन्थ लिखा। इसमें सन् १८५० से १९०० ई० तक के साहित्यिक विकास पर अत्यन्त खोजपूर्ण अध्ययन है। यह पुस्तक डा० वार्ष्णेय के अँगरेजी में लिखे हुए मूल थीसिस का हिन्दी में संक्षिप्त रूपान्तर है जिस पर उन्हें प्रयाग विश्वविद्यालय ने डी० फिल्० की उपाधि प्रदान की। इस उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध के हिन्दी साहित्य के इतिहास में तत्कालीन सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक और आर्थिक परिस्थितियों की ओर ध्यान आकर्षित करते हुए विषयों की नवीनता और अनेकरूपता की ओर संकेत किया गया है।

आधुनिक हिन्दी साहित्य

संवत् १९९९ में डा० श्रीकृष्ण लाल एम० ए०, डी० फिल्० ने डा० धीरेन्द्र वर्मा एम० ए०, डी० लिट्० के निर्देशन में 'आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास' ग्रन्थ प्रस्तुत किया। यह डी० फिल० के लिए स्वीकृत उनकी थीसिस 'दि डेवलपमेंट आव् हिन्दी लिटरेचर इन दि फर्स्ट क्वार्टर आव् दि ट्वेंटिएथ सेंचुरी' का रूपान्तर है। अविकल होते हुए भी इस रूपान्तर में कुछ परिवर्तन और परिवर्द्धन भी हुआ है। यह अध्ययन सन् १९०० से १९२५ ई० तक के साहित्य के विकास पर अत्यन्त स्पष्ट प्रकाश डालता है। पहली वार वर्तमान हिन्दी साहित्य के विकास का ऐसा सूक्ष्म, निष्पक्ष तथा आलोचनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। इस अध्ययन को वर्तमान हिन्दी साहित्य की दिशा, कविता, गद्य, नाटक, उपन्यास, कहानी, निबन्ध और समालोचना

आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास

तथा उपसंहार के अन्तर्गत उपयोगी साहित्य, पत्र-पत्रिकाएँ, गम्भीर साहित्य में विभाजित कर अत्यंत विश्लेषणात्मक शैली में लेखक ने अपने ग्रन्थ में सुसज्जित किया है।

हमारे इतिहास की विशेषताएँ

हमारे साहित्य की सबसे बड़ी विशेषता दर्शन और धर्म के उच्च आदर्श के रूप में है। हृदय को परिष्कृत करने के साथ ही जीवन को पवित्र और सदाचारानुमोदित बनाने में हमारे साहित्य का बहुत बड़ा हाथ है, यों तो हिन्दू जीवन में दर्शन और धर्म में पार्थक्य नहीं है। हिन्दी साहित्य के भक्ति काल में यह बात और भी स्पष्ट है। दर्शन ही धर्म का निर्माण करता है और धर्म ही दर्शन के लिये जीवन की पवित्रता प्रस्तुत करता है। इस प्रकार दर्शन और धर्म हमारे साहित्य के निर्माता हैं। दर्शन की जटिल विचारावली का प्रवेश तो हमारे साहित्य में संस्कृत से हुआ और धर्म की भावना का प्राधान्य राजनीतिक परिस्थितियों से हुआ। एक बार धर्म की भावना के जाग्रत होते ही दर्शन के लिए एक उर्वर क्षेत्र मिल गया और हमारे धार्मिक काल की कविता भक्ति की आह्लादकारिणी भावना लिए अवतरित हुई। तुलसी और मीराँ की कविता ने हमारे साहित्य को कितना गौरवान्वित किया, यह समय ने प्रमाणित कर दिया है। धर्म का शासन इतने प्रधान रूप से हम साहित्य में देखते हैं कि रीतिकाल में भी भाषा को माँजने वाले कवि धर्म के वातावरण की अवहेलना नहीं कर सके। नायक-नायिका भेद, नख-शिख आदि में श्री राधाकृष्ण की अनेक शृङ्गार चेष्टाएँ पार्थिवता के बहुत समीप होते हुए भी प्रदर्शित हुईं। धर्म के आलोचकों ने राधा-कृष्ण के इस सम्बन्ध को आत्मा और परमात्मा के मिलन का रहस्यवादमय रूप दिया है, यद्यपि जीवन की भौतिकता का निरूपण इतने नग्नरूप में है कि ऐसा मानने में हमें संकोच है। जो हो, धर्म का अधिकारपूर्ण प्रभाव साहित्य में स्पष्टतया देखते हैं। आजकल भी व्रजभाषा कविता के आदर्श यही राधाकृष्ण हैं। इस प्रकार चौदहवीं शताब्दी के प्रारम्भ से हमारे साहित्य ने दर्शन और धर्म की भावना का संचित कोष प्रकारान्तर से हमारे सामने रक्खा है, यही उसकी प्रमुख विशेषता है।

साहित्य का महत्त्व

हमारे साहित्य ने इतिहास की बहुत रक्षा की है। चारणों के रासो और और ख्यातों ने तथा राजाओं द्वारा सम्मानित राजकवियों के ऐतिहासिक काव्यों ने साहित्य के सौन्दर्य के साथ इतिहास की सामग्री भी सञ्चित कर रक्खी है। टाड का राजस्थान के लेखन में चारणों की रचनाओं से बहुत सहायता मिलती है।

इतिहास लेखन में कठिनाइयाँ

हिन्दी साहित्य में अभी तक ऐसे बहुत से स्थल हैं, जिनके निर्धारण में शंका की जाती है। गोरखनाथ का समय, जटमल का गद्य, सूरदास जी की जन्मतिथि, कबीर का चरित्र आदि विषयों पर अभी तक मत निश्चित नहीं हो पाया। उसके दो कारण हैं। एक तो हमारे यहाँ इतिहास लेखन की प्रथा ही नहीं थी। यदि घटनाओं और व्यक्तियों पर कुछ लिखा भी गया तो उनकी तिथि आदि के विषय में कोई महत्त्व नहीं दिया जाता था। भक्तमाल, वार्ता आदि में यद्यपि भक्तों और कवियों के चरित्र वर्णित हैं, पर उनमें तिथियों का किंचित् भी निर्देश नहीं है। दूसरे, कवियों ने स्वयं अपने विषय में भी कुछ नहीं लिखा। वे या तो आवश्यकता से अधिक नम्र थे, या अपने सांसारिक जीवन को तुच्छ समझ कर पारलौकिक सत्ता पर दृष्टि गड़ाए हुए थे। 'कवित विवेक एक नहिं मोरे' अथवा 'हों प्रभु सब पतितन को टीको' कह कर वे अपनी हीनता वर्णित करते थे। राष्ट्र निर्माण की भावना अथवा सम्मिलित सङ्गठन का दृष्टिकोण तो हमारे कवियों के सामने था ही नहीं। प्रत्येक कवि व्यक्तित्व की परिधि में सीमित होकर परमात्मा की प्रार्थना में ही अपने को भुला देना चाहता था। इसीलिए केशवदास के पूर्व तक किसी कवि ने अपना यथेष्ट परिचय नहीं दिया। यह बात दूसरी है कि कवि ने ग्लानि अथवा अपनी हीनता के प्रदर्शन में अज्ञात रूप से अपने जीवन की घटनाओं का निर्देश कर दिया हो। तुलसीदास ने ही अपने जीवन की घटनाओं का वर्णन अपनी आत्मग्लानि के वशीभूत होकर किया है। रीतिकाल में न तो कार्य की भावना ही प्रबल रह गई थी और न आत्मग्लानि से व्यक्तित्व ही क्षुद्र

रह गया था। शृङ्गार और शृङ्गारजनित जागृति ने प्रत्येक कवि को विलासी नहीं तो भावुक तो अवश्य बना दिया। इसी कारण रीतिकाल में हमें कवियों का यथेष्ट-परिचय मिलता है। केशवदास जो धार्मिक काल की संध्या में देदीप्यमान नक्षत्र की भाँति उदित होते हैं, अपना परिचय देते हैं। भिखारीदास तो अपने काव्य निर्णय में काव्यकौशल के द्वारा चमत्कारपूर्ण परिचय देने में व्यग्र जान पड़ते हैं। कवियों का पूर्ण परिचय न पाने के कारण हमें इतिहास में कहीं लगभग का सहारा लेना पड़ता है, कहीं वाह्य साक्ष्य का। कहीं हम किसी ऐतिहासिक घटना के आधार पर कवि का जीवन जानने की चेष्टा करते हैं, कहीं उसकी कविता के उद्धरण अथवा भाषा के विकास के सहारे उससे परिचय प्राप्त करते हैं। किन्तु ऐसे आधार का आश्रय लेने पर हमें कवि विशेष के जीवन की एक दो घटनाएँ ही मिलती हैं। उनमें भी कुछ-न-कुछ सन्देह बना ही रहता है। तिथियों को निश्चयात्मक रूप से न जान सकने के कारण हमें साहित्य के काल विभाजन में भी कठिनाई पड़ती है। ऐसी परिस्थितियों में भाषा तथा शैली में परिवर्तन, धार्मिक दृष्टिकोण से भेद अथवा राजनीतिक परिस्थितियों के आधार पर ही काल विभाजन की रेखा खींचनी पड़ती है। कवियों का अपना परिचय देने का संकोच हमारे सामने उनका अक्षम्य अपराध समझा जाना चाहिए।

हिन्दी साहित्य का इतिहास अपने प्रारम्भ से ही उन समस्त सांस्कृतिक परम्पराओं से ओतप्रोत रहा है जो हिन्दी के जन्म के पूर्व ही अखिल भारतीय रूप में प्रचलित रहीं। संस्कृत साहित्य में वैदिक धर्म की बहुमुखी प्रवृत्तियाँ शताब्दियों तक लोकमत का शासन करती रहीं। वैदिक धर्म के कर्मकांड की प्रतिक्रिया ने बौद्ध धर्म को प्रचारित होने का अवसर दिया और यह बौद्ध धर्म न केवल राजनीतिक केन्द्रों में शासक वर्गों की रुचि का विषय रहा प्रत्युत जनता के विश्वास का मेरुदण्ड बन गया। वैदिक धर्म की शास्त्रीय विवेचना जहाँ एक ओर आचार्यों की बुद्धि-वैभव बन कर रही, वहाँ बौद्ध धर्म की महायान शाखा जनता की मनोवृत्तियों में परिव्याप्त होकर उनके जीवन के समानान्तर प्रवाहित होती रही। वैदिक धर्म और बौद्ध धर्म में समय-समय

पर संघर्ष होते रहे और जब शंकर और कुमारिल आदि आचार्यों की प्रतिभा से वैदिक धर्म का पुनरुत्थान हुआ तब भी बौद्ध धर्म के प्रभाव से चले हुए सम्प्रदाय जनता को अपनी ओर आकर्षित करते ही रहे।

आठवीं शताब्दी में भी बौद्ध धर्म की महायान शाखा जिसने जनता में वर्ग भेद को हटा कर धर्म की साधना का मार्ग अत्यन्त सुगम कर दिया था, आकर्षण का केन्द्र बनी ही रही। यह महायान शाखा आगे चलकर अनेक सम्प्रदायों में विभाजित हो गई जिनमें वज्रयान और सहजयान सम्प्रदाय प्रमुख थे। जनता की सहानुभूति प्राप्त कर ये स्वाभाविक और सरल साधना के सम्प्रदाय पुष्ट होते रहे। ईसा की पहली शताब्दी से प्रारम्भ होकर महायान सम्प्रदाय ने अपने सात-आठ सौ वर्षों की यात्रा में जनता के हृदय में काफी गहरा स्थान बना लिया और वह विविध रूपों में परिवर्तित होकर लोक-रुचि के अत्यन्त समीप आ गया। जब वैदिक धर्म में शैव सम्प्रदाय को प्रमुखता प्राप्त हुई तब भी बौद्ध धर्म के संस्कार शैव सम्प्रदाय से प्रभावित होकर नाथ सम्प्रदाय के रूप में प्रतिफलित हुए। इस प्रकार बौद्ध और शैव साधनाओं के संयोग से नाथ पंथी साधकों का एक नया सम्प्रदाय चला।

बौद्ध धर्म के समानान्तर ही जैन धर्म चलता रहा, यद्यपि जैन धर्म का विकास उतनी व्यापकता से नहीं हुआ जितना बौद्ध धर्म का।

इस प्रकार यह स्पष्टतः देखा जा सकता है कि हिन्दी साहित्य के इतिहास के प्रारम्भ होने के पूर्व ही बौद्ध धर्म और जैन धर्म की प्रवृत्तियाँ और उनके संस्कार जनता के हृदय पर विशेष रूप से अंकित थे और जब हिन्दी का विकास अपनी पूर्ववर्ती अपभ्रंश की स्थिति से हुआ तो इन्हीं धार्मिक संस्कारों से हमारे साहित्य का निर्माण हुआ। फलस्वरूप सिद्धों द्वारा प्रचारित बौद्ध धर्म के वज्रयान और सहजयान सम्प्रदाय की तथा जैन आचार्यों द्वारा प्रचारित जैन धर्म के दिगम्बर और श्वेताम्बर सम्प्रदाय की रूप-रेखा साहित्य में देखने को मिलती है।

यों तो इस देश में मुसलमानों का आगमन ईसा की सातवीं शताब्दी से

ही हो गया था किन्तु देश की विचार-धारा पर उनके व्यक्तित्व का प्रभाव ग्यारहवीं शताब्दी के पूर्व नहीं पड़ सका ।

हिन्दी साहित्य का विस्तार अनेक बोलियों में पाया जाता है । उन बोलियों में साहित्य का निर्माण होने के कारण उनके रूप अभी तक वर्तमान हैं और साहित्य के साथ जीवित हैं । भंडारकर के अनुसार हिन्दी की अनेक बोलियाँ हैं । राजस्थान में प्रयुक्त बहुत-सी बोलियों में दो प्रधान हैं । मेवाड़ी और उसके समीपवर्ती भागों में बोली जाने वाली मारवाड़ी । इन दोनों बोलियों की भौगोलिक स्थिति से यह तो जाना जा सकता है कि वे गुजराती और ब्रजभाषा के बीच की बोलियाँ हैं जिनमें दोनों भाषाओं की विशेषताएँ हैं । उत्तर में ब्रजभाषा है जो मथुरा के समीप बोली जाती है । पूर्व में कन्नौजी है । दोनों में कोई विशेष अन्तर नहीं है । चौरासी वैष्णवों की वार्ता और वल्लभी सम्प्रदाय के अन्य ग्रन्थों की भाषा जो ब्रज मानी जाती है, कन्नौजी व्याकरण के रूप भी रखती है । सुदूर उत्तर में गढ़वाली और कुमायूँनी है जो गढ़वाल और कुमायूँ में बोली जाती है । पूरब में अयोध्या की बोली अवधी है और दक्षिण में बुन्देली और बघेली । सुदूर पूर्व में भोजपुरी तथा बिहार और बङ्गाल की सीमा पर प्रचलित मैथिली तथा अन्य बोलियाँ हैं । डिंगल, राजस्थानी, पिंगल, ब्रजभाषा, अवधी, मैथिली और खड़ी बोली में साहित्य की रचना हुई । वस्तुतः इस समस्त साहित्य का नाम हिन्दी साहित्य दिया जाना चाहिये । हिन्दी की भिन्न-भिन्न बोलियों में साहित्य का निर्माण होने तथा जन समाज की व्यापक और शतरूपा वृत्ति का प्रदर्शन करने के कारण हिन्दी साहित्य का दृष्टिकोण विस्तृत है, इसमें कोई सन्देह नहीं । जीवन को सबसे अधिक स्पर्श करने वाले शृङ्गार और शान्त रस का परमोत्कृष्ट और विस्तृत निरूपण होने के कारण भी हिन्दी साहित्य विश्वजनीन भावनाओं को लिये हुए है ।

साहित्य का विस्तार

इन बोलियों के आधार पर जिस प्रकार साहित्य रचना हुई है, उस पर संक्षेप में विचार करना उचित होगा ।

हिन्दी का प्रारम्भ मगही भाषा में उन सिद्धों की कविता में हुआ जिन्होंने बौद्धधर्म के वज्रयान सिद्धान्त का प्रचार आठवीं शताब्दी से करना प्रारंभ किया। ये सिद्ध संख्या में चौरासी माने गये हैं। इन्होंने किसी साहित्यिक भाषा को न लेकर जन साधारण की भाषा ही में अपने सिद्धांतों का प्रचार किया। इस भाषा के नमूने साहित्य में सुरक्षित नहीं हैं। इनका अनुवाद भोटिया में हुआ है और ये कविताएँ तिब्बत के स स्क्य विहार के पाँच प्रधान गुरुओं की ग्रन्थावली 'स स्क्य व्कं बुम्' में है।

सिद्ध युग का साहित्य

अपभ्रंश की विकसित अवस्था जब हिन्दी का रूप ले रही थी उस समय जैन आचार्यों ने अपने धार्मिक सिद्धान्त इस अपभ्रश से निकलती हुई भाषा में प्रारम्भ कर दिये थे। यद्यपि इस भाषा में जैन धर्म के सिद्धान्त ही लिखे गये हैं पर भाषा विज्ञान की दृष्टि से हमें इसमें अपनी भाषा के विकास की सामग्री पर्याप्त मात्रा में मिल सकती है। जैन धर्म के दिगम्बर सम्प्रदाय ने हिन्दी में अपने धर्म के प्रचार की चेष्टा भी की। श्वेताम्बर सम्प्रदाय ने तो अधिकतर गुजराती भाषा का ही आश्रय ग्रहण किया। जैन धर्म के प्रचार पर अधिक ध्यान रहने के कारण कोई भी जैनी उत्कृष्ट कवि नहीं हुआ। उसे अपने सिद्धान्तों को दुहराने से अवकाश ही नहीं मिलता था जिससे वह काव्य के अंग पर विचार करे।

पुरानी हिन्दी का साहित्य

नागर अपभ्रंश से प्रभावित राजस्थान की बोली साहित्यिक रूप में डिंगल के नाम से प्रसिद्ध हुई। इसमें बीसलदेव रासो सबसे प्रथम गीति-ग्रन्थ है जो नरपति द्वारा सं० १२१२ में लिखा गया। इसके बाद तो बहुत से प्रबन्ध काव्य और वर्णनात्मक काव्य लिखे गये जिनमें पृथ्वीराज रासो का भी नाम लिया जाता है, यद्यपि इसके प्रामाणिक होने में अभी हिन्दी के विद्वानों को सन्देह है। इस साहित्य में पृथ्वीराज राठौर का भी नाम सम्मान सहित है जिन्होंने 'वेलि क्रिसन रुकमिणी री' की रचना की। इस साहित्य की रचना अधिकतर चारणों द्वारा हुई। अतएव इसमें वीर और रौद्र रस की प्रधानता है। यद्यपि इस साहित्य में

राजस्थानी का साहित्य डिंगल

भाषा का अधिक सौन्दर्य नहीं है, तथापि भावों का वर्णन स्वाभाविक और उत्कृष्ट है। इस साहित्य से हमारे देश के इतिहास की भी यथेष्ट रक्षा हुई है।

व्रजभाषा का साहित्य पिंगल

शौरसेनी अपभ्रंश से उत्पन्न व्रज बोली में साहित्य की रचना विक्रम की बारहवीं शताब्दी से प्रारम्भ हुई। उस समय इसका नाम पिंगल था। यह राजस्थानी साहित्य डिंगल के समान मध्यदेश की साहित्यिक रचना का नाम था। इस साहित्य का विस्तार हिन्दी की अन्य बोलियों के साहित्य के विस्तार से अधिक रहा। सोलहवीं शताब्दी में कृष्ण पूजा का आश्रय पाकर इस साहित्य ने बहुत उन्नति की। सूरदास, नन्ददास, सीताराम. अष्टछाप के अन्य कवि, सेनापति, बिहारी, चिन्तामणि, रसखान, देव, घनानन्द, पद्माकर तथा रीतिकाल के समस्त कवि इसी साहित्य की श्रीवृद्धि करते रहे। भारतेन्दु ने खड़ी बोली का उद्धार करते हुए भी काव्य की भाषा व्रजभाषा ही रखी।

अवधी का साहित्य

अवधी साहित्य का सब से प्रथम प्रदर्शन आख्यानक कवियों ने अपनी प्रेम-गाथाओं में किया। उन्होंने अर्ध मागधी प्राकृत के विकसित रूप में अवधी भाषा को अपने साहित्य-निर्माण का साधन बनाया। इन प्रेमाख्यानक कवियों में मलिक मुहम्मद जायसी प्रमुख थे। उन्होंने अवधी का सरल और साधारण रूप ही रक्खा है, जिसमें संस्कृत के तत्सम शब्दों का स्थान नहीं के बराबर है। इस प्रेम काव्य की धारा के बाद अवधी का प्रयोग राम-साहित्य के सर्वश्रेष्ठ कवि तुलसीदास ने किया। तुलसीदास की सर्वोत्तम कृति मानस की रचना इसी भाषा में हुई। इसमें सन्देह नहीं कि तुलसी ने अवधी को परिष्कृत कर उसे संस्कृतमय कर दिया है तथापि भाषा का वह गौरव क्या कम है कि उस समय की काव्य परम्परा में प्रचलित व्रजभाषा की उपेक्षा कर तुलसी ने अपनी मौलिकता अवधी में दिखलाई। अवधी को व्रजभाषा के समान साहित्यिक रूप देने का श्रेय तुलसीदास जी ही को है।

व्रजभाषा के साहित्यिक महत्व के कारण यद्यपि अन्य बोलियों का विकास

साहित्य-रचना के लिए रुक-सा गया, तथापि बुन्देलखंडी भाषा ने कुछ अंशों में अपने अस्तित्व की रक्षा अवश्य की। सबसे प्रथम रचना जगनिक के द्वारा आल्हखंड की हुई। आल्हखंड का साहित्यिक रूप अप्राप्य है, वह जनता के कंठ की वस्तु है। यही कारण है कि अभी तक उसका प्रामाणिक पाठ नहीं मिल सका। भाषा के क्रमिक विकास और परिवर्तन के कारण उसमें भी परिवर्तन होता रहा। उसका मूलरूप क्या था, यह जानना भी अब कठिन है। आल्हखंड में ब्रजभाषा के कलेवर में बुन्देलखंडी भाषा बैठी हुई है।

बुन्देलखंडी का साहित्य

पंद्रहवीं शताब्दी में विद्यापति ठाकुर ने मैथिली साहित्य में अपनी पदावली की रचना की। बिहारी भाषा के अन्तर्गत मैथिली बोली ही ऐसी है जिसमें साहित्य रचना हुई है। यद्यपि मैथिली को मागधी अपभ्रंश से निकलने के कारण हिन्दी के अन्तर्गत मानने में आपत्ति हो सकती है, पर शब्द भांडार की व्यापकता और हिन्दी से मैथिली का अधिक साम्य होने के कारण वह हिन्दी की एक शाखा ही मान ली गई है। इसीलिए विद्यापति की कविता हिन्दी साहित्य के अन्तर्गत मानी जाती है।

मैथिली का साहित्य

खड़ी बोली दिल्ली, मेरठ आदि स्थानों के जनसमुदाय की बोली रही है जो समय-समय पर साहित्य में प्रयुक्त हुई। खड़ी बोली में प्रथम लिखने वाले अमीर खुसरो हुए जिन्होंने अपनी पहेलियों, मुकरियों आदि में इस भाषा का प्रयोग किया। यद्यपि ब्रजभाषा को ही उन्होंने विशेष रूप से प्रश्रय दिया, पर उन्होंने खड़ी बोली को भी उपेक्षा की दृष्टि से नहीं देखा। 'एक नार ने अचरज किया' कहकर वे उस समय की बोली में कविता कर हमें भी अचरज में डाल देते हैं। कबीर ने भी फारसी शब्द के मेल से अपने समय की खड़ी बोली में कविता की 'हमारा यार है हम में हमन को इन्तजारी क्या' लिखकर वे जनसमुदाय की भाषा के बहुत निकट आ गए हैं। यद्यपि ब्रजभाषा के महत्व के कारण खड़ी बोली का प्रचार न हो सका, तथापि समय-समय पर

खड़ी बोली का साहित्य

साहित्य में उसके चिन्ह अवश्य मिलते रहे। मुसलमानों ने भी इस बोली का आधार लेकर उसमें फारसी शब्द मिला कर अपने उर्दू साहित्य की सृष्टि की। आश्चर्य तो इस बात का है कि यह बोली उत्तर की होती हुई भी दक्षिण में पल्लवित हुई और वहाँ से भारत के अन्य स्थानों में फैली। ब्रजभाषा के क्षेत्र से निकलकर लल्लूलाल आदि ने पहले गद्य-रूप में इस खड़ी बोली का प्रचार किया। बाद में हरिश्चन्द्र ने इसकी बहुत उन्नति की। यद्यपि उन्होंने भी इसे पद्य का रूप नहीं दिया, पर उनकी कविता पर इसका प्रभाव दीख पड़ने लगा था। महावीर प्रसाद द्विवेदी के समय में इसने विशेष उन्नति की तथा श्रीधर पाठक, अयोध्यासिंह उपाध्याय और मैथिलीशरण गुप्त जैसे उत्कृष्ट कवि इस भाषा में हुए। अब तो खड़ी बोली ही गद्य और पद्य की भाषा है।

अंगरेजी साहित्य के प्रभाव ने हिन्दी साहित्य को अनेक दिशाओं में विकसित होने की प्रेरणा दी। कविता, नाटक, उपन्यास, कहानी, निबन्ध, आलोचना तथा उपयोगी साहित्य की रचना में अद्भुत प्रगतिशीलता आ गई। कविता में वस्तुवाद की छाया तथा जीवन के संघर्षों का चित्रण हिन्दी काव्य का विषय बना। साथ ही मध्य युग से चली आने वाली काव्य की परम्परा ने लोकोत्तर भावनाओं में रहस्य और संकेत के रूपकों की भी रक्षा की। अतः हिन्दी काव्य का विकास एक ओर तो अपनी सांस्कृतिक पृष्ठभूमि को साथ लिए रहा और दूसरी ओर जीवन में घटित होने वाली अनेक समस्याओं और उनके हल खोजने में सचेष्ट रहा। इसके साथ ही इंडियन नेशनल कांग्रेस ने जो स्वतन्त्रता का सन्देश समस्त भारत में फैलाया उससे अनुप्राणित होकर कवियों ने देश-प्रेम और राष्ट्रीयता से ओतप्रोत कविताओं की रचना की।

हिन्दी कविता के विकास में प्रमुखतः तीन परिस्थितियाँ देखने में आती हैं। पहली परिस्थिति पूर्णतः वर्णनात्मक है, दूसरी परिस्थिति रहस्यात्मक और तीसरी परिस्थिति वस्तुरूपात्मक और प्रगतिशील है। वर्णनात्मक कविता अधिकतर धार्मिक, पौराणिक और ऐतिहासिक इतिवृत्तों में सीमित रही। ऋतु वर्णन, प्राकृतिक दृश्य और वीर-पूजा इन रचनाओं के विषय रहे। श्री मुकुटधर पांडेय, श्री मैथिलीशरण गुप्त और श्री रामचरित उपाध्याय इस क्षेत्र में विशेष

प्रमुख थे। रहस्यात्मक कविताओं के दो प्रमुख आधार थे। प्रथम आधार तो उपनिषद् की विचार धारा से निकली हुई परम्परा रही जिसमें कबीर और मीराँ आदि का नाम आता है और दूसरा आधार अँगरेजी के युगांतरकालीन कवि शैली, कीट्स, बाइरन और वर्डस्वर्थ की रचनाएँ तथा विश्वकवि श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर की काव्य पुस्तकें थीं। इस क्षेत्र में श्री जयशंकर 'प्रसाद', श्री सुमित्रानंदन पंत, श्री सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला' और श्री महादेवी वर्मा के नाम विशेष महत्वपूर्ण हैं। वस्तुरूपात्मक रचनाओं ने जीवन की नग्न और विषम परिस्थितियों का विशेष चित्रण किया। किसान और मजदूर इस प्रकार की रचनाओं के प्रमुख विषय रहे। उनकी हृदयद्रावक परिस्थितियों के तथा पूँजीपति और शोषक वर्ग के कुम्भकर्णों की क्रूरता के अनेक चित्र इन रचनाओं में मिलते हैं। इस प्रकार की रचनाओं में वेग और आक्रोश है और इस स्वतंत्र और अमर्यादित दृष्टिकोण के कारण काव्य की अनेक मान्यताओं की अवहेलना भी उसमें देखी जाती है। ऐसे कवियों में सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला', श्री भगवतीचरण वर्मा, श्री बच्चन, श्री नरेन्द्र प्रमुख हैं।

नाटक के क्षेत्र में सर्वश्री माधव शुक्ल, बद्रीनाथ भट्ट, गोविन्दवल्लभ पंत, माखनलाल चतुर्वेदी और बल्देवप्रसाद मिश्र ने विशेष रचनाएँ कीं, किन्तु इनके नाटकों में घटनाओं की कुतूहलता होते हुए भी चरित्रों का अंतर्द्वंद्व और परिस्थितियों का संघर्ष नहीं था। यह अभाव श्री जयशंकर 'प्रसाद' ने पूर्ण किया। उन्होंने अनेक ऐतिहासिक नाटकों की रचना की। चंद्रगुप्त मौर्य से लेकर हर्षवर्धन के ऐतिहासिक, राजनीतिक, सामाजिक और दार्शनिक आदर्शों पर उन्होंने अपने विविध नाटकों की रचना की। उन्होंने अपने नाटकों में परिस्थितियों की स्पष्ट रूपरेखा और चरित्रों के आंतरिक संघर्षों की संवेदना अत्यन्त कुशलता से स्पष्ट की। उनसे मार्ग दर्शन पाकर सर्वश्री लक्ष्मीनारायण मिश्र, उदयशंकर भट्ट, हरिकृष्ण प्रेमी और सेठ गोविन्ददास ने अनेक नाटकों की रचना की।

इन नाटकों के साथ ही साथ एकांकी नाटकों की रचना भी पश्चिमी साहित्य के दिशा-संकेत से हुई। इन नाटकों में चारित्रिक द्वन्द्व विशेष रूप से स्पष्ट हुआ है, साथ ही सामाजिक समस्याओं का हल भी खोजा गया है। ऐसे नाटककारों

में सर्वश्री उपेन्द्रनाथ अश्क, उदयशंकर भट्ट, गणेश प्रसाद द्विवेदी, सेठ गोविन्द दास और भुवनेश्वर प्रमुख हैं। श्री सुमित्रानन्दन पंत ने ज्योत्सना नाम से एक प्रतीक नाटक लिखा है जिसमें प्रकृति के विविध विधानों के सहारे भविष्य के मानव समाज के विकास की अत्यन्त विशद कल्पना की गई है। हिन्दी में यह नाटक अपने ढंग का अकेला है।

उपन्यास और कहानियों के क्षेत्र में जीवन के मनोविज्ञान की स्थितियाँ अनेक रूपों में प्रस्तुत की गई हैं। देवकीनन्दन खत्री और किशोरीलाल गोस्वामी केवल आश्चर्यजनक और चमत्कारपूर्ण घटनाओं की एक काल्पनिक कथा शैली दे सके थे। मुन्शी प्रेमचन्द ने जीवन के वास्तविक चरित्रों को घटनाओं की विषमताओं से संघर्ष करते हुये चित्रित किया। उन्होंने हमारे देश के ग्रामीण जीवन का जैसा रूप उपस्थित किया है वह आगे आने वाले युगों के लिये अध्ययन, मनन और मनोरञ्जन की सामग्री होगा। सामाजिक आदर्शवाद के साथ प्रेमचन्द ने जीवन के समस्त अनुभव को ग्राम्य जीवन तथा नागरिक जीवन में घटित किया है।

उनके सेवासदन, रंगभूमि, प्रेमाश्रम, गबन, कर्मभूमि और गोदान उपन्यास हमारे समाज के सच्चे और करुण चित्र हैं। उनके गोदान में होरी एक अमर चरित्र है जिसमें भारतीय किसान का जीवन साकार हो उठा है। उपन्यासों के साथ श्री प्रेमचन्द ने अनेक कहानियाँ भी लिखी हैं जो कला की दृष्टि से अभूतपूर्व हैं। प्रेमचन्द के पश्चात् सर्वश्री सुदर्शन, राजा राधिकारमण सिंह, चतुरसेन शास्त्री, जैनेन्द्रकुमार, विश्वम्भरनाथ कौशिक, उग्र, निराला, प्रसाद, ऋषभचरण जैन, प्रतापनारायण श्रीवास्तव का उपन्यास साहित्य के लिये विशेष योगदान है। पुरानी पीढ़ी के इन उपन्यासकारों के पश्चात् भगवतीचरण वर्मा, यशपाल, अज्ञेय, इलाचन्द जोशी, सियारामशरण गुप्त, रांगेय राघव, अंचल, हजारी प्रसाद द्विवेदी, कृष्णचन्द अमृतलाल नागर, पहाड़ी, कमला चौधरी, प्रभाकर माचवे आदि का उल्लेख आवश्यक है। इन्होंने कहानी और उपन्यास की धारा जनता के जीवन के धरातल पर लाकर बहाने का प्रयत्न किया। इनकी दृष्टि सामान्यतया मध्यवर्ग और निम्नवर्गों के दुर्बल पक्षों पर पड़ी और शोषक

के पंजों से उन्हें उन्मुक्त करने के विविध उपायों को प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया। वृन्दावन लाल वर्मा इस युग के एक सफल ऐतिहासिक उपन्यासकार हैं, और वे अपने क्षेत्र के अकेले लेखक हैं।

निवंध और समालोचना के क्षेत्र में हिन्दी ने विशेष उन्नति की है। निबंध लेखन जो श्री बालकृष्ण भट्ट ने हिन्दी में आरम्भ किया हैं, वह श्री महावीर प्रसाद द्विवेदी ने अत्यन्त सुथरे ढंग से उपस्थित किया। उनके बाद सर्वश्री माधव प्रसाद, अध्यापक पूर्णसिंह शर्मा और डाक्टर श्यामसुन्दर दास ने उसमें बड़ी उन्नति की। इन लेखकों के बाद आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने निबन्ध साहित्य को बहुत उत्कर्ष दिया। उन्होंने निबन्ध में मनोविज्ञान के तत्व को जोड़कर अपनी रचनाओं को भाव और कला की दृष्टि से अच्छी तरह सँवारा।

उनका चिन्तामणि ग्रन्थ निबन्ध साहित्य में सर्वोत्कृष्ट है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल के साथ ही सर्वश्री पदुमलाल बख्शी, डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, डा० धीरेन्द्र वर्मा और गुलाबराय निबन्ध लेखन में आदर के साथ स्मरण किये जाते हैं। इन लेखकों ने आलोचना के क्षेत्र को भी अलंकृत किया है। मिश्र बन्धुओं की आलोचना के युग से निकलकर आधुनिक हिन्दी पश्चिम की समालोचना पद्धति का अनुसरण करती हुई नवीन शैलियों में समालोचना साहित्य को जन्म दे रही है। आज की आलोचना खोज का आधार लेकर साहित्य की सद्वृत्तियों को प्रोत्साहित करती हुई दुर्वृत्तियों को दूर हटा रही है।

निबन्ध साहित्य के प्रमुख लेखकों में श्यामसुन्दरदास, प्रसाद, निराला, रामकृष्ण राय, वियोगीहरि, सद्गुण शरण अवस्थी, चन्द्रकुँवर वर्त्वाल आदि उल्लेखनीय हैं।

ललित साहित्य के साथ ही साथ हिन्दी में उपयोगी साहित्य की रचना भी हो रही है। संस्कृति, दर्शन, राजनीति, विज्ञान, अर्थशास्त्र और पुरातत्व विषयों पर स्थायी कार्य हो रहा है। सर्वश्री काशीप्रसाद जायसवाल, डा० भगवानदास, सम्पूर्णानन्द (संस्कृति), सर्वश्री डा० गंगानाथ झा, बलदेव उपाध्याय, रामदास गौड़, गुलाबराय (दर्शन), सर्वश्री डा० वेणीप्रसाद, डा० ताराचन्द (राजनीति), सर्वश्री डा० गोरख प्रसाद, सत्यप्रकाश, महावीर प्रसाद

श्रीवास्तव (विज्ञान), सर्वश्री दयाशंकर दुबे, भगवानदास केला (अर्थशास्त्र) सर्वश्री गौरीशंकर हीराचन्द ओझा, राहुल सांकृत्यायन, जयचन्द विद्यालंकार (पुरातत्व साहित्य), की रचनायें अग्रगण्य हैं। पारिभाषिक शब्दकोष संग्रह में श्री सुखसंपति राय भंडारी का नाम उल्लेखनीय है।

जीवन चरित्र लेखकों में श्री बनारसीदास चतुर्वेदी सर्वप्रथम हैं, जिन्होंने 'श्री सत्यनारायण कविरत्न की जीवनी' लिखी। श्री रामनरेश त्रिपाठी ने 'मालवीय जी के साथ इकतीस दिन' के अनुभवों को लिखा है। श्रीमती शिवरानी प्रेमचन्द ने 'प्रेमचन्द घर में' लिखकर प्रेमचन्द की मानसिक भाव भूमि पर प्रकाश डाला है। इन रचनाओं से पूर्व भारतेंदु हरिश्चंद्र, रमाशंकर व्यास, काशीनाथ खत्री, राधाकृष्णदास, बालमुकुन्द गुप्त, मुन्शी देवीप्रसाद मुंसिफ आदि ने जीवनी साहित्य की रचना करके इस दिशा में मार्ग प्रशस्त कर दिया था। इस युग में लेखकों का ध्यान भक्तों और नेताओं के जीवन चरित्र की ओर विशेष रूप से गया। आजकल संस्मरणों और इन्टर्व्यू के द्वारा साहित्यकारों की जीवनी की ओर भी काफी काम हो रहा है। बनारसीदास चतुर्वेदी, क्षेत्र-चन्द्र 'सुमन' तथा पद्मसिंह शर्मा कमलेश का साहित्य इस दिशा में विशेष उल्लेखनीय है।

आत्मचरित्र साहित्य में श्यामसुन्दरदास, अयोध्यासिंह उपाध्याय, वियोगी हरि, पदुमलाल पन्नालाल बख्शी, राहुल सांकृत्यायन की रचनाएँ उल्लेखनीय हैं। इसी साहित्य में कल की बात का उल्लेख आवश्यक है जिसमें अनेक साहित्यकारों ने आत्मवृत्त या चरित्र देकर अपने विषय में पाठकों की जिज्ञासा शांत करने का प्रयत्न किया।

ग्राम-गीतों के संकलन में श्री रामनरेश त्रिपाठी ने सब से प्रथम प्रयास किया। अब तो मैथिली के लोकगीत और भोजपुरी तथा छत्तीसगढ़ी के लोक-गीत भी प्रकाशित हो गये हैं। इस प्रकार खड़ी बोली में हिन्दी साहित्य की उन्नति सर्वाङ्गरूप से हो रही है। इस साहित्य को लोकव्यापी बनाने में मासिक पत्रों को भी काफी श्रेय है जिनमें सरस्वती, माधुरी, हंस, विशालभारत, विश्ववाणी, विश्वमित्र और वीणा प्रमुख हैं। ग्राम-गीत साहित्य पर इस युग के आलोचकों

का भी ध्यान विशेषरूप से गया। दुर्गाशंकर सिंह, उदय नारायण तिवारी, कृष्णदेव उपाध्याय, आदि ने भोजपुरी लोक गीतों के साहित्यिक सौंदर्य को आलोचक की दृष्टि से देखने का प्रयत्न किया और देवेन्द्र सत्यार्थी, ने उनके कलात्मक स्वरूप को व्यक्त करके उनको सभ्य समाज के निकट उपस्थित किया। राहुल सांकृत्यायन ने भी इस दिशा में सराहनीय प्रयत्न किया है जो ध्रुव तारा के समान हमारे इस क्षेत्र के कार्य करने वालों के लिए प्रदर्शन करेगा। अभी कुछ दिन पूर्व हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग से सम्मेलन पत्रिका का 'लोक-संस्कृति अंक' प्रकाशित हुआ है। इसमें लोक-कला, लोक गीत, लोक-नृत्य आदि पर अनेक प्रसिद्ध विद्वानों की लेखनी से साहित्य का सर्जन हुआ है।

इस युग में हिन्दी के साहित्यकारों का ध्यान विदेशी साहित्यों की ओर भी गया। चतुर्दिक उन्नति और जागरण के इस युग में भला हमारे साहित्यिक अन्य देशों के साहित्यिक गति-विधि से उदासीन कैसे रह सकते थे। दूसरी आवश्यकता यह भी थी कि हिन्दी के पाठकों के समक्ष विदेशी साहित्यों के आदर्श और नमूने प्रस्तुत करके उन्हें अपनी हीनता दिखाने की भी आवश्यकता बनी हुई थी। इस क्षेत्र में सर्व प्रथम कदम बढ़ाने वाले केसरी नारायण शुक्ल हैं। इन्होंने 'रूसी साहित्य' लिखकर रूसी साहित्य की विशेष प्रवृत्तियों को हिन्दी पाठकों के समक्ष प्रस्तुत किया। इसके अनन्तर रूसी विद्वान् वारान्निकोव की 'मानस भूमिका' का हिन्दी में अनुवाद किया। श्री लीलाधर गुप्त तथा डी० पी० खत्री ने भी अंग्रेजी के आलोचना साहित्य के विभिन्न पक्षों पर महत्वपूर्ण ग्रन्थों की रचना की है।

हिन्दी साहित्य को समृद्धशाली बनाने में विविध संस्थाएँ विशेष कार्य कर रही हैं, इनमें हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग; नागरी प्रचारिणी सभा, काशी; हिन्दुस्तानी एकेडेमी प्रयाग; राष्ट्रभाषा प्रचार सभा, वर्धा; वीरेन्द्र केशव साहित्य परिषद्, ओरछा और दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा, मद्रास प्रमुख हैं। हिन्दी जिस गति से उन्नति कर रही है, उसे देखते हुए कहा जा सकता है कि निकट भविष्य में ही वह अन्य भारतीय भाषाओं से अधिक समृद्धिशालिनी हो जायगी।

हिन्दी साहित्य के इतिहास की सामग्री दो रूपों में मिलती है, प्रथम अन्तर्साक्ष्य और द्वितीय बाह्य साक्ष्य के रूप में। साहित्य के प्रामाणिक ग्रन्थों से उपलब्ध सामग्री अन्तर्साक्ष्य के रूप में मिलती है। निम्नलिखित प्रामाणिक ग्रन्थों से आधार पर हिन्दी साहित्य का इतिहास प्रस्तुत होता है :—चौरासी वैष्णवन की वार्ता, दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता, भक्तमाल, गोसाईं चरित्र, भक्तनामावली, कविमाला, कालिदास हजारा, कवि नामावली, शृङ्गार संग्रह, चन्द्रोदय, कवित्त रत्नाकर, शिवसिंह सरोज, ब्रजमाधुरी सार तथा सूक्ति सरोवर।

बाह्यसाक्ष्य के अन्तर्गत हमें अपने साहित्य के इतिहास के लिये मुख्य-मुख्य निम्नलिखित पुस्तकों से सामग्री मिलती है :—आदि ग्रन्थ, टाड राजस्थान, नागरी प्रचारिणी सभा की खोज रिपोर्ट इत्यादि।

हमारा साहित्य राजनीतिक परिस्थितियों से कुछ कम प्रभावित नहीं है। वीर तथा शृंगार रसों की साहित्य में अभिव्यंजना अपने अपने समय पर, राजनीतिक परिस्थितियों के ही आधार पर हुई। इस प्रकार हम राजनीतिक पट-परिवर्तन के साथ साहित्य को निम्नलिखित चार भागों में विभाजित कर सकते हैं :—

सं०	काल विभाग	विस्तार	संस्कृति का स्थान	विचार धारा	विशेषता
१	चारण काल	संवत् १०००-१३७५	राजस्थान	लौकिक	पुरानी हिन्दी का जन्म, काव्य की अपेक्षा भाषा का उत्कर्ष, अधिक वर्णनात्मक काव्य, काव्य क्षेत्र में वीर रस का महत्त्व, राष्ट्र भावना का प्रभाव ।
२	भक्ति काल	सं० १३७५-१७००	राजस्थान व मध्यप्रदेश	पार-लौकिक	भाव तथा भाषा का उत्कर्ष । वर्णनात्मक काव्य के साथ रीति काव्य की प्रधानता । कविता के क्षेत्र में शृंगार तथा शान्त रसों की प्रधानता । धार्मिक भावों का उत्कर्ष । राष्ट्र भावना का अभाव । क्रियात्मक साहित्य का प्रणयन ।
३	रीति काल	सं० १७००-१९००	राजस्थान मध्यप्रदेश तथा दक्षिण	पार-लौकिक के वेश में लौकिक	भाषा का उत्कर्ष । भावों की पुरानी परम्परा का आवर्तन । कला का अधिक प्रदर्शन । वर्णनात्मक कविता का प्राधान्य । भावों की आवश्यकता, अधिक विस्तार । शृंगार रस का प्राधान्य । मौलिकता का प्रभाव । आचार्यत्व का अधिक प्रदर्शन ।
४	आधुनिक काल	सं० १९००	सम्पूर्ण भारत	लौकिक व पार-लौकिक	गद्य का विकास तथा विस्तार । भावों का नवीन स्वरूप । धार्मिक भावनाओं का आधुनिक दृष्टि-कोण । जीवन के सभी विभागों पर दृष्टिकोण । राष्ट्र भावना का सूत्रपात । क्रियात्मक साहित्य का प्रणयन ।

पहला प्रकरण

सन्धि-काल

सिद्ध साहित्य : जैन साहित्य

(सं० ७५०-१२००)

हिन्दी साहित्य के विकास काल को सन्धि-काल कहना अधिक उपयुक्त है। इस काल में अपभ्रंश की गौरवशालिनी कृतियों के बीच में भाषा विषयक वह सरलता दृष्टिगोचर होने लगी थी जो जनता की स्वाभाविक मनोवृत्ति से प्रेरित होकर अपने को साहित्यिक विधानों से मुक्त करती है। साहित्यिक जड़वाद से जनता सन्तुष्ट नहीं होती। वह अपनी चेतना सरल भाषा में विकसित करती है और साहित्यिक शैली के रूढ़ि होते ही अपनी स्वाभाविक बोली में अपने भावों की अभिव्यक्ति के लिए सीधे मार्ग का अन्वेषण करती है। किन्तु यह पार्थक्य एक साथ ही नहीं हो जाता। उसके लिए तो अनेक युगों की आवश्यकता है। अतः जब साहित्य के वृन्त पर जन-भाषा अपनी पंखुड़ियाँ खोलना प्रारम्भ करती है तो उसके ऊपर पुरातन अनुबंधों का आग्रह तो रहता ही है, जनता के मनोभावों से प्रेरित ऐसे साहित्य में प्राचीन शैली के भीतर नवीन प्रयोगों की कसमसाहट दीख पड़ती है। यह कसमसाहट धीरे-धीरे उभरती हुई अपने पंख खोलती है और अपने लिए साहित्य में मान्यता प्राप्त कर लेती है। अतः अपने विकास में साहित्य ऐसे स्थल पर आता है जहाँ दो भाषाओं या दो शैलियों में संधि होती है और साहित्य के इस काम को सन्धि-काल कहना ही अधिक समीचीन है।

अपभ्रंश जब अपनी साहित्यिक शैली में रूढ़ होने जा रहा था तब उसमें जनता की मनोवृत्ति से नवीन प्रयोग हुए जो सिद्धों और जैन कवियों की रचनाओं में पाये जाते हैं। सिद्धों की भाषा जन-रुचि के नवीन प्रयोगों के रूप में अर्ध मागधी अपभ्रंश से विकसित हुई और जैन कवियों की भाषा नागर अपभ्रंश से। इस प्रकार इन दोनों अपभ्रंशों के कोड में ऐसी भाषा पोषित होने लगी

जो लोकरुचि का आधार पाकर अपने लिए एक आलोकमय भविष्य का निर्माण करने जा रही थी। यद्यपि हिन्दी का विकास मूलतः शौरसेनी अपभ्रंश से हुआ, अर्ध मागधी या नागर अपभ्रंश से नहीं किन्तु शौरसेनी का देशव्यापी महत्व इतना अधिक रहा कि अर्ध मागधी और नागर अपभ्रंश भाषाएँ उसके प्रभाव से अपने को नहीं बचा सकीं। परिणामस्वरूप अर्ध मागधी अपभ्रंश और नागर अपभ्रंश के क्रोड से निकलने वाली जन भाषाएँ अपने आदि रूप में शौरसेनी से निकलने वाली हिन्दी के आदि रूप के अत्यन्त निकट आ जाती हैं। यही कारण है कि अर्ध मागधी और नागर अपभ्रंश से निकलने वाली सिद्ध और जैन कवियों की भाषा हिन्दी के प्रारम्भिक रूप की छाप लिये हुए है। इस प्रकार इसे हिन्दी साहित्य के इतिहास के अन्तर्गत स्थान मिलना चाहिए।

सिद्ध युग

सिद्धों का समय सं० ८१७ से माना जाता है क्योंकि सिद्धों के प्रथम कवि सरहपा का आविर्भाव सं० ८१७ वि० है। ये सिद्ध कौन थे, इस पर भी विचार कर लेना आवश्यक है। सिद्धों की परम्परा बौद्ध धर्म के सिद्धांतों की एक विकृति ही माननी चाहिये। बौद्धधर्म के सिद्धांतों में देश की बदलती हुई परिस्थितियों ने जिन नवीन भावनाओं की सृष्टि की, उन्हीं के परिणामस्वरूप सिद्ध साहित्य की रूप-रेखा तैयार हुई। बुद्ध देव का निर्वाण ई० पूर्व ४८३ में हुआ। वे लगभग ४५ वर्ष तक अपने सिद्धांतों का प्रचार करते रहे। इस प्रकार ई० पू० पाँचवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध से बौद्ध मत का प्रचार हुआ। यह धर्म अपनी पूर्ण शक्ति के साथ देश-विदेश में अपनी विजय की दुन्दुभी बजाता रहा। वैदिक कर्म-कांड की जटिलता और हिंसा की प्रतिक्रिया में सहानुभूति और सदाचार द्वारा आत्मवाद के विनाश से तृष्णा और दुःखरहित निर्वाण की प्राप्ति करना ही बौद्ध धर्म का आदर्श रहा। ईसा की पहली शताब्दी में बौद्ध धर्म महायान और हीनयान दो सम्प्रदायों में विभाजित हुआ। महायान में सिद्धांत परम्परा अधिक नहीं रही उसमें लोक भावना का मेल इतना अधिक हो गया कि निर्वाण के लिए सन्यास और विरक्ति के पर्याय लोक कल्याण और आचार की पवित्रता प्रधान हो गई तथा वह वर्ग भेद से उठकर एक सार्वजनिक धर्म बन गया।

हीनयान में ज्ञानार्जन, पांडित्य और व्रतादि की कठिन मर्यादा बनी रही। बौद्ध धर्म का चिंतन पक्ष हीनयान में रहा और व्यावहारिक पक्ष महायान में। यों तो बौद्ध धर्म को समय-समय पर संघर्षों का सामना करना पड़ा। गुप्त वंश के परम भागवत नरेशों द्वारा भी बौद्ध धर्म की गति में बाधा पड़ी लेकिन उसे सब से बड़ा आघात ईसा की आठवीं शताब्दी में कुमारिल और शंकराचार्य द्वारा वैदिक धर्म की पूर्ण प्रतिष्ठा में सहन करना पड़ा। श्री शंकराचार्य के शैवधर्म से प्रभावित होकर तथा जनता को अपने प्रभाव में लाने के अभिप्राय से बौद्ध सम्प्रदाय ने तन्त्र, मन्त्र और अभिचार आदि का आश्रय ग्रहण किया जिससे चमत्कारपूर्ण शक्तियों का आविर्भाव किया जा सके और जनता के हृदय में अपनी मान्यता सुरक्षित रखी जा सके। परिणामस्वरूप बौद्ध धर्म जो अपनी साधना की सरलता और सदाचार की महानता से, कर्म के परिष्कार में वैदिक धर्म की यज्ञ सम्बन्धी जटिलता से लोहा लेकर सफल हुआ था, पुनः साधना की उलझनों और मन्त्रों की जटिलताओं में आबद्ध होने लगा और योग, समाधि, तन्त्र, मन्त्र और डाकिनी, शाकिनी की सिद्धि में प्रयत्नशील हुआ। यद्यपि बुद्ध-देव के समय में भी गांधारी विद्या या आवर्तनी विद्या मन्त्र कल्प से प्रचलित थी और बुद्धदेव ने उन्हें मिथ्या जीव की संज्ञा दी थी तथापि उनके कुछ शिष्यों में इस विद्या के प्रति आकर्षण अवश्य था। बुद्धदेव के निर्वाण के बाद तो यह आकर्षक अधिकाधिक मात्रा में बढ़ता गया और जब जनता को अपनी ओर आकर्षित करने की भावना प्रमुख हुई तो मन्त्र चमत्कार की सिद्धि और भी बढ़ गई। इस प्रकार महायान की यह सरल साधना मन्त्रयान में परिवर्तित हुई और ४०० से ७०० ईस्वी के लगभग अपने प्रचार में व्यापक रूप से कार्य करने लगी।

मन्त्रों द्वारा सिद्धि प्राप्त करने की उक्ति प्रचारित करने वाले साधक सिद्ध नाम से प्रसिद्ध हुए। शंकराचार्य का शैव मत बौद्धों के विरोध में था। अतः जब उत्तर भारत में शैव धर्म का प्रचार अत्यधिक बढ़ा तो बौद्धों के लिये वहाँ कोई स्थान नहीं रह गया। दक्षिण भारत में उस समय आंध्र शासकों का अनु-राग बौद्ध धर्म पर बना हुआ था। उनकी राजधानी प्रतिष्ठान (पैठन) में

थी। उसके बाद की राजधानी धान्यकटक बनी। इसके समीप ही श्रीपर्वत सिद्धों का महान् केन्द्र हुआ। यहीं मन्त्रयान का प्रसिद्ध ग्रन्थ मंजुश्री मूलकल्प लिखा गया। मंजुश्री मूलकल्प में अनेक तन्त्रों और मन्त्रों का विधान है। इन तन्त्रों और मन्त्रों की सिद्धि के लिये दक्षिण का यह श्रीपर्वत बहुत प्रसिद्ध है। यहीं पर सिद्धों का स्थान माना गया है। श्री नागार्जुन अपनी साधना से मन्त्रयान के प्रसिद्ध आचार्य हुए। यह मन्त्रयान ईसा की सातवीं शताब्दी तक अपनी शक्ति का विकास करता रहा। इसके विकास की चरम अवस्था तो तब आती है जब वह भैरवीचक्र के रूप में सदाचार की अवहेलना करता है। यहीं से मन्त्रयान बज्रयान में परिवर्तित होता है। यह सन् ई० ८०० के लगभग प्रारम्भ होता है। मंजुश्री मूलकल्प में भैरवीचक्र का निर्देश नहीं है। अतः वह मन्त्रयान का ही ग्रन्थ है। बाद में जब मन्त्रयान में मद्य और मैथुन का प्रवेश हुआ तो वही बज्रयान में परिवर्तित होता है। इस प्रकार बज्रयान में मन्त्रयान के मन्त्र और हठयोग के साथ मद्य और मैथुन भी जोड़ दिये गये और महायान अपने ८०० वर्ष के जीवन क्रम में बज्रयान होकर सदाचार से हाथ धो बैठा। यह बज्रयान ई० ८०० से ११७५ तक चलता रहा। बाद में धीरे-धीरे इसका पतन हुआ।

इन सिद्धों के आविर्भाव का युग और उद्गम निम्नलिखित रेखाचित्र से स्पष्ट हो जायगा :—

बौद्धधर्म

हीनयान | महायान

महायान → सहजयान → वज्रयान → भक्तयान → सिद्ध
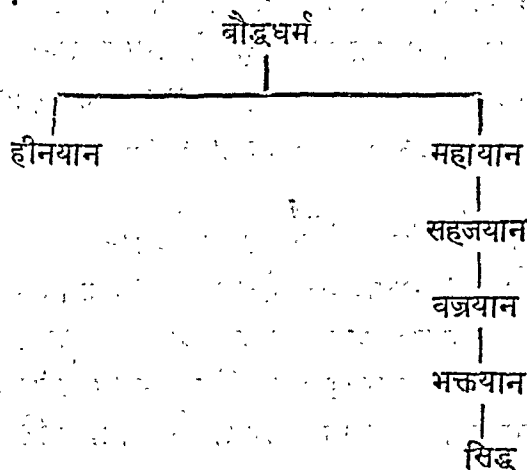
उपर्युक्त चौरासी सिद्धों में अनेक सिद्ध काव्य रचना में समर्थ हुये। जिन सिद्धों ने अपने सिद्धान्तों का प्रतिपादन काव्य द्वारा किया उनमें निम्नलिखित मुख्य हैं :—

१ सरहपा	(सं० ८१७)	सिद्ध ६
२ शबरपा	(सं० ८३७)	सिद्ध ५
३ भुशुकुपा	(सं० ८५७)	सिद्ध ४१
४ लुइपा	(सं० ८८७)	सिद्ध १
५ विरूपा	(सं० ८८७)	सिद्ध ३
६ डीम्भिपा	(सं० ८६७)	सिद्ध ४
७ दारिकपा	(सं० ८६७)	सिद्ध ७७
८ गुंडरीपा	(सं० ८६७)	सिद्ध ५५
६ कुकुरिपा	(सं० ८६७)	सिद्ध ३४
१० कमरिपा	(सं० ८६७)	सिद्ध ४५
११ कह्लपा	(सं० ८६७)	सिद्ध १७
१२ गोरक्षपा	(सं० ६०२)	सिद्ध ६
१३ तिलोपा	(सं० १०७)	सिद्ध २२
१४ शान्तिपा	(सं० १०५७)	सिद्ध १२

यद्यपि बज्रयान की परम्परा लेकर ही इन सिद्ध कवियों ने अपने सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया, तथापि इनके काव्य को देखने से ज्ञात होगा कि इन्होंने तत्कालीन वज्रयानी वातावरण में अद्भुत क्रांति उपस्थित की। इन्होंने जिस स्वाभाविक धर्म और आचार का प्रतिपादन किया वह बज्रयान के सिद्धान्तों से भिन्न था। इन सिद्धों के दृष्टिकोण में एक विशेष बात यह है कि वह ईश्वर-वाद की ओर अग्रसर हो रहा है। निरीश्वरवादी बौद्ध धर्म के क्रोड में पल्लवित होने वाले महायान, मंत्रयान और बज्रयान से सम्बन्ध विच्छेद-सा करते हुये ये सिद्ध धर्म महासुख की ओर अग्रसर हो रहे हैं जिसमें ईश्वरवाद का प्रतिफलन होता है।]

चौरासी सिद्धों का समय सं० ७६७ से १२५८ तक माना गया है, यद्यपि सिद्धों की परम्परा इसके बाद भी अनेक वर्षों तक चलती रही। इस परम्परा को नाथपन्थ का नाम देना उचित है। यह नाथपन्थ मत्स्येन्द्र नाथ और गोरख-नाथ द्वारा चलाया गया था जो बारहवीं शताब्दी के अंत तक अपने चरमोत्कर्ष पर था। इसी ने हमारे साहित्य में संत साहित्य की नींव डाली, जिसके सर्वप्रथम कवि कबीर (जन्म सं० १४५६) थे।

डा० विनयतोष भट्टाचार्य ने सरहपा का समय सं० ६६० माना है किन्तु श्री राहुल सांकृत्यायन के कथनानुसार वे सं० ८१७ में आविर्भूत हुए। सरहपा एक

ब्राह्मण भिक्षु थे। साथ ही वज्रयान के विशेषज्ञ भी थे। बौद्धों की परम्परा में होने के कारण इन्हें राहुल भद्र और वज्रयानी होने के कारण इन्हें सरोजवज्र भी कहते हैं। प्रारम्भ में इनका निवास स्थान नालन्दा था। बाद में वज्रयान के प्रभाव में आकर इन्होंने शर (सर) बनाने वाले की कन्या को जोगिनि बना कर उसके साथ आरण्यवास किया और स्वयं शर (सर) बनाने का कार्य स्वीकार किया। अपने इस कार्य के कारण ही ये सरहपा कहलाये। इनके लिखे हुये ३२ ग्रन्थ कहे जाते हैं जिनमें दोहा कोष विशेष प्रसिद्धि पा सका।

सरहपा ने अपने काव्य में वाह्याडम्बरों की बड़ी निन्दा की है। इनकी भाषा का उदाहरण प्रस्तुत करने के लिए कतिपय पंक्तियाँ यहाँ उद्धृत की जाती है :—

वह्मणहि म जाणन्त हि भेउ। एँवइ पढ़िअउ ए चउवेउ॥
मट्टि पाणि कुस लई पढ़न्त। घरहीं वइसी आगिं हुणन्त॥
कज्जे विरहइ हुअवह होंमें। अक्खि डहाविअ कडुएँ धूयें॥
एक दण्डि त्रिदण्डी भअवाँ वेसें। विणआ होंइअइ हँस-उएसें॥
मिच्छेहाँ जग वाहिअ भुल्लें। धम्माधम्म ण जाणिअ तुल्लें॥

स्पष्ट है कि काफी भाषा अपभ्रंश होते हुए भी हिन्दी के अत्यधिक निकट है। उसकी भाषा में हमें हिन्दी के विकासमान स्वरूप के दर्शन होते हैं।

शवरपा शवरों की वेषभूषा में रहने के कारण इनका नाम शवरपाद पड़ा। ये सरहपाद के शिष्य तथा लुईपाद के गुरु थे। इनकी रचनाओं में रहस्योन्मुख भावनाएँ और महासुख प्राप्ति के विचार अधिक हैं।

शवरपा
(सं० ८३७)

शवरपा की भाषा भी सरहपा से मिलती हुई भाषा है। उस पर अपभ्रंश का स्पष्ट-प्रभाव है फिर भी इनकी भाषा की प्रगति हिन्दी की ओर ही अधिक है। शवरपा ने धर्म और साधना के क्षेत्र में वाह्याचारों की कटु निन्दा की है।

भुसुकुपा क्षत्रिय भिक्षु थे। इनका निवास स्थान नालन्दा में था और ये नालन्दा नरेश राजा देवपाल सं० ८६६-९०६ के समकालीन थे। एक बार राजा देवपाल ने इनकी अस्तव्यस्त वेशभूषा देखकर इन्हें भुसुक कह दिया। उस समय से ये भुसुकुपा कहलाने लगे। ये तन्त्र सम्बन्धी तथा रहस्योन्मुख विचारों से ओतप्रोत रचनाएँ किया करते थे। भुसुकपा के काव्य से निम्नलिखित पंक्तियाँ उद्धृत की जाती है :—

भुसुकुपा (सं० ८५७)

सहज महातरु फरिअइ तिलोए। खसम सहावे वाणते मुक्क कोई।
जिन जले पाणिअ टलिआभेउ नाजाअ। तिम मण रमण समर से गऊण सभाऊ।
यासु णाहि अप्पा तासु परेला काहि। आइ-अन्त अण, जाममरण भव नाहि।
भुसुक भणइ बढ़। राउतु भणइ बड। सजला एह सहाव।
जाइण रे ण तहिं भावाभाव।।

लुईपा अत्यन्त प्रभावशाली सिद्ध थे, इसीलिए सिद्धों में इनका स्थान प्रथम है। ये सिद्ध शबरपा के शिष्य तथा राजा धर्मपाल के लेखक थे। ये अपनी साधना में इतने ऊँचे थे कि उड़ीसा के राजा दारिकपा और उनके मन्त्री डेंगीपा तक उनके शिष्य बन गए थे। इन्होंने रहस्यात्मक विचारों से परिपूर्ण रचनाएँ की हैं। लुईपा की भाषा हिन्दी के बहुत समीप है। देखिए

लुईपा (सं० ८८७)

भावण होइ अभाव ण जाइ। अइस संबोहें को पति आई।।
लुइ भणइ बढ़! दुलख विणाणा। तिधातुए विलइ अह लागे ना।
जाहिर वण्ण-चिन्ह-रूअण जाणी। सो कइसे आगम-वेएँ वखाणी।।
काटे रे किस मणि भईं दिवि पिच्छा। उरक चकंद जिम सांच न भिच्छा।
लुई भणइ मईं भावइँ कीस। जा लेइ अच्छम ताहेर ऊह नदीस।।

विरूपा का समय ८३० ई है। यह कवि मगध प्रदेश का निवासी था। उसके प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं अमृतसिद्धि, दोहा कृषि, कर्म चंडालिका आदि। विरूपा की भाषा का एक उदाहरण यहाँ प्रस्तुत किया जाता है :—

एक से शोडिनी हुई घरै साँधश्र । चीश्र न बाकलश्र वारूणी बाँधश्र ॥
सहजे थिर करि वारुणि साँधन । जें अजरायर होइ दिढ़ काँधश्र ॥
दसभी दुश्रारते चिन्ह देखइश्रा । श्राइल गराहव श्रपने वाहिश्रा ॥
चउशटि घठिये देल पसारा । पइडूल गराहक नाहि निसारा ॥
एक घडुली सरूइ नाल । भणइ विरूप थिर कर चाल ॥

इन कवियों के श्रतिरिक्त श्रन्य सिद्ध कवियों ने भी श्रपने सिद्धांतों का प्रकरण कविता के द्वारा किया जिनमें डोविपा, राखिपा, कुरडरीपा, महीपा टणटेणपा, मादेपा, धामपा, तिलीपा, शांतिपा का नाम विशेष श्रादर के साथ लिया जाता है। इन सभी कवियों की भाषा को यहाँ पंडित राहुल सांकृत्यायन ने पुरानी हिन्दी माना है। इनकी भाषा का श्रनुमान उपर्युक्त उद्धरण से बड़ी सरलता के साथ लगाया जा सकता है। उपर्युक्त कवियों की रचनाश्रों से, ज्ञात हो सकता है कि सिद्ध साहित्य की रूपरेखा क्या थी। संक्षेप में हम यही कह सकते हैं कि इन यशस्वी उदारचेता कवियों ने हमारी भाषा के विकास में बहुत बड़ा योगदान प्रदान किया। इनकी भाषा के ही श्राधार पर हमारी भाषा के विशाल प्रासाद श्राज खड़े हो सके हैं।

सिद्ध साहित्य की इन कवियों में चिन्तन श्रौर श्रभिव्यंजना की मौलिकता उपलब्ध होती है।

सिद्ध साहित्य का सिंहावलोकन

सिद्ध कवियों ने बज्रयान में तंत्र का प्रचार किया। जैसा ऊपर लिखा जा चुका है कि बज्रयान में तंत्र की प्रधानता थी श्रौर श्रपने उत्कर्ष में धर्म का श्राश्रय लेकर उसमें मद्य श्रौर मैथुन का प्रचार भी हो गया वर्ण्य विषय था। इन सिद्ध कवियों ने यद्यपि तंत्र श्रौर हठयोग का श्रनुसरण किसी मात्रा में तो किया किन्तु मद्य श्रौर मैथुन को उन्होंने कभी प्रश्रय नहीं दिया। सदाचार में उन्होंने श्रास्था रखी श्रौर जीवन के स्वाभाविक यापन में उन्होंने श्रपना विश्वास प्रकट किया। जीवन की नैसर्गिक प्रवृत्तियों का श्रनुचित रूप से दमन या प्रश्रय वे धार्मिक जीवन के लिए

हितकर नहीं समझते थे। तिलोपा ने तो संसार के विष को दूर करने के लिए संसार का प्रयोग करना ही उचित समझा है। किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि सदाचार की मर्यादा तोड़ दी जावे। प्राकृतिक नियमों के अनुसार जीवन यापन करना ही सिद्धि का सोपान है। सिद्धि साधना में मंत्र और देवता व्यर्थ ज्ञात होते हैं और संकीर्ण सम्प्रदाय को स्वीकार करना तथा दम्भपूर्ण पंडितों का अंधानुकरण करना असम्भव हो जाता है। ये दोनों ही क्रियात्मक और प्रतिक्रियात्मक भाव महासुख की दिशा में ले जाते हैं जो शून्य तत्व का परम फल है। उसी महासुख को रहस्यवाद का नाम दिया जा सकता है।

भाषा

सिद्धों की भाषा जनसमुदाय की भाषा का आश्रय लेकर अपभ्रंश की उस अवस्था का संकेत करती है जिसमें आधुनिक भाषा के चिन्ह विकसित होने लगे थे। इसलिए ये सिद्ध अधिकतर नालंदा और विक्रमशिला में रहे, उनकी भाषा बिहार की जनता द्वारा बोली जाने वाली अर्धमागधी अपभ्रंश के निकट की भाषा है। अतः उनकी भाषा में जन-बोली मगही का आभास देखा जाता है। इस भाषा को संध्या भाषा का नाम भी दिया गया है।

रस

सिद्ध कवियों की रचना में विशेषकर शृङ्गार और शांत रस हैं। किन्हीं सिद्धों की कविता में वज्रयान के प्रभाव से कहीं-कहीं उत्तान शृङ्गार अवश्य हो गया है।

काव्य के लक्षणों को ध्यान में रखते हुए इन सिद्धों की रचना में चाहे रस का परिपाक न हुआ हो फिर भी उसमें जो अलौकिक आनन्द और आत्मसन्तोष का प्रवाह है इससे उसे अलौकिक रस की संज्ञा दी जा सकती है। यही अलौकिक रस कबीर, मीरां, दादू आदि की रचनाओं में है जिनमें काव्य-लक्षणों की उतनी अधिक व्यवस्था नहीं है जितनी मनोवैज्ञानिक रस संचार की। यह रस अपनी पूर्णता में किसी काव्य लक्षण की अपेक्षा नहीं रखता।

यों तो साहित्य की अधिकांश रचना चर्यागीतों में हुई है, तथापि इसमें दोहा, चौपाई जैसे लोकप्रिय छंद भी प्रयुक्त हुए हैं। यह पहले ही कहा जा

चुका है कि यह साहित्य जनता की बोली में उसी के जीवन परिष्करण के लिये लिखा गया था। अतः जनता के हृदय में पैठ जाने वाले छोटे-छोटे छंदों और गीतों में ही इस साहित्य की रचना हुई। सिद्ध कवियों के लिए दोहा बहुत प्रिय छंद है। यह अधिकतर सिद्धांत प्रतिपादन के लिए प्रयुक्त हुआ है। जहाँ वर्णन विस्तार है, वहाँ चौपाई छंद है। यों कहीं-कहीं सोरठा और छप्पय हैं, किन्तु दोहे का प्राधान्य सर्वत्र है।

छंद

(१) सिद्ध साहित्य का महत्व इस बात में बहुत अधिक है कि उससे हमारे साहित्य के आदि रूप की सामग्री प्रामाणिक ढंग से प्राप्त होती है। साहित्य के इतिहास में सर्वप्रथम माना जाने वाला चारण-कालीन साहित्य तो केवल मात्र तत्कालीन राजनीतिक जीवन की प्रतिच्छाया है। यह सिद्ध साहित्य शताब्दियों से आने वाली धार्मिक और सांस्कृतिक विचारधारा का एक स्पष्ट उल्लेख है।

विशेष

(२) इस साहित्य की भाषा ने भाषा-विज्ञान विशारदों के समक्ष बड़ी मनोरंजक सामग्री प्रस्तुत की है। संध्या भाषा में अपभ्रंश से निकलती हुई जनभाषा की रूपरेखा जितना अधिक ऐतिहासिक महत्व रखती है, उतना अधिक साहित्यिक भी।

(३) सिद्ध साहित्य की रचना में हमें रहस्यवाद का बीज मिलता है।

जैन साहित्य

जैन धर्म के संस्थापना की एक परम्परा है। जैन पुराणों का कथन है कि मनुष्य को संसार का सर्वप्रथम ज्ञान चौदह कुलकरों ने सिखलाया। सबसे प्रथम कुलकर का नाम प्रतिश्रुति था जिन्होंने मनुष्यों को सूर्य और चंद्र का ज्ञान दिया। कुलकरों के पश्चात् श्री ऋषभदेव हुए जो धर्म के प्रथम संस्थापक हुए। उन्होंने जनता को असि, मसि और कृषि का उपदेश दिया। अपनी जेष्ठ पुत्री ब्राह्मी के लिए उन्होंने लेखन कला और लिपि का निर्धारण किया। इसलिए उस लिपि का नाम ब्राह्मी लिपि हुआ। श्री ऋषभदेव जी के पश्चात् होने वाले

अनेक तीर्थंकरों का वर्णन जैन ग्रन्थों में है। नेमिनाथ बाइसवें तीर्थंकर हुए जिन्होंने श्री ऋषभदेव द्वारा संस्थापित धर्म को आगे बढ़ाया। तेइसवें तीर्थंकर श्री पार्श्वनाथ थे। इनके समय का समर्थन इतिहास सम्मत प्रमाणों से होता है। चौबीसवें तीर्थंकर श्री महावीर थे जिन्होंने जैन धर्म को अत्यन्त व्यवस्थित रूप देकर उसका संगठन किया। श्री महावीर के समय से ही जैन धर्म का सर्वमान्य इतिहास हमें प्राप्त होता है।

वेबर, व्हीलर, जैकोबी, हार्नल आदि विदेशी विद्वानों ने तथा डा० हीरालाल जैन, श्री नाथूराम प्रेमी, श्री अगरचन्द नाइटा, श्री जुगल किशोर मुख्तार आदि देशी विद्वानों ने जैन धर्म का अध्ययन कर उसका इतिहास हमारे सम्मुख उपस्थित किया है।

जैन धर्म वस्तुतः बौद्ध धर्म की अपेक्षा हिन्दू धर्म के अधिक समीप है। उसमें परमात्मा की स्थिति तो मानी गई है किन्तु वह सृष्टि का नियामक न हो कर केवल चित्त और आनन्द का अनन्त स्रोत है। वह एक ऐसी आदर्श सत्ता है जो संसार से परे है तथा संसार चक्र से उसका कोई सम्बन्ध नहीं है। वह सम्पूर्ण तथा एक विशुद्ध एवं परम आत्मा है। प्रत्येक जीव अपनी साधना से अपने पौरुष से परमात्मा हो सकता है। उसे उस परमात्मा से मिलने की आवश्यकता नहीं है।

जैन धर्म में अनुमान और कल्पना की अपेक्षा जीवनगत सत्य ही मान्य है। उसमें जीवन के प्रति चरम श्रद्धा का विकास हुआ है। आचार को सुदृढ़ अनुशासन में रख कर सूक्ष्म से सूक्ष्म जीव के प्रति भी दया और करुणा का व्यवहार करना कर्म का आदर्श है। न केवल मनुष्यों, जन्तुओं और वनस्पतियों में जीव है प्रत्युत प्रकृति के तत्वों में जीवन का निवास है। इस परिस्थिति में ऐसी सावधानी से जीवन व्यतीत किया जाय जिससे किसी जीव को हानि या हिंसा न हो। इस अहिंसा ने जैन धर्म में त्याग की भावना का सूत्रपात किया। यह त्याग न केवल इन्द्रियों के अनुशासन में है प्रत्युत कष्ट सहन में भी है। स्वादिष्ट भोजन का परित्याग, सुविधाजनक वस्तुओं का परित्याग; यहाँ तक कि वस्त्रों का परित्याग भी जैन साधुओं का आदर्श हो गया। शरीर को कष्ट-सहन करने की क्षमता

प्रदान करने में शरीर के लोमों का लुंचन और उपवास भी साधना का अंग बन गया।

श्री महावीर इस धर्म के बड़े प्रभावशाली प्रचारक हुये। ईसा की छठी शताब्दी पूर्व जैन धर्म बौद्ध धर्म के समानान्तर लोकमान्य हुआ। श्री महावीर ने अपनी तपस्या और जितेन्द्रियता से जो आत्म-ज्ञान प्राप्त किया उससे उन्होंने जैन धर्म को बड़े व्यावहारिक ढंग से संसार के समक्ष रक्खा। उन्होंने कर्मकाण्ड और वर्ण-भेद हटा कर ब्राह्मण और शूद्र को समान रूप से मुक्ति का अधिकारी बतलाया। उन्होंने परिभ्रमण करके साधारण जनता को उन्हीं की भाषा में उपदेश दिया। श्री महावीर का जन्म कुंडग्राम (वैशाली) में हुआ था। मगध के क्षत्रिय वंशों की परम्पराओं में पोषित होकर इनकी प्रवृत्ति स्वाभाविक रूप से सदाचार की ओर गई। जब इनकी तीस वर्ष की अवस्था में पिता सिद्धार्थ और माता त्रिशला की मृत्यु हो गई तो इन्होंने संन्यास ले लिया और बारह वर्ष तक कठोर तपस्या की। अड़तालीस वर्ष की अवस्था में इन्हें श्रेष्ठ ज्ञान की प्राप्ति हुई और इन्होंने तीस वर्ष तक जैन धर्म का प्रचार किया।

वास्तव में हिन्दी साहित्य की उत्पत्ति और विकास में जैन धर्म का बहुत हाथ रहा है। अपभ्रंश में जैनियों के मूल सिद्धान्तों की रचना हुई। अपभ्रंश का विकास हिन्दी में होने के कारण हिन्दी की प्रथमावस्था में भी इन सिद्धान्तों पर रचनाएँ हुईं। अतएव भाषा-विज्ञान की दृष्टि से ही नहीं, वरन् हिन्दी के प्रारम्भिक रूप का सूत्रपात करने में भी जैन साहित्य का महत्व है।

हिन्दी के जैन कवियों में सब से पहला नाम स्वयंभू देव का आता है। ये अपभ्रंश भाषा के महाकवि थे। किन्तु इन्होंने अपने ग्रन्थ पउम-चरिउ 'पद्म-चरित्र जैन रामायण' में ऐसी अपभ्रंश भाषा का प्रयोग किया है जिसमें प्राचीन हिन्दी का रूप इंगित है। इनका समय विक्रम की आठवीं शताब्दी ज्ञात होता है। इसका कारण यह है कि इन्होंने अपने ग्रन्थ पउमचरिउ और रिट्ठिनेमि चरिउ में अपने पूर्ववर्ती कवियों और उनकी रचनाओं का उल्लेख किया है। इन कवियों में एक

स्वयंभूदेव

रविषेणाचार्य हैं। रविषेण के 'पद्मचरित' का लेखन काल विक्रम सं० ७३४ है। अतः स्वयंभू देव का समय सं० ७३४ के बाद है।

स्वयंभू देव बहुत अच्छे कवि थे। उन्होंने जीवन की विविध दशाओं का बड़ा हृदयाकर्षक वर्णन किया है। पउमचरिउ में वे विलाप और युद्ध लिखने में विशेष पटु हैं। उन्होंने नारी विलाप, बन्धु विलाप, दशरथ विलाप, राम विलाप, भरत विलाप, रावण विलाप विभीषण विलाप आदि बड़े सुन्दर ढंग से लिखे हैं। युद्ध में वे योद्धाओं की उमंगें, रण-यात्रा, मेघवाहन, हनुमान युद्ध, कुम्भकर्ण युद्ध, लक्ष्मण जुद्ध बड़े वीरत्वपूर्ण ढंग से स्पष्ट करते है।

स्वयंभू के 'आत्मनिवेदन' प्रसंग से यहाँ कतिपय पक्तियाँ उद्धृत की जाती हैं। इनसे कवि की भाषा के विषय में हमें ज्ञान हो जाता है।

बुह यण सयंभु पइँ विण्णवइ। महु सरिसउ अण्ण णाहि कुकइ ॥
वायरण कयाइ ण जाणियउ। णउ वित्ति-सुत्त वक्खाणियउ ॥
णा णिसुणिउ पंच महाय कव्बु। णउ भरहुण लक्खणु छंद सव्बु ॥
णउ बुज्झिउ पिंगल-पच्छारु। णउ भामह-दंडिय लकांरु ॥
वेवेसाय तो वि णउ परिहरमि। वरि रपडा वुत्तु कव्बु करमि ॥
सामाणभास छुड भा विहडउ। छुडु आगम जुत्ति किंपि घडउ ॥
छुडु होंति सुहासिअ वयणाइँ। गामेल्ल-भास परिहरणाइँ ॥

डा० हीरालाल जैन ने बरार प्रदेश के कारजा नामक स्थान के दो बड़े प्राचीन शास्त्र भांडारों को देखकर अनेक ग्रन्थों की खोज की है, जिनमें अपभ्रंश भाषा से निकली हुई प्राचीन हिन्दी के रूप जैन आचार्यों आचार्य देवसेन के ग्रन्थों में मिलते हैं। इन ग्रन्थों के अतिरिक्त भी मुनिजिन-विजय और श्री नाथूराम प्रेमी के परिश्रम से अनेक जैनाचार्यों और उनके ग्रन्थों का परिचय प्राप्त हुआ है। इनमें प्रमुख आचार्य श्री देवसेन सूरि हैं। ये श्री विमलसेन गणधर के शिष्य थे। श्री देवसेन का आविर्भावकाल विक्रम की दसवीं शताब्दी है। कवि ने अपने ग्रन्थ दर्शनसार में उसकी रचना-तिथि विक्रम संवत् ६६७ लिखी है। अतः यह स्पष्ट है कि देवसेन विक्रम की

दसवीं शताब्दी उत्तरार्ध में हुए। आचार्य देवसेन के 'सदाचार-उपदेश' से यहाँ कतिपय पंक्तियाँ उद्धृत की जाती हैं:—

दुज्जणु सुहियउ होउजागे, सुयणु पयासिउ जेण।
अमिउ विसे वासस तमिण, जिम मरगउ कच्चेण॥
यहु आसायउ थोडउवि, णासइ पुण्णु वहुत्तु।
वइसाणारहँ तिडिक्कडँइ, काणणु डहइ महन्तु॥

'धर्माचरण महिमा' से कतिपय पठनीय पंक्तियाँ यहाँ उद्धृत की जाती हैं:—

धम्मे सुहु पावेण डुहु, एक प्रसिद्धउ लोइ।
तम्हा धम्मु समायरहि, जेहिय इछिय होइ॥
काइँ वहुत्तइँ जँपियइँ, जँ अप्पह पडिकूल।
काइँ कि परहु ण तं करहि, एहजि धम्महु मूल॥

माइल्ल धवल

श्री माइल्ल धवल श्री देवसेन आचार्य के शिष्य थे। इन्होंने अपने गुरु की रचना नयचक्र को अपने ग्रन्थ दव्य सहाव पयास में अन्तर्गर्भित कर उसे गाहा रूप दिया। इनका समय भी दसवीं शताब्दी का उत्तरार्ध है। ये १८०० श्लोकों से रचित हरिवंश पुराण के कर्त्ता भी हैं। इन्होंने जैन धर्म के चरित नायकों का वर्णन किया है।

महाकवि पुष्पदन्त

महाकवि पुष्पदंत जैन साहित्य के अत्यन्त प्रसिद्ध महाकवि थे। इन्होंने अपने ग्रन्थ णाय कुमार चरिउ (नाग कुमार चरित) के अन्त में अपने माता-पिता का संकेत करते हुए सम्प्रदाय का भी उल्लेख किया है। उसके अनुसार इनके पिता प्रथम शिव भक्त थे। किन्तु बाद में किसी जिन सन्यासी के उपदेश से जैन धर्म में दीक्षित हो गये थे। पिता के सम्प्रदाय परिवर्तन के साथ ये भी जैन हो गए। पिता का नाम केशव भट्ट था और माता का नाम मुग्धा देवी।

महाकवि पुष्पदन्त एक महान् पंडित और प्रतिभाशाली कवि थे। इनका काव्य पक्ष अत्यन्त विस्तृत और उत्कृष्ट था। अलंकारों का प्रयोग इनकी निरीक्षण और अध्ययन शक्ति का परिचायक है।

श्री धनपाल अपभ्रंश भाषा के बहुत प्राचीन कवि हैं। उनकी भाषा जनता की भाषा के बहुत समीप है। आचार्य हेमचन्द्र ने अपने अपभ्रंश का जो रूप दिया है, उससे भी पहले की भाषा में महाकवि धनपाल की रचना है। इस प्रकार इनका आविर्भाव काल विक्रम की दसवीं शताब्दी माना गया है। इनका केवल एक ही ग्रन्थ प्रसिद्ध है। यह है भविसयत कहा (भविष्यदत्त कथा)। ये दिगम्बर सम्प्रदाय के थे तथा धक्कड़ वैश्य थे। आत्मपरिचय शीर्षक से यहाँ कुछ पंक्तिया उद्धृत की जाती हैं। इनमें कवि की भाषा का स्वरूप स्पष्ट हो जाता है :—

धनपाल

वसियि घरासभि हल्लुसभि तल्लुत्तांलि। विरइउ एउ चारिउ धणवालिँ।
त्रिहि खंडहिं बावीसहिं सन्धिहि। परिचिंतिय निय हेउनिबंधिहिँ।
घत्ता। धक्कड वाणी वसि माएसर हो समुभविण।
धणसिरि देवि सुएण, विरइउ सरसइ संभविण॥

मुनि रामसिंह जैन रहस्यवाद के बहुत बड़े कवि हुए। इनकी विचार-धारा बहुत कुछ सिद्ध कवियों की विचार-धारा से साम्य रखती है। इनका पाहुड़ दोहा नामक ग्रन्थ प्रसिद्ध है। पाहुड़ दोहा में देवसेन कृत सावयवम्म दोहा के उद्धरण हैं। अतः इनका समय देवसेन के समय (सं० ६६०) के बाद ही होगा। पुनः पाहुड़ दोहा के छन्द आचार्य हेमचन्द्र द्वारा उद्धृत हैं। हेमचन्द्र का समय सं० ११५७ है अतः मुनि रामसिंह का आविर्भाव सं० ६६० से ११५७ के बीच हुआ होगा। डा० हीरालाल मुनि रामसिंह का आविर्भाव काल सं० १०५७ के लगभग मानते हैं।

मुनि रामसिंह

मुनि रामसिंह जैन साहित्य में सर्वश्रेष्ठ रहस्यवादी कवि कहे जा सकते हैं। इनकी विचार-धारा प्रायः वही है जो प्रायः सिद्धों के काव्य में पाई जाती है। सरहपा, गुन्डरीपा, वीणापा, डोम्बिपा के चर्यापदों के दृष्टिकोण के समानान्तर ही मुनि रामसिंह ने पाहुड़ दोहा की रचना की। इनका दृष्टिकोण यही है कि इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करना सबसे बड़ा सुख है। तीर्थों में स्नान करने से आत्मा शुद्ध नहीं होती है। आत्मा की शुद्धि तो राग, द्वेष आदि प्रवृत्तियों को

रोकने से ही होती है। इन्द्रिय सुख न तो स्थायी है और न कल्याणकारी। वह हृदय को अनन्त दोषों से भर देता है। ऊपरी वेश भी अहंकार को उत्पन्न करता है। साधना का सब से सरल उपाय आत्मानुभव है। इसीलिए मुंडन, केशलुंचन और वस्त्र-परित्याग से कोई संसार से विरक्त नहीं हो सकता। संसार परित्याग करने का सरल मार्ग तो प्रत्याहार द्वारा संसार के विषयों से मन को खींच लेना है। ईश्वर न तो मूर्ति में है और न मन्दिर में। ईश्वर तो हृदय के भीतर निवास करने वाला है इसलिए आत्मदर्शन की बड़ी आवश्यकता है।

श्री अभयदेव सूरि

श्री अभयदेव सूरि श्वेताम्बर सम्प्रदाय के आचार्य थे। व्याख्या और टीका करने की अपूर्व पटुता के कारण इन्हें नवांग वृत्तिकार भी कहा गया है। इनका जन्म सं० १०७२ वि० में हुआ था और संवत् १०८८ में इन्हें आचार्य पद प्राप्त हुआ था। लगभग ८६ वर्ष की अवस्था में ही आप जैन साधु हो गए थे।

जैन साहित्य का सिंहावलोकन

वर्ण्य विषय—जैन साहित्य की रचना का क्षेत्र जीवन के सभी विभागों में फैला हुआ है। जहाँ भावों के दृष्टिकोण से उसमें चरम व्यापकता है, वहाँ शैली के दृष्टिकोण से भी वह अत्यन्त विस्तृत है। भाव पक्ष के चार विभाग किये जा सकते हैं :

१. प्रथमानुयोग (तीर्थंकरों की जीवनियाँ)
२. करणानुयोग (विश्व-वर्णन)
३. करणानुयोग (श्रावकों का चित्रण)
४. द्रव्यानुयोग (सांसारिक वर्णन)

इस प्रकार यह स्पष्ट देखा जा सकता है कि लौकिक पक्ष और अलौकिक पक्ष दोनों ही में जैन आचार्यों और कवियों ने अपनी अमित साधना और अन्तर्दृष्टि का परिचय दिया है। जैन साहित्य के पुराणों और काव्यों की कथा-

वस्तु प्रमुख रूप से त्रैसठ शलाका पुरुषों के चरित्रों (त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित) से सम्बन्ध रखती है।

इसी प्रकार महाभारत की कथा जैन कवियों द्वारा विविधता से लिखी गई है। पुन्नार संघ के आचार्य जिनसेन ने 'हरिवंश पुराण' में 'महाभारत' की कथा-वर्णन किया है। सकल कीर्ति, देव प्रभसूर, शुभचन्द्र आदि इस इतिवृत्त के लिखने में विशेष रूप से सफल हुए हैं।

जैन साहित्य में प्रेम-कथाएँ अनेक रूपों में लिखी गईं। वे प्रेम कथाएँ पूर्ण भौतिक उत्कर्ष में हैं, किन्तु इन भौतिक उत्कर्षों में नश्वरता की भावना लेकर अलौकिक पक्ष या आध्यात्मिक पक्ष की ओर संकेत किया गया है।

अपभ्रंश से निकलती हुई हिन्दी के प्राचीन रूप हमें इस समय की भाषा में मिलते हैं। इस पर विशेषकर नागर अपभ्रंश का अधिक प्रभाव है और उसी के व्याकरण के अनुसार शब्द योजना है। यह भाषा अधिकतर पद्य रूप में ही है, गद्य रूप में कम। वादीयसिंह का 'गद्य चिन्तामणि' तथा धनपाल की 'तिलक मंजरी' गद्यकाव्य के अच्छे उदाहरण हैं। आगे चल कर जैन आचार्यों ने गद्य में यथेष्ट रचना अवश्य की है। इस समय यदि हमें कहीं गद्य के दर्शन होते हैं तो वे केवल टिप्पणियों के रूप ही में। जैन साहित्य में उनका नाम टब्बा है।

भाषा

जैन साहित्य सम्पूर्ण रूप से शान्त रस में लिखा गया है। यद्यपि शृंगार रस का भी अनेक कथानकों में पूर्ण परिपाक हुआ है। प्रेम-काव्यों में तो इस रस को उभारने का पूर्ण अवसर मिला है।

रस

जैन साहित्य में अनेक प्रकार के छन्दों का प्रयोग किया गया है। चरित्र रास, चतुष्पदी, चौढालिया, ढाल, सिज्झाय, कवित्त, छन्द, दोहा आदि। किन्तु इस काल की कविता में दोहे की ही प्रधानता है। इस प्रकार की रचना 'प्रबन्ध चिन्तामणि' में दोहाविद्या के नाम से कही गई है। रड्डा का प्रयोग भी यथेष्ट किया गया है।

छन्द

१. जैन साहित्य द्वारा इतिहास की विशेष रक्षा हुई है। पौराणिक चरित्र

के अतिरिक्त ऐतिहासिक व्यक्तियों के चरित्र भी लिखे गये हैं। हेमचन्द्र का कुमारपाल चरित, सोमप्रभु सूरि का कुमारपाल प्रतिबोध, धर्म सूरी का जम्पू स्वामी रासा, विजयसेन सूरी का रेवंतगिरि रासा, अंबदेव का संघपति समरा रासा, मेरुतुंग का प्रबन्ध चिन्तामणि, विजयभद्र का गौतम रासा, ईश्वर सूरि का ललितांग चरित्र आदि इतिहास की प्रधान घटनाओं और व्यक्तियों के सम्बन्ध में यथेष्ट प्रकाश डालते हैं।

विशेष

२. जैन साहित्य में अनुवादित ग्रन्थों की अधिकता है। स्वतंत्र ग्रन्थ कम हैं। पूर्ववर्ती कवियों के ग्रन्थों अथवा छन्दों के उद्धरण ही साहित्य का कलेवर बढ़ाने में सहायक हुए हैं। कारण यह है कि हिन्दी जैन साहित्य अधिकतर गृहस्थ या श्रावकों द्वारा लिखा गया है। गृहस्थ या श्रावकों को भय था कि वे स्वतंत्र ग्रन्थ रचना करते समय कहीं धर्म विरुद्ध कोई अनुचित बात न कह दें। अतएव उन्होंने अपने पूर्ववर्ती आचार्यों के सिद्धांतों का ही अनुसरण किया और उन्हीं के ग्रन्थों को अनुवादित किया।

३. जैन साहित्य में कोई बड़ा लक्षण कवि नहीं हुआ। इसका कारण यह था कि प्रत्येक आचार्य का आदर्श धर्म की व्याख्या करना प्रमुख था, काव्य का शृंगार करना गौण। इसीलिए काव्य लक्षणों पर बहुत कम कवियों का ध्यान गया। केवल सिद्धान्तों के प्रतिपादन में अच्छी कविता नहीं हो सकती। प्रसिद्ध जैन कवि बनारसीदास (जन्म सं० १६४३) ने शृंगार रस की रचनाओं का एक संग्रह किया था। पर जैन होने के कारण उन्हें बाद में इस विषय से इतनी घृणा हो गई कि उन्होंने उसे यमुना में बहा दिया, जिससे उसका अस्तित्व ही न रहे।

संधि-काल का उत्तरार्ध

विविध साहित्य

१. नाथ सम्प्रदाय

संधिकाल के उत्तरार्ध के सिद्धों के वज्रयान की सहज साधना नाथ संप्रदाय के रूप में पल्लवित हुई। जीवन के जिस रूप को सिद्धों ने कर्मकाण्डों के जाल से मुक्त कर सहज रूप दिया था उसे सम्प्रदाय के रूप में आगे बढ़ाने का श्रेय नाथों को ही दिया जाना चाहिये। इस प्रकार नाथ सम्प्रदाय को सिद्ध सम्प्रदाय का विकसित और शक्तिशाली रूप ही समझना चाहिये। सिद्धों की विचार-धारा और उनके रूपकों को लेकर ही नाथ वर्ग ने उनमें नवीन विचारों की प्रतिष्ठा की और उनकी व्यञ्जना में अनेक तत्वों का सम्मिश्रण किया। इसी शैली का अनुसरण करते हुये उन्होंने निरीश्वरवादी शून्य को ईश्वरवादी शून्य बना दिया।

नाथ सम्प्रदाय पर कौल पंथ के कुछ प्रभाव हैं। कौल पंथ में अष्टांग योग की जो भावना है वह साधना रूप से नाथ सम्प्रदाय में अवश्य चली आई है किन्तु अभिचारों में प्रवृत्ति का तीव्रतम विरोध नाथ सम्प्रदाय ने किया है। इसका प्रमुख कारण यही है कि अभिचारों और क्रिया पक्ष में प्रवृत्ति होने पर जीवन के सहज रूप में विकृति की सम्भावना होने लगती है और तब ऐसे पंथ का अनुसरण करना हिंस्र व्याघ्र की गर्दन का आलिंगन करने, विषैले सर्प से क्रीड़ा करने अथवा नंगे कृपाण की तीक्ष्ण धार पर चलने के समान भयानक हो जाता है। अष्टांग योग की साधना वज्रयान की साधना में भी रही।

कुछ तो अष्टांग योग और रसायन कष्टसाध्य क्रियाओं के कारण नाथ सम्प्रदाय लोक धर्म रूप में प्रचलित नहीं हो सका और कुछ नाथ सन्तों के साधना सम्बन्धी नियन्त्रणों के कारण साधारण जनता उसकी दीक्षा प्राप्त करने में असमर्थ रही। इस प्रकार यद्यपि नाथ सम्प्रदाय एक सार्वजनिक धर्म नहीं बन सका

तथापि उसने जीवन के सदाचार की ओर अत्यन्त वेग से गमन किया और कर्मकाण्डों की रूढ़ियों के प्रति दुर्निवार प्रहार किया।

नाथ सम्प्रदाय की शिष्य परम्परा का रेखाचित्र निम्नलिखित हैं :—
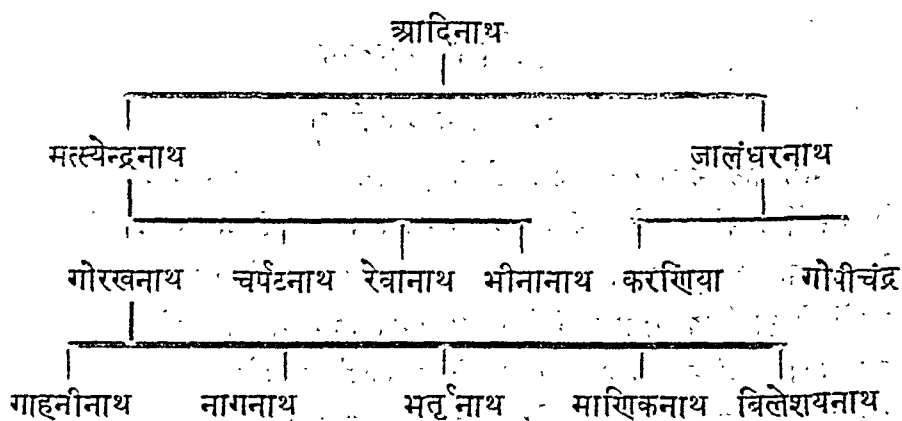
नाथ सम्प्रदाय में शिष्यों और अनुयायियों की संख्या के विषय में हमें कोई प्रामाणिक सूचना नहीं प्राप्त है। वेस्टन ब्रिग्स महोदय के अनुसार १८९१ में इनकी संख्या २१४५४६ थी। आगरा और अवध प्रांत में इसी वर्ष औघड़ों की संख्या ५३१६, गोरखनाथी २८८१६ और योगियों की संख्या २८३८७ थी। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के शब्दों में "इनमें औघड़ों को लेकर समस्त गोरखनाथ क्षेत्रों का अनुपात ४५% उसी रिपोर्ट के अनुसार योगियों में पुरुष और स्त्रियों का अनुपात ४२ और ३५ का था। ये संख्यायें विशेष रूप से मनोरंजक हैं क्योंकि साधारणतः यह विश्वास किया जाता है कि ये योगी लोग ब्रह्मचारी हुआ करते थे। वस्तुतः इनमें गृहस्थ और घरबारी लोग बहुत हैं। यह समझना भूल है कि केवल हिन्दुओं में ही योगी हैं। उस साल की पंजाब की रीपोर्ट से पता चलता है ३८१३७ योगी मुसलमान थे। सन् १९२१ की मनुष्य गणना से इनकी संख्या इस प्रकार है:—

जोगी हिन्दू	६२९९७८	पुरुष-स्त्री ३२५/३०५
जोगी मुसलमान	३११५८	,, ,, १६/१५
फकीर हिन्दू	१४११३२	,, ,, ८०/६१

गोरखनाथ या गोरक्षपा—इस नाथ सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक श्री गोरखनाथ कहे जाते हैं। इनके आविर्भाव के सम्बन्ध में अभी तक बहुत सी भ्रान्तियाँ फैली हुई हैं।

भारतीय दन्तकथाओं में श्री गोरखनाथ सर्वव्यापक और सर्वशक्तिमान माने गए हैं। ये मत्स्येन्द्रनाथ के प्रतिद्वन्द्वी थे और गोरखा (सं० गोरक्ष) राज्य के संरक्षक सन्त थे। मत्स्येन्द्रनाथ से रक्षित नैपाल राज्य को ये अनेक वर्षों के अथक परिश्रम के बाद अपने संरक्षण में ला सके। इसके बाद इन्होंने मत्स्येन्द्रनाथ का शिष्यत्व ग्रहण किया। तिब्बती जनश्रुति के अनुसार गोरखनाथ एक बौद्ध बाजीगर थे और उनके सारे कनफटे शिष्य भी आदि में बौद्ध थे। किन्तु बारहवीं शताब्दी के अन्त में सेन वंश के नाश होने पर ये शैवमत में हो गये।

नैपाल की एक दूसरी जनश्रुति के अनुसार गोरखनाथ ने बारह वर्षों तक वर्षा नहीं होने दी, वह भी एक साधारण कौशल के द्वारा। इन्होंने पानी के सभी उद्‌गमों की खोज की और उन्हें मन्त्र द्वारा एक ही सूत्र में बाँध लिया। इसके बाद ये उन सभी उद्‌गम सूत्रों पर बैठ गए। बारह वर्षों तक पानी किसी प्रकार भी नहीं बरस सका। चारों ओर हाहाकार मच गया। पानी किस प्रकार बन्धन से मुक्त किया गया, इस पर बौद्ध और ब्राह्मण जनश्रुतियाँ सहमत नहीं किन्तु यह घटना प्राचीन किम्वदन्तियों में महत्त्वपूर्ण है।

राजस्थान की जनश्रुतियाँ गोरखनाथ के अनेक नाम बतलाती हैं, जिनमें मुख्य गुग्ग या गूग है। ये जहरपीर भी कहे जाते हैं, क्योंकि इन्होंने अपने शिशुपन में ही एक सर्प खा लिया था। ये बागर या उत्तरी राजस्थान के शासक भी कहे गये हैं, इसलिये इनका नाम बागर वीर भी कहा जाता है।

गोरखनाथ की अभी तक कोई सम्बद्ध विवरण नहीं मिलता। यह सन्ताप की बात अवश्य है कि जिस गोरखनाथ का भारत के धार्मिक इतिहास में इतना बड़ा महत्व है, उसके विषय में प्रामाणिक अन्वेषण अभी तक संतोषजनक रूप से नहीं हुआ।

श्री गोरखनाथ के सम्बन्ध में अभी पूर्ण प्रामाणिक खोज नहीं हो पाई। जो सामग्री अभी तक उपलब्ध हुई है उसकी पूर्ण विवेचना करने के उपरांत सिद्धों

की परम्परा और ज्ञानेश्वरी के प्रमाण की सार्थकता मानते हुये मैं गोरखनाथ का समय तेरहवीं शताब्दी का मध्य भाग ही स्थिर कर सका हूँ।

गोरखनाथ धर्म की जिस शाखा विशेष के प्रवर्तक माने जाते हैं वह शाखा दार्शनिकता की दृष्टि से तो शैवमत के अन्तर्गत है और व्यावहारिकता की दृष्टि से पतंजलि के हठयोग से सम्बन्ध रखती है। गोरखनाथ का मत धर्म साहित्य में नाथ पन्थ के नाम से विख्यात है। उसकी महत्ता सिद्धों के वज्रयान की विकसित अवस्था मानी जा सकती है। इस नाथ सम्प्रदाय ने चौदहवीं शताब्दी तक साहित्य और धर्म का शासन किया। इसमें अनुभूति और हठयोग का प्रधान स्थान है और इन्हीं विशेषताओं ने कबीर के निर्गुण पंथ का बहुत कुछ साधनरूप निर्धारित किया।

नाथ पन्थ में ईश्वर की भावना शून्यवाद में है, जो सम्भवतः वज्रयान से ली गई है। इसी शून्य को कबीर ने आगे चल कर सहस्र दलकमल का शून्य माना है, जहाँ अनहदवाद की सृष्टि होती है और ईश्वर की ज्योति के दर्शन होते हैं।

गोरखनाथ धर्म साहित्य के एक बड़े संत कवि हैं। उनकी ग्रन्थ-रचना संस्कृत में ही अधिक कही जाती है। उनकी बहुत सी संस्कृत पुस्तकें आज भी उपलब्ध हैं, पर उनकी प्रामाणिकता के विषय में संदेह है। उनकी लिखी संस्कृत पुस्तकों में प्रधान निम्नलिखित हैं :—

गोरक्ष शतक, चतुर्शीत्यासन, ज्ञानामृत, योगचिन्तामणि, योग सिद्धांत पद्धति, विवेक मार्तण्ड और सिद्धसिद्धान्त पद्धति।

डा० पीताम्बरदत्त बडथ्वाल ने गोरखवानी (जोगेसुरी बानी, भाग १) में श्री गोरखनाथ की रचनाओं का संग्रह प्रकाशित किया है। इस गोरखवानी में निम्नलिखित रचनाएँ संग्रहीत हैं :

सबदी, पद (राग सामग्री), सिष्या दरसन, प्राण सङ्कली, नरवै बोध, आत्म बोध, अभै मात्रा जोग, पन्द्रह तिथि, सप्तवार, मछीन्द्र गोरखबोध, ग्यान तिलक और पंच मात्रा।

मिश्र बन्धुओं ने उनके दस ग्रन्थ प्रामाणिक समझे हैं : गोरखबोध, दत्त गोरख सम्वाद, गोरखनाथ जी के पद, गोरखनाथ जी के स्फुट ग्रन्थ, ज्ञान सिद्धांत योग, ज्ञान तिलक, योगेश्वरी साखी, नरवै बोध, विराट पुराण और गोरखसार।

गोरखनाथ ने अपने नाथ पन्थ के प्रचार के लिये जनसमुदाय की भाषा का आश्रय ग्रहण किया। गौतम बुद्ध ने भी अपने मत का प्रचार संस्कृत को छोड़-कर जन समुदाय की भाषा पाली में किया था। सर्व साधारण को अपने सिद्धांत समझाने के लिये गोरखनाथ भी जनभाषा में कुछ लिखने के लिये बाध्य हुये। पर उनके ग्रन्थ पूर्ण प्रामाणिकता के साथ अभी निश्चित नहीं हो सके हैं। गोरखनाथ की भाषा हिन्दी के अत्यधिक निकट है। प्रमाण के लिये निम्नलिखित पंक्तियाँ पर्याप्त होंगी :—

घरबारी सो घर की जाणै। बाहरि जाता भीतरि आणै।
सरब निरंतरि काटै माया। सो घरबारी कहिये निरंजन की काया।
गिरही सो जो गिर है काया। अभि अंतरि की त्यागै माया।
सहज सील का धरै शरीर। सो गिरही गंगा का नीर॥
अमरा निरमल पाप न पुनि। सत रज तक बिबरजित सुनि॥
सोहं हंसा सुमीरै सबर। तिंहि परमारथ अनन्त सिध॥

(२) हिन्दू ध्यावै देहुरा मुसलमान मसीत।
जोगी ध्यावै परमपद जहाँ देहुरा न समसीत॥
हिन्दू भाषे राम कौ मुसलमान खुदाइ।
जोगी भाषे अलख कौ, तहा राम ऊदै न षुदाइ।
जोगी सो जे मन जोगवै विन विलाइत राज भोगवै।
कनक कामनी त्यागै दोइ, सो जोगेस्वर निरभै होई॥

इन उद्धरणों से स्पष्ट है कि १५ वीं शताब्दी में हिन्दी किस प्रकार अपने वास्तविक रूप में प्रकट होती थी। गोरखनाथ की काव्य भाषा में विभिन्न प्रांतों के शब्दों का प्रयोग मिलता है। गुजराती, मरहठी, राजस्थानी के अनेक शब्द उदाहरणार्थ प्रस्तुत किए जा सकते हैं। इनकी भाषा में संस्कृत के तत्सम शब्दों

का प्रयोग अधिक मिलता है। कवि की भाषा में 'न' के स्थान पर 'ण' का प्रयोग बराबर मिलता है। यह अपभ्रंश का प्रभाव है।

गोरखनाथ की विचारधारा पर बौद्धों और सिद्धों का प्रभाव स्पष्टतया परिलक्षित होता है।

नाथ सम्प्रदाय प्रधान रूप से निवृत्तिमार्गी ज्ञान योग के अंतर्गत है। नाथ का अर्थ इस सम्प्रदाय में मुक्तिदान करने वाला माना गया है। मुक्ति दान वही कर सकता है जो स्वयं मुक्त हो। अतः नाथ सम्प्रदाय में संसार के बंधनों से मुक्त होने की विधि विशेष रूप से मान्य है। संसार के शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध विषयों से स्वतंत्रता तभी मिल सकती है, जब वैराग्य की भावना मन में स्थिर हो जावे। यह वैराग्य गुरु की सहायता से ही हो सकता है। अतः नाथ सम्प्रदाय अपने क्रिया पक्ष में गुरु मन्त्र या गुरु दीक्षा से प्रारम्भ होता है। गुरु भी शिष्य की दृढ़ता और योग्यता देख कर उसे दीक्षा देता है।

वैराग्य की भावना जब हृदय में दृढ़ता से स्थिर हो जाती है तब वह अपनी अभिव्यंजना में तीन मार्ग ग्रहण करती है। पहला मार्ग इंद्रिय निग्रह का है, दूसरा प्राण साधना का और तीसरा मन साधना का है। पहला मार्ग सब से प्रमुख है। नाथ सम्प्रदाय में इंद्रिय-निग्रह पर बड़ा आकर्षण नारी है। इस इंद्रिय निग्रह पर श्री गोरखनाथ ने सम्भवतः इसीलिए इतना जोर दिया कि उन्होंने बौद्ध विहारों में भिक्षुणियों के प्रवेश का परिणाम बौद्ध धर्म के अधः-पतन में देखा हो, अथवा कौल पद्धति या वज्रयान में उन्होंने भैरवी और योगिनी रूप नारियों की ऐंद्रिक उपासना में धर्म को विकृत होता हुआ देखा हो। उन्होंने कौल पद्धति में मद्य और मानवी की प्रवृत्ति की भयानकता का अनुभव किया हो।

शिव ही नाथ सम्प्रदाय के आराध्य देव हैं। उन्होंने ही सर्वप्रथम योग की शिक्षा पार्वती (शक्ति) को दी। मत्स्येन्द्र ने उस शिक्षा को मछली का रूप धारण कर चोरी से सुना। इस प्रकार योग की शिक्षा पा कर मत्स्येन्द्रनाथ ने अपने शिष्य गोरखनाथ को उसी का ज्ञान दिया। गोरखनाथ अपनी साधना और अनुभूति में अपने गुरु की महत्ता से भी आगे बढ़े। गुप्त रूप से योग

योग की शिक्षा सुनने के कारण जब मत्स्येन्द्रनाथ मोह में फँस जाने के लिए अभिशप्त हुए तो गोरखनाथ ने ही उनका उद्धार किया था। गोरखनाथ ने योगमार्ग का जो प्रचार किया उसमें शिव और शक्ति को आदि तत्त्व माना गया है।

मत्स्येन्द्रनाथ को मीनानाथ और मछेन्द्रनाथ भी कहा गया है। वे गोरखनाथ के गुरु थे। ये चौथे बोधिसत्व अवलोकितेश्वर के नाम से प्रसिद्ध हैं। ये नेपाल के आराध्यदेव रूप से गोरखनाथ के पूर्व मान्य रहे।

मत्स्येन्द्रनाथ

इन्होंने योग की शिक्षा आदिनाथ (शिव) से प्राप्त की। सागर के तट पर शिव जी योग-विद्या का रहस्य पार्वती को समझा रहे थे। पार्वती को नींद आ गई; किन्तु मत्स्येन्द्रनाथ मछली रूप से उस योग विद्या के रहस्य को सुनते रहे। उनके इसी कार्य से उनका नामकरण हुआ।

मत्स्येन्द्रनाथ की कविता पर राजस्थानी का अधिक प्रभाव है। मत्स्येन्द्रनाथ द्वारा रचित संस्कृत की किसी कौलीय पुस्तक का पता अवश्य लगा है, किंतु वह अभी तक प्रकाश में नहीं आई।

गाहिणीनाथ

गाहिणीनाथ गोरखनाथ के शिष्य थे। इन्होंने ज्ञानेश्वर महाराज के पितामह श्री गोविन्दपंत को ब्रह्मोपदेश दिया था। ये ज्ञानेश्वर के पिता विट्ठल के भी गुरु कहे जाते हैं। इन्हें गेनीनाथ या गाहिनीनाथ भी कहा गया है। इनका समय तेरहवीं शताब्दी का मध्य भाग है।

चर्पटनाथ

मनुखेट पत्तन में चर्पटनाथ का जन्म हुआ। ये जाति के ब्राह्मण थे। इनका पूर्वनाम श्री चरकानंदनाथ था। ये कहीं गोरखनाथ के और कहीं बालानाथ के शिष्य कहे गए हैं।

ज्वालेन्द्रनाथ

ज्वालेन्द्रनाथ गोपीचन्द्र के गुरु थे। गोपीचन्द्र की माता मैनावती भी ज्वालेन्द्रनाथ से प्रभावित थी। मैनावती आध्यात्मिक दृष्टि से अपने पुत्र गोपीचंद्र को चाहती थी। गोपीचन्द्र ने इसका सांसारिक दृष्टि से दूसरा ही अर्थ लगाया। मैनावती के मनोभावों में ज्वालेन्द्रनाथ का हाथ देखकर गोपीचन्द्र ने ज्वालेन्द्रनाथ को कुएँ में डाल दिया, किन्तु वे मरे नहीं। अपने योगबल से वे कुएँ में समाधि लगाकर बैठ गये।

गोरखनाथ ने कुएँ पर आकर ज्वालेन्द्रनाथ से निकलने की प्रार्थना की। ज्वालेन्द्रनाथ मौन रहे। तब गोरखनाथ ने गोपीचन्द्र की प्रतिमा कुएँ पर रख कर उनसे बाहर आने का आग्रह किया। गोरखनाथ जानते थे कि यदि स्वयं गोपीचन्द्र को कुएँ पर खड़ा किया जायगा तो गोपीचन्द्र भस्म हो जायेंगे। हुआ भी यही। श्री ज्वालेन्द्रनाथ के योगबल से गोपीचन्द्र की प्रतिमा जल कर भस्म हो गई। दुबारा प्रतिमा रखने पर भी ऐसा ही हुआ। अन्त में गोपीनाथ को अत्यंत विनय और प्रार्थना से खड़े करते हुये गोरखनाथ ने ज्वालेन्द्रनाथ से कुएँ से बाहर निकलने का अनुरोध किया। ज्वालेन्द्रनाथ प्रसन्न हुये और वे गोपीचंद्र को अमरत्व का आशीर्वाद देते हुये कुएँ से बाहर निकले।

भर्तृनाथ

भर्तृनाथ का दूसरा नाम भर्तृहरि या भरथरी भी प्रसिद्ध है। ये जालंधरपा के शिष्य थे। इन्होंने अपने गुरु से प्रार्थना की कि मुझे धर्म का कोई विशिष्ट चिन्ह दीजिये। जालंधरपा ने उनके कानों के मध्य में छेद कर उसमें कुंडल डाल दिया।

गोपीचन्द्रनाथ

गोपीचन्द्र का विवरण ज्वालेन्द्रनाथ के प्रसंग में आ ही गया है। गोपीचन्द्र ने जब राज़्य छोड़ा तो उनकी रानियों, पुत्रियां और माता ने उन्हें रोकने का बहुत प्रयत्न किया, क़िन्तु उन्होंने स्नेह-बन्धन तोड़ कर योग-साधना में ही जीवन की सार्थकता समझी। भर्तृहरि और गोपीचन्द्र के नाम से जनता में अनेक लोक-गीत प्रचलित हैं। इन लोक-गीतों में संसार की नश्वरता और वैभव-विलास की निस्सारता बड़े भावनामय शब्दों में कही गई है। साथ ही योग के सिद्धांतों को अत्यन्त व्यावहारिक रूप से समझाने का प्रयत्न किया गया है। भर्तृहरि और गोपीचन्द्र के गीतों ने शताब्दियों तक जिस धार्मिक जीवन में आस्था रखने का संदेश दिया है, वह बड़े-बड़े तत्ववादियों द्वारा नहीं दिया जा सका।

इन लोक-गीतों ने नाथ सम्प्रदाय के प्रभाव को जनता के हृदय में दूर तक पहुँचा दिया और योग की कठिन साधनाएँ भी जीवन के लिये अत्यन्त हितकर रूप में उपस्थित हो सकीं।

नाथ साहित्य का सिंहावलोकन

नाथ साहित्य का वर्ण्य विषय दार्शनिक विचार-धारा और आध्यात्मिक साधना के विविध उपाय और शैलियाँ हैं। इन कवियों ने सम्प्रदाय के चिन्तन पक्ष और आचार पक्ष पर सविस्तार विचार प्रकट किया है। इन्होंने धर्म और समाज कर वाह्याडम्बरों एवं वाह्याचारों की कटु निन्दा की। शून्य और ब्रह्मरन्ध्र साधना का उपदेश भी इन्होंने बार-बार दिया है। हठयोग की प्रक्रियाओं का सविस्तार वर्णन नाथ साहित्य में हुआ है। नाथ साहित्य कौल सम्प्रदाय की विचार धारा से प्रभावित है।

वर्ण्य विषय

नाथ साहित्य की भाषा हिन्दी है, यद्यपि वह अपभ्रंश से यत्र-तत्र प्रभावित है। नाथ साहित्य की रचना तेरहवीं और चौदहवीं शताब्दी में हुई थी परन्तु फिर भी उसकी भाषा बहुत परिष्कृत और सुष्ठु प्रतीत होती है।

भाषा

इस साहित्य के अन्तर्गत प्रयुक्त रसों में प्रधान है शांत। शांत रस के अतिरिक्त अद्‌भुत, शृंगार, वीभत्स रसों का प्रयोग भी यत्र-तत्र हुआ है।

रस

छन्द :—दोहा और 'साखी' इस साहित्य के प्रिय छन्द रहे हैं।

२. शृङ्गारी और मनोरंजक साहित्य

सिद्ध और जैन कवियों ने यद्यपि धार्मिक जीवन की व्यवस्था की और पूर्ण बल से जनता का ध्यान आकर्षित किया था तथापि उन्होंने अपने लक्ष्य की ओर चलते हुए संसार की पूर्ण उपेक्षा नहीं की थी। उन्होंने आध्यात्मिक जीवन के निर्माण में लौकिक जीवन के विकारों की ओर संकेत अवश्य किया था, और यह संकेत अपने समस्त पार्थिव आकर्षणों के साथ था। किसी भी रोग का निदान उस समय तक नहीं हो सकता जब तक कि उसके लक्षणों की पूर्ण व्याख्या न कर दी जावे। इसी प्रकार संसार की माया का तिरस्कार उस

समय तक नहीं हो सकता जब तक कि माया के समस्त आकर्षणों और प्रलोभनों की व्याख्या करते हुए उनके पास से मुक्त होने का उपाय न बतला दिया जावे। ऐसे प्रसंगों में सिद्ध और जैन कवियों ने क्रमशः रूपकों और कथानकों का आश्रय लेकर माया के आकर्षणों की ऐंद्रिकता का परिपूर्ण चित्रण किया है। माया के आकर्षणों में नारी प्रमुख है। अतः नारी का रूप वर्णन, उसकी वेशभूषा, उसके संयोग की अवस्थाएँ, उसके हास-विलास में ऋतु वर्णन आदि विषयों पर सन्धि-काल के सिद्ध और जैन कवियों ने यथेष्ट लिखा है। यह बात अवश्य है कि उन्होंने इन समस्त आकर्षणों की नश्वरता दिखलाकर उनके सौन्दर्य और वैभव को नींव में डाल कर अपने आध्यात्मिक जीवन का प्रासाद खड़ा किया है। उन्होंने प्रेय को साधना में रख कर श्रेय की सिद्धि की ओर संकेत किया है। दूसरे शब्दों में उन्होने प्रवृत्ति का परिष्कार कर निवृत्ति का पथ प्रशस्त किया।

इन कवियों के अतिरिक्त कुछ ऐसे कवियों का भी वर्ग था जिन्होंने संसार के सौन्दर्य वर्णन में एकमात्र लौकिक दृष्टिकोण ही लिया है। उन्होंने संसार के वस्तुवाद का यथातथ्य चित्रण करते हुए जीवन की उपयोगिता और उसकी नैतिक दृष्टि की ओर ध्यान दिया। उन्होंने संयोग और वियोग के बड़े हृदया-कर्षक चित्र खींचे। ऐसे चित्रों में प्रकृति वर्णन और उसके अनुरूप संयोग या वियोग की बड़ी सुन्दर मनोवैज्ञानिक झाँकियाँ हैं। कभी-कभी केवल मनोरंजनार्थ कौतूहलजनक शब्द-चमत्कार भी प्रस्तुत किये गए हैं। ऐसे कवियों में तीन प्रमुख हैं : अब्दुर्रहमान, बब्बर और अमीर खुसरो।

अब्दुर्रहमान

अब्दुर्रहमान जुलाहा वंश में उत्पन्न एक यशस्वी मुसलमान कवि थे। इनका आविर्भाव काल संवत् १०६७ है। ये मुल्तान निवासी थे। इनकी कविता पर भारतीय आदर्शों का बड़ा प्रभाव है। यद्यपि ये मुसलमान थे तथापि इनकी कविता में हिन्दू संस्कारों की आत्मा निवास कर रही है। इनका संनेह रासय (संदेश रासक) ग्रन्थ प्रसिद्ध है। इसमें एक वियोगिनी का संदेश विविध ऋतुओं के उद्दीपन से बड़े स्वाभाविक क्रिया-कलापों में वर्णित है। अब्दुर्रहमान की कविता

में प्रौढ़ता तथा सजीवता है। इनकी शैली विशेष मँजी हुई है। कविता को देखने से ज्ञात होता है कि इन्होंने अनेक ग्रन्थों की रचना की होगी जो अब प्राप्त नहीं हैं। अब्दुर्रहमान के काव्य की भाषा के दो-एक उदाहरण यहाँ उद्धृत करना रोचक प्रतीत होगा। यह उद्धरण 'प्रोषित पतिका का संदेश' शीर्षक से लिया गया है।

धम्मिलउ मुक्कमुह, विज्जभंइ अरु अगु मोडई।
विरहानलि संतविअ, ससइ दीह कर-साह तोडई॥
इम मुद्धर विलवंति यह महि चलणेहि छिहन्तु।
अद्धुड्डीणउ तिणि पहिउ वहि जोयउ पवहन्तु॥

बब्बर

बब्बर का आविर्भाव काल सं० ११०७ माना गया है। ये राजा कर्ण कलचुरी के दरबारी कवि थे। इनका निवासस्थान त्रिपुरी (आधुनिक जबलपुर, मध्यप्रदेश) था। इनकी रचना-शैली भी प्रौढ़ है। इनका कोई विशिष्ट ग्रन्थ देखने में नहीं आता, स्फुट रचनाएँ ही प्राप्त होती हैं। बब्बर की रचना से कतिपय पंक्तियाँ यहाँ उद्धृत की जाती हैं। ये पक्तियाँ गरीबी का जीवन शीर्षक में संग्रहीत है :—

सिअ विट्ठी विज्जइ जीआ लिज्जई वाला बुडढ़ा कंपंता।
वह पच्छा वायुह लग्गे का अह, सव्वा दीसा झंपंता॥
जइ जड्डारूसइ, चित्ताहासइ पेटे अग्गी थप्पीआ।
कर पाआ संभरि, विज्जे भित्तरि, अप्पा अप्पी लुक्कीआ॥

अमीर खुसरो

संधिकाल की संध्या में अमीर खुसरो ने साहित्य को विविध रंगों से रंजित किया। जब कि लौकिक साहित्य के आदर्श निश्चित नहीं थे और रचनाएँ धर्म या राजनीति के संकेतों पर नाचती थीं, उस समय विनोद और मनोरंजन की प्रवृत्तियों को जन्म देना साधारण काम नहीं था। यही अमीर खुसरो की विशेषता थी। साहित्य की तत्कालीन परिस्थिति अपभ्रंश मिश्रित काव्य की रचनाओं तक ही सीमित थी। पूर्व में उससे भी गंभीर धर्म की भावना गोरखनाथ के शिष्यों द्वारा

प्रचारित हो रही थी, उस समय अमीर खुसरो ने साहित्य के लिए एक नवीन मार्ग का अन्वेषण किया और वह था जीवन को संग्राम और आत्म-शासन की सुदृढ़ और कठोर शृंखला से मुक्त कर आनन्द और विनोद के स्वच्छन्द वायुमण्डल में विहार करने की स्वतन्त्रता देना। यही अमीर खुसरो की मौलिकता थी।

खुसरो ने हिन्दी साहित्य का बड़ा उपकार किया। जहाँ इन्होंने फारसी में अनेक मसनवियाँ लिखीं, वहाँ हिन्दी को भी नहीं भुलाया। इन्होंने खड़ी बोली हिन्दी में कविता कर मुसलमानी शासकों का ध्यान हिन्दी की ओर आकर्षित किया और खालिकबारी की रचना कर हिन्दी, फारसी और अरबी को परस्पर समझने का मौका दिया। उसमें हिन्दी, अरबी और फारसी के समानार्थवाची शब्दों का समूह है, जिससे इन तीनों भाषाओं का ज्ञान सरल और मनोरंजक हो गया है।

अभी तक साहित्य किसी नरेश के यशोगान में अथवा जीवन के महत्त्वपूर्ण गंभीर स्वरूप के वर्णन ही में अपनी सार्थकता समझता था, पर खुसरो ने साहित्य में ऐसे भावों की सृष्टि की जिनसे साहित्य का दृष्टिकोण ही बदल गया। साहित्य जीवन की मनोरंजक वस्तु हो गया। ऐसा हिन्दी साहित्य में पहली बार हुआ है। अमीर खुसरो अपनी शताब्दी का सबसे श्रेष्ठ कवि है। वह अनेक भाषाओ का विद्वान् था। उसकी हिन्दी हमें आश्चर्य चकित कर देती है कि मुसलमान होते हुए भी उसने कितनी सुन्दर भाषा लिखी थी। खुसरो की भाषा व्रज भाषा है परन्तु उसमें खड़ी बोली का विकासमान रूप हमारी दृष्टिगत होता है कवि की भाषा परिमार्जित है। उदाहरणार्थ :—

१ – सोभा सदा बढ़ावन हारा, आँखिन ते छिन होत न न्यारा।
आये फिर मेरे मनरंजन, ऐ सखि साजन ना सखि अंजन॥

२—स्याम बरन पीताम्बर काँधे मुरली धर नहि होइ।
बिन मुरली वह नाद करत है, बिरला बूझै कोइ॥

३ – उज्जल बरन अधीनतन एक चित्त दो ध्यान।
देखत में तो साधु है, निपट प.प. को खान॥

४—एक कहानी मैं कहू तू सुनले मेरे पूत।
बिना परो वह उड़ गया बाँध गले में सूत॥

५—बात की बात ठठोली की ठठोली।
मरद की गाँठ औरत ने खोली॥

इन उद्धरणों से कवि की प्रतिभा और भाषाज्ञान का आभास मिल जाता है।

३. प्रेमकथा साहित्य

खुसरो का नाम जब समस्त उत्तरी भारत में एक महान् कवि के रूप में फैल रहा था, उसी समय मुल्ला दाऊद का नाम भी हिन्दी साहित्य के इतिहास में आता है। मुल्ला दाऊद की एक प्रेम कहानी प्रसिद्ध है, उसका नाम है चंदाबन या चंदावत। यह ग्रन्थ अभी तक अप्राप्य है और इसके सम्बन्ध में कुछ भी प्रमाणित रूप से ज्ञात नहीं है। इतना तो अवश्य कहा जा सकता है कि यह कथा मुसलमान लेखक के द्वारा लिखी जाने के कारण मसनवी के आधार पर लिखी गई होगी। अमीर खुसरो ने स्वयं कई मसनवियाँ लिखी हैं और वे उस समय के साहित्य में महत्वपूर्ण स्थान रखती हैं। बहुत सम्भव है, मुल्ला दाऊद ने भी उन्हीं मसनवियों की शैली में अपनी प्रेमकथा लिखी हो। इस प्रेमकथा का महत्व इसलिये और भी अधिक है कि इसी प्रेम—परम्परा को लेकर प्रेम साहित्य के कवि कुतुबन, मन्झन, जायसी आदि ने अपनी प्रेमकथाएँ लिखीं। यह नहीं कहा जा सकता कि इस प्रेम कहानी में कोई आध्यात्मिक व्यंजना है या नहीं, अथवा सूफी सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया है या नहीं, जैसा कि परवर्ती प्रेमकाव्य के कवियों ने किया है। यह भी नहीं कहा जा सकता कि चंदाबन की भाषा का क्या स्वरूप है। यदि इस प्रेमकथा की कोई प्रमाणिक प्रति मिल सकी तो वह प्रेमकाव्य की परम्परा पर यथेष्ट प्रकाश डालने में सहायक हो सकेगी।

मुल्ला दाऊद

मुल्ला दाऊद अलाउद्दीन खिलजी का समकालीन था। अलाउद्दीन खिलजी

सन् १२९६ में राजसिंहासन पर बैठा। उसकी मृत्यु २ जनवरी सन् १३१६ में हुई। अतः अलाउद्दीन खिलजी का राजत्वकाल सन् १२९६ से सन् १३१६ (सं० १३५३ से सं० १३७३ तक) मानना चाहिये। इसके अनुसार मुल्ला दाऊद का कविता काल संवत् १३७५ के आस-पास ही है। श्री मिश्रबन्धु मुल्ला दाऊद का कविता काल सं० १३८५ मानते हैं और डाक्टर पीताम्बरदत्त बडथ्वाल सं० १४९७ (सन् १४४०)। श्री मिश्रबन्धु द्वारा दिया हुआ सम्वत् तो किसी प्रकार माना भी जा सकता है, पर डा० बडथ्वाल द्वारा दिया हुआ संवत् तो अलाउद्दीन के बहुत बाद का है। वे मुल्ला दाऊद का आविर्भाव काल सन् १४४० मानते हुए उसे अलाउद्दीन खिलजी का समकालीन मानते हैं। अलाउद्दीन खिलजी की मृत्यु तो सन् १३१६ में ही हो गई थी। फिर यदि मुल्ला दाऊद सन् १४४० में हुआ तो वह अलाउद्दीन खिलजी का समकालीन कैसे हो सकता है ? अतः डा० बडथ्वाल का दिया हुआ मुल्ला दाऊद का समय अशुद्ध है।

अस्तु संधि-काल के उत्तरकाल में डिंगल साहित्य के अस्पष्ट प्रवाह के साथ पाँच महान् कवि हुए। गोरखनाथ, अब्दुर्रहमान, बब्बर, अमीर खुसरो और मुल्ला दाऊद। इन सभों ने भिन्न-भिन्न प्रकार की रचनाएँ कीं। गोरखनाथ ने हठयोग साहित्य सम्बन्धी, अब्दुर्रहमान और बब्बर ने शृङ्गार सम्बन्धी, अमीर खुसरो ने मनोरंजक साहित्य सम्बन्धी और मुल्ला दाऊद ने प्रेमकथा साहित्य सम्बन्धी। इस प्रकार संधिकाल के उत्तर युग की प्रवृत्तियाँ परस्पर किसी प्रकार साम्य नहीं रखतीं। इतना अवश्य ही मान लिया जा सकता है कि प्रेम-कथा साहित्य सम्बन्धी रचनाओं का सूत्रपात शृंगार साहित्य सम्बन्धी मनोवृत्ति से हुआ। प्रेमकथा साहित्य में जो लौकिक दृष्टिकोण वर्तमान है, वही शृंगार सम्बन्धी साहित्य में भी है। दोनों का उद्भव एक ही मनोविज्ञान से होता है, अन्तर केवल इतना ही है, कि शृंगार सम्बन्धी साहित्य मुक्तक या अधिक से अधिक वर्णनात्मक है और प्रेमकथा साहित्य घटनात्मक और इतिवृत्तात्मक है। इन समस्त साहित्यिक प्रयोगों में सब से बड़ी बात यह है कि प्रत्येक शैली का अपना व्यक्तित्व या वर्ग है और इससे संधिकालीन साहित्य इन्द्रधनुष की

भाँति विविध रंगों की रेखाओं में समानान्तर होते हुए भी अलग-अलग हैं। उसकी विविधता में ही सौन्दर्य है।

संधि-काल के साहित्य का सिंहावलोकन

संधि-काल हमारे साहित्य के इतिहास में ऐसा पुण्य पर्व समझा जाना चाहिये जिसमें शताब्दियों की धार्मिक, दार्शनिक और सांस्कृतिक परम्पराएँ हमारी भाषा में अवतरित हुईं और उनके द्वारा जन-मत के विकास का पूर्ण इतिहास हमें प्राप्त हुआ। संसारव्यापी धर्मों का अपने समस्त चिन्तन और अनुशीलन पक्ष से जन-भाषा में रूपान्तरित होना हमारे साहित्य के लिये गौरव का विषय है। यह बात दूसरी है कि हमारी भाषा इतनी समृद्धिशालिनी न रही हो जिसमें इतने उदात्त विचारों की अभिव्यक्ति सफलतापूर्वक हो सके। उस समय भाषा विकास के पथ पर अग्रसर हो रही थी। उसमें नवीन जीवन के चिन्ह दृष्टिगोचर हो रहे थे। वह अपने पुराने पल्लवों को छोड़ कर नूतन किशलयों से सुसज्जित होती हुई वसंत-श्री की शोभा धारण करने जा रही थी। यद्यपि उस समय की हमारी जन-भाषा संस्कृत या पाली की उत्कृष्टतम साहित्यिक गरिमाओं से सम्पन्न नहीं थी तथापि यही क्या कम है कि वह अपने निर्माणपथ पर शैशव की विकासोन्मुखी अनन्त शक्तियों से समन्वित थी। फिर एक बात और है। संधि-कालीन साहित्य से हमें अपनी भाषा की शोभा-श्री की वैभवमयी गाथा भले ही प्राप्त न हो, हमें भाषा विज्ञान की दृष्टि से अपनी भाषा के इतिहास की क्रमबद्ध रूप-रेखा तो प्राप्त होती है। इस प्रकार संधि-कालीन साहित्य हमारे साहित्य का प्रारम्भिक इतिहास होते हुये भी सांस्कृतिक दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

वर्ण्य विषय

इस साहित्य का वर्ण्य विषय प्रमुखतः धार्मिक और दार्शनिक हैं। इसके अतिरिक्त राजनीति के आश्रय से उसमें लौकिक विषयों पर भी रचनाएँ हुईं; शृङ्गार का उदय हुआ और जीवन के आमोद प्रमोद के साथ मनोरञ्जन का सूत्रपात भी हुआ। इस भाँति संधि-युग के साहित्य का स्पष्टीकरण निम्नलिखित रेखाचित्र से ज्ञात हो सकता है:—
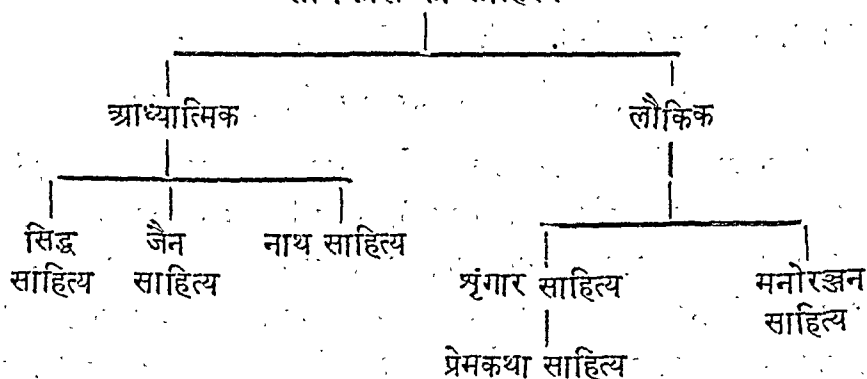
इस काल का साहित्य प्रमुखतः धार्मिक और दार्शनिक था। यह साहित्य प्रतिक्रियात्मक रूप से धार्मिक रूढ़ियों के विद्रोह में खड़ा हुआ। सिद्ध साहित्य वज्रयान के क्रोड में पोषित होकर भी उससे अनुशासित नहीं हुआ; वह सहज-यान का मार्ग लेकर स्वतंत्र-सा हो गया। जैन साहित्य अत्यन्त प्राचीन होते हुए भी बौद्ध धर्म के समानान्तर चलकर श्रावकाचार के रूप में नैतिक माप-दंडों के निर्माण में शक्ति-सम्पन्न हुआ। नाथ साहित्य शैव धर्म से स्फूर्ति पाकर सिद्ध साहित्य के संशोधन में और भी कृतकार्य हुआ। इस प्रकार इन सभी धर्मों में एक ऐसा वेग था जो अपने चारों ओर के वातावरण को परिष्कृत करने में पूर्ण सक्षम था। इन सभी धार्मिक आन्दोलनों में एक बात समान रूप से वर्तमान रही और वह यह कि इनमें अन्धविश्वासों और रूढ़ियों के लिए कोई स्थान नहीं था। जीवन की स्वाभाविक प्रवृत्तियों का अधिक से अधिक उपयोग करने तथा उन्हें स्वाभाविक क्षेत्रों में ले जाने का आदर्श सभी में मौजूद था। इस भावना के होते हुए भी इन तीनों के जीवनगत दृष्टिकोण में अन्तर था। "सिद्ध संप्रदाय प्रवृति मार्ग था, जैन संप्रदाय प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों से पूर्ण था और नाथ सम्प्रदाय सम्पूर्णतः निवृत्ति मार्गी था, किन्तु जीवन के लौकिक पक्ष से साधना में बल प्राप्त करने की अंतर्दृष्टि तीनों में ही वर्तमान थी।"

इस प्रकार यह देखा जा सकता है कि संधि-काल में आध्यात्मिक और

लौकिक जीवन दोनों पर ही रचनाएँ की गईं और दोनों ही अपने क्षेत्रों में चरम स्थिति को पहुँची हुई हैं।

संधि-काल की भाषा अपभ्रंश से निकलती हुई आधुनिक भाषाओं के शैशव की स्थिति में है। इस प्रकार की भाषा में तीन बातें स्पष्टतः देखी जा सकती हैं।

भाषा

१—नवजात भाषा होने के कारण उसमें प्रयोगों की अनेक रूपता है।

२—उसमें साहित्य के संस्कार नहीं देखे जाते। जब उसमें साहित्य की परिपाटियों का सूत्रपात ही होता है तो वह भावाभिव्यंजन की साधारण शैली ही लिए होती है।

३—उसमें पदावलीगत लालित्य कम रहता है।

४—प्राचीन भाषा की शैलियों का ही उसमें अनुकरण होता है।

इस समय की रचनाओं में शान्त और शृङ्गार ये दो रस प्रमुख हैं। गौण रूप से हास्यरस भी अमीर खुसरो की पहेलियों या मुकरियों द्वारा ध्यान आकर्षित करता है। धर्म की साधना में शान्त रस का उद्रेक पूर्ण सफलता के साथ हुआ है। लौकिक जीवन से सम्बन्ध रखने वाले रूपकों में या प्रेमकथा की इतिवृत्तात्मकता में शृङ्गार रस भी यथेष्ट मात्रा में वर्तमान है। अमीर खुसरो की कुछ रचनाओं में शृङ्गार ही शृङ्गार है और मुल्ला दाऊद ने तो अपनी प्रेमकहानी ही शृङ्गार का आधार लेकर लिखी थी। इसके बाद कौतूहल और विनोद में हास्य रस की सृष्टि हुई है। यदि प्रयास करके देखा जाय तो अद्भुत रस के दर्शन भी हो सकते हैं, किन्तु यह रस केवल दो स्थानों पर वर्तमान है। पहला स्थान तो ईश्वरीय विभूति की आश्चर्यजनक सीमाओं के चित्रण में है और दूसरा स्थान गोरखनाथ की उलटबाँसियों में। किन्तु ऐसे स्थल अपेक्षाकृत कम ही हैं। महत्व के दृष्टिकोण से रसों का निम्नलिखित क्रम दीख पड़ता है :—

रस

शान्त, शृङ्गार, हास्य और अद्भुत।

रसों की विविधता होते हुए भी यह समझ लेना चाहिए कि कविगण रस की अपेक्षा भावाभिव्यंजना को प्रमुखता देते थे।

रस की विवेचना में यह स्पष्ट हो चुका है कि कवियों ने शैली की अपेक्षा भावाभिव्यंजना पर अधिक ध्यान दिया है। इस प्रकार उन्होंने विविध छन्दों के लिखने की मनोवृत्ति का परिचय नहीं दिया। सिद्ध कवियों की रचना अधिकतर दो शैलियों में मिलती है। पहली तो गीत शैली है जिसमें उन्होंने चर्यागीतों की रचना की है। दूसरी शैली दोहा की है। सिद्ध कवियों ने अनेक दोहा कोष लिखे हैं। दोहा लिखने की शैली को जैन कवियों ने बहुत अपनाया। उन्होंने तो आचार संबंधी ग्रन्थ लिखने में दोहा छंद को ही प्रधानता दी। कुछ स्थलों पर उन्होंने चौपाई छन्द भी लिखा है। यद्यपि चौपाई छंद का प्रयोग कुछ सिद्ध कवियों द्वारा भी हुआ है तथापि जैन कवियों ने दोहा छंद के साथ चौपाई का मेल बड़ी सुन्दर रीति से किया है। स्वयंभूदेव ने अपने पउम चरिउ (जैन रामायण) में तो दोहा चौपाई का प्रयोग ही अधिकतर किया है। सम्भव है, रामकाव्य के महाकवि तुलसीदास ने स्वयंभूदेव का पउम चरिउ देखा हो और उसी शैली के अनुकरण में दोहा चौपाई शैली में अपना रामचरितमानस लिखा हो। अमीर खुसरो ने अधिकतर बहरों का अनुकरण किया है। जहाँ उन्होंने हिन्दी के छंद रक्खे हैं वहाँ चौपाई छंद प्रधान है। चौपाई के अतिरिक्त कहीं कहीं सार, ताटंक और दोहा छंद भी हैं, किन्तु सब छंदों में चौपाई ही खुसरो को विशेष प्रिय रही। उनकी सारी मुकरियाँ तो इसी छंद में हैं।

छन्द

संधि-काल में गद्यशैली के आविर्भाव की चर्चा भी है। कुछ इतिहास लेखकों के अनुसार गोरखनाथ ने नाथपंथ के प्रचार के लिए जनसमुदाय के गद्य का आश्रय ग्रहण किया। उनके गद्य के कुछ अवतरण भी प्रायः उद्धृत किये जाते हैं, किन्तु जब तक किसी प्रामाणिक प्रति से उनके गद्य के अवतरणों का समर्थन नहीं हो जाता तब तक इस सम्बन्ध में प्रामाणिक रूप से स्थिर करना उचित प्रतीत नहीं होता।

दूसरा प्रकरण

चारणकाल

सातवीं सदी के उत्तरार्द्ध से हिन्दू राज्य की केन्द्रीभूत सत्ता का विनाश होना प्रारम्भ हुआ। विभाजन शक्तियों का इतना अधिक प्राबल्य हुआ कि साधारण घटनाओं ने ही राज्यों के उत्थान और पतन का बीज बोना प्रारम्भ किया। उत्तर-पश्चिम से आने वाले मुसलमानों ने इस अवसर से पूरा लाभ उठाया और बारहवीं शताब्दी में उत्तर भारत का अधिकांश भाग मुसलमानों के अधिकार में आ गया। यह काल भारत के प्राचीन इतिहास की वृद्धावस्था का ही है जिसमें शक्ति का अभाव है, विवशता का अवलम्ब है। इस काल का इतिहास अनेक छोटे-छोटे राज्यों के उत्थान और पतन की कहानी मात्र है, किसी एक महान् राज्य अथवा राजनीतिक केन्द्र का इतिवृत्त नहीं। ये छोटे-छोटे राज्य शिशुओं की भाँति छोटी-छोटी बात पर झगड़ना भी खूब जानते थे। आठवीं सदी में काश्मीर और कन्नौज में यथेष्ट संघर्ष हुआ, यद्यपि काश्मीर नरेश ललितादित्य ने कन्नौज को काश्मीर में नहीं मिलाया, शायद यह सम्भव भी न था। कन्नौज का संघर्ष मगध से भी हुआ फिर गुर्जर-राज्य से भी, और कन्नौज गुर्जर राज्य में मिला लिया गया। किन्तु कन्नौज की प्रधानता बनी ही रही। देवपाल और विजयपाल के समय में कन्नौज की अवनति होनी प्रारम्भ हो गई। जयपाल (सम्वत् १०७६) के समय में तो चन्देल और कछवाहों ने उसे और भी नष्ट-भ्रष्ट कर दिया। अन्त में राठौर जयचंद (सम्वत् १०६७) के समय में उसकी दशा ठीक हुई। जयचन्द ने कन्नौज को समृद्धिशाली बनाने में यथेष्ट परिश्रम किया और उसे वैभव से पूर्ण किया। कन्नौज का मुसलमानों

के द्वारा पतन होना स्वतंत्र हिन्दू राज्यों के अस्तित्व की अन्तिम स्थिति थी। वास्तव में मुसलमानों के अन्तिम आक्रमणों के पहले कन्नौज सुसंगठित और शक्तिशाली राज्य हो गया था। गुजरात भी एक शक्तिशाली राज्य था। समुद्र के किनारे होने के कारण उसकी व्यापारिक स्थिति बहुत दृढ़ थी और उसमें धन और वैभव की राशि बिखरी हुई थी। उसके चार महान् शासक हुए। उन्हीं के कारण गुजरात पूर्ण रूप से सुसंगठित और शक्तिशाली हो गया था। प्रथम शासक मूलराज था, जिसने शक्ति और साहस के साथ शासन किया। उसी ने तलवार की नोंक से अपने राज्य की सीमा खींची। जीवन भर वह युद्ध में लगा रहा और रणभूमि की विजयश्री से उसने अपने राज्य के वैभव की वृद्धि की। अन्त में अपने वृद्ध शरीर को उसने रणभूमि को ही समर्पित कर दिया। दूसरा महान् शासक भीम था, जिसने सम्वत् १०७९ से ११२० तक राज्य किया। इसी के समय में सोमनाथ के मन्दिर की पवित्रता, धन के साथ महमूद के हाथों ने लूट ली और पँवार उसकी राजधानी तक बढ़ आए, पर उसने अपनी मृत्यु के समय अपने राज्य की सीमा का विस्तार किसी भाँति भी कम नहीं होने दिया। तीसरे शासक सिद्धराज ने सं० ११५० से १२०० तक राज्य किया और उसने १२ वर्षों तक पँवारों के साथ युद्ध कर उन्हें पराजित किया। कुमारपाल (सं० १२००-१२२९) ने तो मालवा की विजय का श्रेय स्वयं ही प्राप्त किया। इस प्रकार गुजरात एक बहुत शक्तिशाली राज्य हो गया था, जो मुसलमानों के आक्रमणों का प्रतिकार करता हुआ कहीं अलाउद्दीन खिलजी के शासन (सम्वत् १३५५) में नष्ट हुआ। गुजरात के शासक सोलंकी के नाम से इतिहास में प्रसिद्ध हैं।

मालवा में पँवारों का राज्य था। इन्हीं पँवारों के वंश में राजा भोज हुये (संवत् १०६७-११०७) जो योद्धा, कवि और साहित्य के संरक्षक थे। इनके समय में मालवा की बहुत उन्नति हुई थी। बारहवीं शताब्दी में सोलंकियों ने पँवारों को बुरी तरह पराजित किया और मालवा को छोटे-छोटे भागों में विभक्त कर दिया। बारहवीं शताब्दी में अन्त के सोलंकियों की एक शाखा बघेल ने ही रीवा राज्य स्थापित किया।

कछवाहा ग्वालियर के अधिपति थे और बारहवीं शताब्दी के प्रारम्भ तक ग्वालियर और नरवर पर शासन करते रहे। संवत् ११८६ में यह शासन परिहार वंश के हाथों में चला गया।

नवीं शताब्दी में चन्देलों ने महोबा (हमीरपुर) पर विजय प्राप्त की। ये वीर ही नहीं थे, वरन् कलाप्रिय भी थे। इन्होंने खजुराहों के अनेक सुन्दर मन्दिरों का निर्माण किया। सम्वत् १२५० में वे मुसलमानों के हाथ कालिंजर भी खो बैठे।

तोमर हिसार और दिल्ली के निकटवर्ती स्थानों में राज्य करते थे। कहते हैं, तोमर वंश ने ही दिल्ली की नींव डाली, पर दिल्ली का महत्त्व अनंगपाल द्वितीय (संवत् ११०६) के बाद ही प्रकट हुआ। तोमर और चौहान सदैव परम्परा के शत्रु थे।

संक्षेप में यदि चारणकाल की राजनीतिक परिस्थितियों पर विचार किया जावे तो ज्ञात होगा कि राठौर; सोलंकी, पँवार, कछवाहा, परिहार, चन्देल, तोमर, भार, अहिर, गहलोत और चौहान वंश इस समय राजनीति का शासन कर रहे थे। राजनीतिक परिस्थिति बहुत अनिश्चित थी। परस्पर युद्ध करने में ये राजे सदैव सन्नद्ध रहा करते थे और अपने राज्य को अपनी मर्यादा के सामने तुच्छ समझते थे। कोई ऐसा वर्ष नहीं था जब कि इन राजाओं में से किसी में पारस्परिक विग्रह न होता हो। इन सब राजाओं के सामने मुसलमानी आतंक अपनी निर्दयता और उच्छृङ्खलता के साथ अनेक रूप रखा करता था। अपनी मर्यादा और गौरव की रक्षा करने के लिये युद्ध वीर राजपूत युद्ध-दान के लिये सदैव प्रस्तुत रहा करते थे। देश की शांति रक्तधारा में बही जा रही थी।

डिंगल साहित्य (सं० ११००—११७५)

ऊपर कहा जा चुका है कि अपभ्रंश के अन्तिम काल में जब हिन्दी का प्रारम्भ हुआ तो काव्य परम्परा के आधार पर हिन्दी दो भागों में विभाजित हुई—डिंगल तथा पिंगल। डिंगल राजस्थान में नागर अपभ्रंश से प्रभावित हिंदी

की साहित्यिक भाषा का नाम है और पिंगल मध्य देश की भाषा का। हमें यहाँ डिंगल पर विचार करना है।

डिंगल पर अपना मत प्रदर्शित करते हुये टेसोटरी लिखते हैं :—डिंगल का न तो 'डगर' से कोई सम्बन्ध है और न राजपूताना के चारण और पंडितों द्वारा बतलाई हुई विचित्र और अद्भुत् शब्द रूपावली से। वह केवल एक विशेष रूप है, जिसका अर्थ है "गड़बड़" अर्थात् जो ऊँचे कवित्व के अनुसार नहीं है। सम्भवतः जो असंस्कृत है।[१]

कुछ लोगों का मत है कि मध्य देश की पिंगल नाम से प्रसिद्ध हिन्दी के समानान्तर ही डिंगल शब्द की सृष्टि हुई है। तीसरा मत यह है कि डिंगल शब्द की उत्पत्ति डिम् (डम) गल से हुई है। डिम् (डम्) का तात्पर्य डमरू की ध्वनि से है और गल का तात्पर्य है गले से गुञ्जित होने वाली। तांडव नृत्य करने वाले प्रलयंकर शंकर के हाथ में डमरू बाजे से वीर और रौद्र रस की जागृति होती है। इस प्रकार डमरू के समान ध्वनि करने वाली कविता जो वीरों के हृदय में उत्साह और क्रोध की जागृति कर दे वही डिंगल कविता है।

डिंगल काव्य पिंगल की अपेक्षा प्राचीन है। इतना तो निश्चय है कि ब्रजभाषा में काव्य-रचना के पूर्व से ही राजस्थान में काव्य-रचना होने लगी थी। अतएव पिंगल के आधार पर पिंगल नाम होने की अपेक्षा यही उचित ज्ञात होता है कि डिंगल के आधार पर पिंगल का उपयोग किया गया होगा। इस कथन की सार्थकता इससे भी ज्ञात होती है कि पिंगल का तात्पर्य छन्द

---

[१] The Term Dingala which has nothing to do with 'Dagar' nor with any other of the fantastic etymology proposed by the bards and Pandits of Rajputana, but is a mere adjective, meaning probably "Irregular" i. e. not in accordance with standard poetry or probably Vulgar—Journal of the Asiatic Society of Bengal Vol. X. No. 10, 1314 page. 976.

शास्त्र से है। व्रजभाषा न तो छन्दशास्त्र-सी है और न उसमें रचित काव्य—केवल छन्दशास्त्र के नियमों के निरूपण के लिये ही है। अतएव पिंगल शब्द व्रजभाषा काव्य के लिये एक प्रकार से अनुपयुक्त ही माना जाना चाहिये। हाँ, यह अवश्य है कि व्रजभाषा-काव्य में छन्दशास्त्र पर अपेक्षाकृत अधिक ध्यान दिया गया है और सम्भवतः यही कारण है कि उसका नाम पिंगल रक्खा गया है।

डिंगल साहित्य का इतिहास जानने के पूर्व यह आवश्यक है कि हम उस समय की राजनीति पर भी थोड़ा-सा विचार कर लें, क्योंकि राजनीतिक परिस्थितियों ने डिंगल साहित्य पर यथेष्ट प्रभाव डाला है।

सातवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध से हिन्दू राज की केन्द्रीभूत सत्ता का विनाश होना आरम्भ हुआ। विभाजक शक्तियों का इतना प्राबल्य हुआ कि साधारण घटनाओं ने ही राज्यों के उत्थान तथा पतन का बीज बोना प्रारम्भ किया। उत्तर-पश्चिम से आने वाले मुसलमानों ने इससे पूर्ण लाभ उठाया और बारहवीं शताब्दी में उत्तर भारत का अधिकांश भाग यवनों के हाथ में आ गया। यह काल भारत के प्राचीन इतिहास की वृद्धावस्था का ही है जिसमें शक्ति का अभाव तथा विवशता का आलम्बन है। इस समय का इतिहास अनेक छोटी-छोटी रियासतों के उत्थान और पतन की कहानी मात्र है। ये छोटे-छोटे राज्य शिशुओं की भाँति छोटी-छोटी बातों पर झगड़ना जानते थे।

राजनीतिक क्षेत्र में विप्लव होने के कारण साहित्यिक क्षेत्र में भी शान्ति नहीं रही। राजस्थान राजनीति का प्रधान क्षेत्र होने के कारण, अपने यहाँ के चारणों को मौन न रख सका। अपभ्रंश भाषा भी उसी समय पुराने संस्कारों को छोड़कर नवीन रूप धारण करने का प्रयत्न कर रही थी। उसी अपभ्रंश की डिंगल भाषा में चारणों की कविता प्रवाहित हो उठी। इसके साथ ही देश के किसी कोने में बैठकर कविगण मुसलमानी आतंक भुलाने के लिए धर्म की कविता भी कर देते थे।

हिन्दी साहित्य के आदि काल में सात कवियों का उल्लेख हमारे इतिहास-कार करते चले आये हैं। यद्यपि उन सात में से किसी की एक भी पंक्ति उपलब्ध नहीं है।

१—प्रथम कवि पुंड या पुष्प कहा जाता है जिसका आविर्भाव काल सं० ७७० माना जाता है।

२—दूसरे अज्ञात कवि का जो ग्रन्थ प्राप्त हो सका है, वह है खुमान रासो। एक स्थान पर कवि का नाम दलपति-विजय मिलता है। इसमें चित्तौराधिपति खुमान द्वितीय का वृत्तान्त मिलता है। यह प्रति अपूर्ण है। इसमें चित्तौर के महाराणा प्रताप तक का हाल दिया गया है जिससे प्रकट होता है कि यह प्रति समय-समय पर कवियों के द्वारा नवीन सामग्री पाती ही रही है। अब वह अपने पूर्व रूप में नहीं है। खुमान का समय सं० ८८७ माना जाता है और महाराणा प्रताप का समय विक्रमी १७वीं शताब्दी है। इस प्रकार खुमान रासो लगभग ८०० वर्ष के परिमार्जन का ग्रन्थ है।

३—मसूद।
४—कुतुबअली।
५—सांईयान।
६—अकरम फैज।

इनकी रचनाएँ अप्राप्य हैं और इनका समय सं० ११८० से १२०५ तक माना जाता है।

७—इनके बाद चन्द वरदाई का नाम आता है जिसका समय सम्वत् १२८४ है। अभी तक के इतिहास की यह स्थिति है। चन्द वरदाई के पूर्व दो कवियों के नाम और लिये जाते हैं।

प्रथम कवि भुवाल हैं, जिन्होंने दोहा और चौपाई में भगवद्गीता का अनुवाद किया है। इनका समय विक्रम की दसवीं शताब्दी माना गया है। इस निश्चय का आधार उनका एक दोहा है, जो इस प्रकार है:—

"संवत् कर अब करौं बखाना।
सहस्र सो सम्पूरन जाना॥
माघ मास कृष्ण पक्ष भयऊ।
दुतिया रवि तृतिया जो भयऊ॥

अर्थात् ग्रन्थ की रचना सं० १००० में माघ कृष्ण पक्ष की द्वितीया तथा तृतीया तिथि; दिन रविवार को हुई किन्तु गणना के अनुसार यह तिथि सं० १००० में रविवार को नहीं पड़ती है। वह समय सं० १७०० में माघ कृष्ण रविवार को आता है जब द्वितीया के बाद उसी दिन तृतीया लग जाती है। अतः सं० १७०० अधिक समीचीन जान पड़ता है। उनकी भाषा भी १०वीं शताब्दी की नहीं मानी जा सकती। छन्द भी १७वीं शताब्दी का है।

दूसरे कवि जिनकी चन्द के पूर्व होने की शंका की जाती है, वे मोहनलाल द्विज हैं—जिन्होंने पत्तलि नामक ग्रन्थ लिखा है; जिसमें श्रीकृष्ण जी की बारात के भोजन की पत्तलि की विविध भोजन सामग्री का वर्णन है। इस ग्रन्थ का समय सं० १२४७ माना जाता है। प्रमाण कवि की निम्न पंक्तियाँ हैं :—

"सुनौ कहै यह सम्वत् जानौ।
बारह सानौ, सैता लानौं॥"

इसका तात्पर्य सम्वत् १२४७ से लिया जाता है किन्तु इनकी भाषा इतनी आधुनिक है कि वह १३वीं शताब्दी की भी नहीं जान पड़ती है। डा० हीरालाल के अनुसार "बारह सानौ" शुद्ध पाठ न होकर "ठारह सानौ" शुद्ध पाठ है। अतः मोहनलाल का समय १८वीं शताब्दी है।

वीसलदेव रासो

चारण-काल के इन अनिश्चित कवियों के बाद जो निश्चित कवि हुआ, वह नरपति नाल्ह है जिसके गीतात्मक ग्रन्थ का नाम वीसलदेव रासो है।

नरपति नाल्ह

गीतात्मक होने के कारण इसकी भाषा में अनेक परिवर्तन हुए। परन्तु वे परिवर्तन अभी तक सम्पूर्णतः भाषा का स्वरूप विकृत नहीं कर सके। इसमें अपभ्रंश का अधिक प्रयोग है। इसलिये यह अपभ्रंश की अन्तिम बोल-चाल की भाषा में लिखा गया है। वीसलदेव रासो का व्याकरण अपभ्रंश के नियमों का पालन करता है।

वीसलदेव का काल-निर्णय हमें इस प्रकार से मिलता है :—

जयपाल जो नवम्बर १००१ में पुनः सुल्तान महमूद से पराजित हुआ था, आत्मघात करके मर गया। उसका पुत्र अनंगपाल उत्तराधिकारी हुआ जो अपने पिता की भाँति अजमेर के चौहान राजा वीसलदेव के नेतृत्व में हिन्दू शक्तियों के संघ में सम्मिलित हुआ। अतः वीसलदेव का समय १००१ सन् या सं० १०५८ माना जाता है।

गौरीशंकर हीराचन्द ओझा के अनुसार वीसलदेव का समय संवत् १०३०—१०५६ माना गया है। नाल्ह ने पुस्तक रचना की तिथि इस प्रकार दी है :—

"बारह से बरहोत्तर मंजार।
माघ सुदी नवमी बुधवार॥"

मिश्र बन्धुओं ने इसे सं० १२२० माना है परन्तु पं० रामचन्द्र शुक्ल ने सं० १२१२ माना है।

कथावस्तु पर विचार करने से ज्ञात होता है कि कथा गीति रूप में होते हुए भी प्रबन्धात्मकता लिये हुए है। कथावस्तु अनेक प्रकार की घटनाओं से निर्मित है, जिसमें वीर रस की अपेक्षा शृङ्गार रस ही प्रधान स्थान प्राप्त कर सका है। भाषा यद्यपि अपने असंस्कृत रूप में है तथापि उसमें साहित्यिक सौंदर्य की छटा यत्र-तत्र है।

लोकरंजन के लिए वीसलदेव रासो में काव्य का सौंदर्य मनोवैज्ञानिक ढंग से अनेक प्रसंगों में सजाया गया है। उसमें जीवन के स्वाभाविक विचार,

गृहस्थ जीवन के सरल विश्वास, जन्मांतरवाद, शकुन, संस्कार, बारहमासा आदि बड़ी सरसता के साथ चित्रित किये गए हैं। स्थानीय प्रथाओं और व्यवहारों का भी बड़ा स्वाभाविक वर्णन है। इस प्रकार इस काव्य में स्थानीय अनुरंजन विशेष मात्रा में है।

वीसलदेव रासो सामान्य रूपेण एक वर्णनात्मक काव्य है। इतिहास के विद्वान् को इसके अन्तर्गत वर्णित घटनाओं पर सन्देह है। इस ग्रन्थ की कथा चार भागों में विभाजित है। प्रथम खण्ड में राजमती और वीसलदेव के विवाह, द्वितीय में राजमती और वीसलदेव का लौकिक विषयों से सम्बन्धित विचार, वाद-विवाद, तृतीय में राजमती का वियोग और उड़ीसा पर आक्रमण तथा चतुर्थ खण्ड में वीसलदेव द्वारा अपने भतीजे को युवराज पद पर अभिषिक्त करने का वर्णन है। भाषा की दृष्टि से भी विद्वान् इसकी प्रामाणिकता पर संदेह करते हैं। इसकी भाषा डिंगल होते हुए भी अपभ्रंश से बहुत कुछ प्रभावित है। डॉ० ओझा उसे हम्मीर के समय में लिखित ग्रन्थ मानते हैं। यह प्रेम काव्य होते हुए भी वीरों के चरित्र की झलक देता है।

यद्यपि वीसलदेव रासो अपने वास्तविक रूप में नहीं पाया जा सकता, क्योंकि वह मौखिक और गेय रहा है, तथापि इतना तो अवश्य कहा जा सकता है कि जनसाधारण की भाषा में भी रचना होने लगी थी और उसमें उस समय के प्रचलित सभी प्रकार के शब्द कविता में रखे जा सकते थे। इतिहास की घटनाओं का वर्णन भी साहित्य के अन्तर्गत आ गया था क्योंकि साहित्य इस समय वीर पूजा अथवा धर्म और राजनीति के नेता के गौरव का गीत था। सत्य और धर्म के किसी भी अग्रणी का जीवन-चरित उस समय साहित्य था। राजनीति और साहित्य का इतने समीप आ जाना हिन्दी साहित्य के इतिहास में चारणकाल की विशेषता है।

वीसलदेव रासो की भाषा का अनुमान निम्नलिखित उदाहरण से लग जायगा :—

कुंवरि कहई 'सुणों साभर्‌या राव। कांई स्वामी तू उलगइँ जाइ ?
कहेउ हमारुउ जइ सुणउ। थारह छई साठि अँतेवरि नारि।

कडवा बोल न बोलिस नारि । तु भो मेल्हसी चित्त विसारि ।
जीभ न जीभ विगोयनो । दव का दाधा कुपली मेल्ही ॥

पृथ्वीराज रासो

यह डिंगल साहित्य का सर्वप्रथम प्रबन्धात्मक काव्य कहा जाता है। चन्द हिन्दी साहित्य का सर्वप्रथम महाकवि माना गया है। चन्द ने पृथ्वीराज चौहान की कीर्ति-गाथा ६९ समयों में वर्णित की है। वह लाहौर निवासी था पर उसके जीवन का महत्वपूर्ण भाग दिल्ली में पृथ्वीराज के साहचर्य में व्यतीत हुआ। वह पंडित और विद्वान् था, क्योंकि रासो में उसने काव्य की अनेक रीतियाँ प्रदर्शित की हैं।

चन्द बरदाई

रासो एक महान् ग्रन्थ है। ढाई हजार पृष्ठों से अधिक होने के कारण उसका प्रकाशन अधिक समय तक नहीं हुआ। अभी तक रासो की निम्न-लिखित प्रतियाँ उपलब्ध हो सकी हैं :—

१—बैदला (The Baidla) प्रति।

२—रायल एशियाटिक सोसायटी में सुरक्षित कर्नल टाड की प्रति।

३—कर्नल कालफील्ड की प्रति।

४—बोदलियन प्रति।

५—आगरा कालेज की प्रति।

उपर्युक्त पाँच प्रतियाँ प्रामाणिक मानी जाती । इनके अलावा बीकानेर में "पृथ्वीराज रासो" की दो प्रतियाँ और मिली हैं।

जहाँ तक ऐतिहासिक घटनाओं का सम्बन्ध है, रासो पूर्ण रूप से भ्रमपूर्ण है। हिन्दी के कुछ विद्वान् रासो को अप्रामाणिक कहते हैं। उनके प्रमाण इस प्रकार हैं :—

१—इसमें इतिहास सम्बन्धी अनेक भ्रान्तियाँ हैं, जो शिलालेखों से ज्ञात होती हैं।

२—इसकी तिथियाँ पूर्णतया अशुद्ध हैं।

३—इसमें १०% ऐसे उर्दू और फारसी के शब्दों का प्रयोग हुआ है जो चन्द के समय में प्रयुक्त नहीं होते थे।

४—भाषा अनुस्वारांत है और उसमें स्थिरता नहीं है।

इन सब बातों के विरोध में मिश्रबन्धुओं ने डॉ० श्यामसुन्दर दास से अनेक बातों में सहमत होकर निम्नलिखित प्रमाण उपस्थित किये हैं :—

१—इतिहास सम्बन्धी भ्रान्तियों के तीन कारण हैं :—

(क) चन्द ने अपने स्वामी का अतिशयोक्तिपूर्ण प्रताप वर्णन किया है। कवि के लिये यह स्वाभाविक ही है।

(ख) जो भ्रान्तियाँ मालूम पड़ती हैं वे वास्तव में भ्रान्तियाँ नहीं हैं क्योंकि ना० प्र० सभा की ओर से प्रकाशित कुछ तत्कालीन पट्टे, परवानों से उनकी पुष्टि होती है।

(ग) यदि वे वास्तव में भ्रान्तियाँ हैं तो क्षेपकों के कारण हो सकती हैं।

२—तिथियों के विषय में मिश्रबन्धु यह कारण देते हैं कि रासो में जो ६० वर्ष कम पड़ते हैं उससे प्रकट होता है कि उन्होंने साधारण विक्रमीय संवत् का प्रयोग नहीं किया। उसमें किसी ऐसे संवत् का प्रयोग हुआ है जो विक्रमी संवत् से ६० वर्ष कम है। यह आनन्द संवत् हो सकता है।

३—फारसी अरबी शब्दों के विषय में मिश्रबन्धु तथा डा० श्यामसुन्दर दास की यह राय है कि शहाबुद्दीन गोरी से लगभग २०० वर्ष पूर्व महमूद गजनवी भारत आ चुका था। गजनवी से ३०० वर्ष पूर्व सिंध पर यवनों का राज्य था। पंजाब यवन संस्कृति से प्रभावित हो चुका था। चंद लाहौर का निवासी था, अतः अरबी, फारसी शब्द उसके मस्तिष्क में थे।

४—भाषा की शब्द-रूपावली के सम्बन्ध में मिश्रबन्धु का कथन है कि भाषा के नवीन रूप जहाँ 'रासो' की अर्वाचीनता को सिद्ध करते हैं, वहाँ

प्राचीन रूप 'रासो' की प्राचीनता को भी प्रमाणित करते हैं। प्रक्षिप्त अंशों के कारण ही भाषा की शब्द-रूपावली अर्वाचीन हो गई है, नहीं तो 'रासो' का वास्तविक रूप प्राचीनता ही लिए हुए है।

दोनों प्रमाणों को ध्यान में रखकर 'रासो' की प्रामाणिकता पर कुछ निश्चित रूप से कहना बहुत ही कठिन है। 'रासो' हमारे साहित्य का आदि ग्रन्थ है। वह प्राचीन काल से श्रद्धा की दृष्टि से देखा गया है। उसमें हमारे साहित्य का श्रीगणेश हुआ है, अतः उसके विरुद्ध कुछ कहना अपने साहित्य की प्राचीन सम्पत्ति को खो देना है। परन्तु वर्तमान खोजों से उसकी अप्रामाणिकता ही सिद्ध होती है।

वीसल देव रासो' के समान ही यह ग्रन्थ भी वर्णनात्मक है। इसमें पृथ्वीराज की वीरता और सौंदर्यप्रियता का वर्णन बड़े विस्तार के साथ हुआ है। "वैसे तो रासो में पृथ्वीराज के नौ विवाहों का उल्लेख है। पर तीन विवाह ऐसे हैं जिन्हें कवि ने विशेष रस लेकर लिखा है।" रासो काव्य सौंदर्य से सम्पन्न ग्रन्थ है। इसके अध्ययन से हमें उस युग की संस्कृति, रहन सहन, रस्म और तरीकों आदि का भला ज्ञान हो जाता है। रासो जिस रूप में भी हमारे सामने है उससे जान पड़ता है कि "चन्द बरदाई छप्पयों का राजा था। बहुत पहले शिवसिंह ने यह बात लिखी थी और रासो असल में छप्पय का ही काव्य है।" छप्पय के अतिरिक्त दूहा, तोमर, त्रोटक, गाहा, साटक, वथुआ, भुजंग प्रयात, भुजंगी, रसापला, मुरिल्ल आदि अनेक छन्दों का प्रयोग इस महान् ग्रन्थ में हुआ है।

चन्द की भाषा डिंगल है पर वह विशुद्ध डिंगल नहीं है। उसमें संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश आदि का मिश्रण है। अरबी, फारसी और तुर्की शब्दों की भी बहुलता है।

चन्द हिन्दी के एक महान् कवि माने गये हैं। इनकी कविता बहुत सबल, भाषा बहुत प्रौढ़ और रचना पद्धति सरल और स्वाभाविक तथा वर्णन प्रतिभा बड़ी विकट थी। कवि की कल्पना-शक्ति अद्वितीय थी। सजीव वर्णन करने में

उसकी लेखनी बड़ी सामर्थ्यपूर्ण थी। रासों में रूप वर्णन, सैन्य वर्णन और युद्ध वर्णन काव्यकला की दृष्टि से महत्वपूर्ण है :—

रासों के 'पद्मावती विवाह कथा' से यहाँ कतिपय पंक्तियाँ उद्धृत की जाती हैं। इनसे कवि की भाषा का स्वरूप स्पष्ट हो जायगा :—

दूहा

पूरब दिस गढ़ गढ़न पति, समुदसिखर अति द्रुग्ग।
तहँ सु विजय सुर राजयति, जादू कुलह अभग्ग ॥
हसभ हयग्गय देस अति, पति सायर अज्जाद।
प्रबल भूप सेवहिं सकल, धुनि निसाँन बहु साद ॥

कवित्त

धुनि निसाँन बहु साद, नाद सुरयंत्र बजत दिन।
दस हजार हय चढ़त, हेम नग जटित साज तिन ॥
गज असंख गज पतिय, मुहर सेना तिय संखह।
इक नायक कर धरी, पिनाक धर भर रज रक्खह ॥
दस पुत्र पुत्रिय एक सम, रथ सुरंग उम्मर उमर।
भंडार लछिय अगनित परम, सो परम सेन कूँवर सुघर ॥

दूहा

परम सेन कूँवर सुघर, ता घर नारि सुजान।
ता उर इक पुत्री प्रगट, मनहुँ कला ससिभान ॥

'रासो' के पश्चात् दो ग्रन्थों का उल्लेख मिलता है जिनके सम्बन्ध में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता है। प्रथम ग्रन्थ है 'जयचन्द प्रकाश' जिसका लेखक भट्ट केदार कहा जाता है। इसमें कन्नौज के जयचन्द का गुणगान है। इस ग्रन्थ का परिमाण भी अज्ञात है क्योंकि वह अभी तक अप्राप्य है। उसका केवल निर्देश मात्र "राठौड़ा री ख्यात" नामक संग्रह ग्रन्थ में मिलता है। अतः "जयचन्द प्रकाश" हिन्दी साहित्य के इतिहास में केवल

स्मरण कर लेने की वस्तु है। भट्ट केदार का समय सम्वत् १२२५ माना गया है।

दूसरा ग्रन्थ 'जय मयंक जस चन्द्रिका' है जिसमें जयचन्द की कीर्ति का वर्णन है। इसके कवि का समय सं० १२४० माना गया है। यह भी अप्राप्य है। इसका केवल उल्लेख उपर्युक्त "ख्यात" में पाया जाता है।

पृथ्वीराज विजय

ऐतिहासिकता की दृष्टि से 'पृथ्वीराज विजय' का बहुत महत्व है, क्योंकि इसमें अन्तिम हिन्दू सम्राट् पृथ्वीराज चौहान (अजमेर) का वीरत्वपूर्ण वर्णन है। इस ग्रन्थ की केवल एक ही प्रति प्राप्त है जो शारदा लिपि में लिखी गई है और पूना के दक्षिण कालेज लायब्रेरी में सुरक्षित है। यह प्रति डॉ० बुलर द्वारा काश्मीर में प्राप्त की गई थी, जब वे सन् १८७५ में संस्कृत ग्रन्थों की खोज में वहाँ पर्यटन कर रहे थे।

जयानक

हस्तलिखित प्रति बहुत ही खराब दशा में है। प्राचीन होने के कारण प्रति के नीचे का हिस्सा टूट गया है जिससे पाठ का क्रम भंग हो जाता है। उस पुस्तक में जो बारह सर्ग प्राप्त हुए हैं उनमें से एक भी सम्पूर्ण नहीं है। प्रारम्भिक भाग भी नहीं है। बाएँ हाथ की ओर का स्थान जहाँ पृष्ठ संख्या दी हुई है, भंग हो गया है, जिससे पृष्ठों का तारतम्य भी नहीं मिलाया जा सकता। केवल सन्दर्भ के द्वारा पृष्ठ क्रम से लगाये जा सकते हैं। हस्तलिखित प्रति में लेखक का नाम भी नहीं मिलता। ऐसा ज्ञात होता है कि इस ग्रन्थ का लेखक पृथ्वीराज का दरबारी कवि रहा होगा क्योंकि प्रथम सर्ग में पृथ्वीराज के उस ग्रन्थ के सुनने की इच्छा का निर्देश है। लेखक काश्मीरी पंडित ही होगा क्योंकि :

१—मंगलाचरण और प्रारम्भ में कवियों की आलोचना विल्हण की रीति के अनुसार ही है।

२—काश्मीर की अत्यधिक प्रशंसा है।

३—राजस्थान के लिए महान् उपयोगी ऊँट की निन्दा की गई है। यदि लेखक राजस्थानी होता तो संभवतः वह ऐसा कभी न करता।

४—दूसरी राज तरंगिणी के लेखक काश्मीरी कवि जोनराज ने उसकी व्याख्या की है।

५—जहाँ तक ज्ञात है, इस ग्रन्थ का निर्देश और उद्धरण केवल काश्मीरी कवि जयरथ ने ही किया है।

यह सम्भव है कि बारहवें सर्ग में (प्रति के अन्त में) पृथ्वीराज के दरबार में जो जयानक नामी काश्मीरी कवि आता है, 'वही पृथ्वीराज विजय' का निर्माता हो, किन्तु जब तक इस ग्रन्थ की पूर्ण प्रति नहीं मिल जाती तब तक इसका निर्णय होना कठिन ही है।

इस ग्रन्थ का रचनाकाल पृथ्वीराज के समय में ही होना ज्ञात होता है, क्योंकि जयरथ (ईस्वी सन् १२००) अपने ग्रन्थविमर्षिनी में 'पृथ्वीराज विजय' से ही उद्धरण लेता है।

अतएव इसका रचनाकाल सन् १२०० के बाद नहीं हो सकता। 'पृथ्वीराज विजय' के एकादश सर्ग में गुजरात के राजा भीमदेव की विजय मुहम्मद गोरी पर वर्णित की गई है। तबकात इ नासिरी के अनुसार यह घटना हिजरी ५७४ या ११७८ सन् की है। इससे ज्ञात होता है कि 'पृथ्वीराज विजय' की रचना सन् ११७८ के बाद ही हुई होगी। अतः 'पृथ्वीराज विजय' का रचनाकाल सन् ११७८ और १२०० के बीच में माना जाना चाहिए।

साहित्यिक महत्त्व के अतिरिक्त ऐतिहासिक महत्त्व भी इस ग्रन्थ का बहुत अधिक है, क्योंकि अनेक स्थानों पर पाये हुए शिलालेखों के द्वारा भी इस ग्रन्थ की घटनाओं की पुष्टि होती है।

यह नहीं कहा जा सकता कि यह ग्रन्थ कितना बड़ा है। पर यह निश्चय है कि इस ग्रन्थ में और भी सर्ग अवश्य रहे होंगे। इसमें गोरी और पृथ्वीराज की विजय का वर्णन तो अवश्य ही होना चाहिये, क्योंकि वह पृथ्वीराज की सबसे बड़ी विजय है और उसका इस ग्रन्थ में विशेष स्थान रहना चाहिये। ग्रन्थ का नाम ही ऐसा है।

आल्हखण्ड

जगनिक (सं० १२३०) का यह एक वीर रस प्रधान गीतिकाव्य माना जाता है। इसकी कोई प्रतिलिपि उपलब्ध नहीं है। पृथ्वीराज की मृत्यु के ११ साल बाद महोबा का पतन हुआ। साथ ही परमाल का यश जो इस ग्रन्थ का वर्ण्य-विषय है, विस्मृत हो गया। इस ग्रन्थ के लेखक का नाम भी अज्ञात है। केवल जनश्रुति इस बात की सूचना देती है कि वह जगनिक द्वारा रचित है। यह रचना उत्तरी भारत में बड़ी लोकप्रिय रचना है। इसका साहित्यिक महत्त्व इतना नहीं है जितना जन-साधारण की रुचि के अनुसार इसका प्रचलन है। मौखिक होने के कारण इसका पाठ अत्यन्त विकृत हो गया है। भावों के साथ इसकी भाषा में भी अंतर हो गया है और बारहवीं शताब्दी में रचित होने पर भी उसमें 'बन्दूक' और 'पिस्तौल' शब्द आ गये हैं।

जगनिक

इसे लेखबद्ध करने का प्रथम श्रेय सर चार्ल्स इलियट को है जिन्होंने सन् १८६५ में इसे अनेक भाटों की सहायता से फरुखाबाद में लिखवाया। इसके अतिरिक्त सर जार्ज ग्रियर्सन ने बिहार में और विसेंट स्मिथ ने बुन्देलखण्ड में इसका संग्रह किया।

यद्यपि 'आल्हा' 'रासो' में महोबा खण्ड की कथा से साम्य रखता है परंतु उसकी रचना स्वतन्त्र है। आल्हा की रचना कन्नौज और महोबा के गौरव से सम्बद्ध है। दोनों रचनाओं में सिरसा युद्ध तथा मलखान की मृत्यु का निर्देश अवश्य है, परन्तु दोनों की वर्णन शैली सर्वथा भिन्न है। 'रासो' में महत्व केवल दिल्ली के चौहान वंश को है; पर प्रस्तुत रचना में दिल्ली के चौहान, कन्नौज के राठौर और महोबा के चन्देल अपनी शक्ति का परिचय देते हैं। दोनों ग्रन्थों की भाषा में भी महान् अन्तर है। फलतः आल्हा को एक स्वतन्त्र रचना मानने पर बाध्य होना पड़ता है।

आचार्य श्यामसुन्दर दास के शब्दों में "इस वीर गीत में अनेक युद्धों का वर्णन बहुत कुछ एक ही प्रकार से हुआ है, साथ ही इसमें अनेक भौगोलिक

अशुद्धियाँ भी पाई जाती हैं, परन्तु साधारण पाठकों के लिये इसके वर्णनों में बड़ा आकर्षण है। यद्यपि इसमें साहित्यिक गुणों की बहुत कुछ न्यूनता पाई जाती है, पर उत्तर भारत के प्रायः सभी प्रदेशों में इसका प्रचार है। इसमें वर्णित युद्धों की भयानकता यद्यपि बहुत कुछ बढ़ा-चढ़ा कर अंकित की गई है, परन्तु युद्ध हुए अवश्य थे और उनमें वीर बनाफरों की अनेक बार विजय हुई थी। यद्यपि जगनिक-कृत आल्हखण्ड अब अपने पूर्व रूप में नहीं मिलता है और उसके आधुनिक संस्करणों में भाषा की नवीनता तथा घटनाओं का प्रक्षेप प्रत्यक्ष देख पड़ता है फिर भी यह एक महत्वपूर्ण रचना है।"

आल्हखण्ड में अनेक दोष हैं जो इस प्रकार हैं :—

१—इस ग्रन्थ में पुनरुक्ति की भरमार है। युद्ध में एक ही प्रकार का वर्णन, एक ही प्रकार की शस्त्रसूची, एक ही प्रकार के दृश्यों का वर्णन है, जिन्हें पढ़ कर जी ऊबने लगता है।

२—मौखिक होने के कारण कथा में सम्बद्धता नहीं है।

३—कथा में विस्तार होने के कारण यत्र-तत्र शैथिल्य आ गया है।

४—कवि को अच्छा भौगोलिक ज्ञान नहीं था। कारण कि स्थानों की दूरी के सम्बन्ध में उसके बहुत से वर्णन अशुद्ध हैं।

५—अतिशयोक्ति तो हास्यास्पद हो गई है।

आल्हखण्ड से कतिपय पंक्तियाँ यहाँ उद्धृत की जाती हैं :—

कूदे लाखन तब हौदा से, औ धरती मैं पहुँचे आइ।
गगरी भर के फूल मंगाओ, सो मुरुही को दओ पियाइ।
भाँग मिठाई तुरतै दइ दइ, दुहरे घोट अफीमन क्यार।
राती माती हथिनी करिकै, दुहरे आँदू दये डराय।
चहु ओर घेरे पृथीराज है, मुरही राखिहौं धर्म हमार।
जैसे मेडहा मेडन पैठे, जैसे सिंह बिडारै गाय।
वह गति कीनी है लाखन ने, नदी बितवै कै मैदान॥

हम्मीर रासो

शारंगधर

शारंगधर का आविर्भाव १४वीं शताब्दी में हुआ। इनके द्वारा लिखे गये 'हम्मीर रासो' में रणथम्भौर के राजा हम्मीर का गौरव-गान है। अलाउद्दीन की सेना से हम्मीर का जो युद्ध हुआ था उसका इसमें ओजस्वी वर्णन है।

इसकी प्रामाणिक प्रति अप्राप्य है। इतिहासकार इसका निर्देश मात्र करते चले आ रहे हैं। जिस ग्रन्थ के आधार पर इसका प्रकाशन हुआ है वह असली नहीं है। भाषा से प्रकट होता है कि किसी परवर्ती कवि ने इसकी रचना की है। इसके लेखक का समय सं० १३५७ माना जाता है।

इस ग्रन्थ के अतिरिक्त एक और ग्रन्थ हम्मीर की यशोगाथा के विषय में प्राप्य है। उसका नाम है 'हम्मीर महाकाव्य'। इसका लेखक जैन कवि जय-चन्द्र था जो सं० १४६० के लगभग हुआ।

विजयपाल रासो

नल्ह सिंह

'विजयपाल रासो' के रचयिता नल्ह सिंह ने इसमें करौली नरेश विजय-पाल के युद्ध का ओजपूर्ण वर्णन किया है। भाषा यद्यपि अपभ्रंश है तथापि उसमें परिवर्तन के चिन्ह हैं। ग्रन्थ काव्य की दृष्टि से साधारण कोटि का है। नल्ह का समय सं० १३५५ माना गया है।

अन्य ग्रन्थ

जैतसी रासै पाबू जी रा छन्द

यह ग्रन्थ बीकानेर के राव जैतसी की प्रशंसा में लिखा गया है। बाबर के पुत्र कामरान ने जब भटनेरा को जीत कर बीकानेर पर चढ़ाई की, तब राव जैतसी ने उसे वीरता के साथ मार भगाया और अभूतपूर्व विजय प्राप्त की। उसी विजय का स्तवन इसमें किया गया है। प्रारम्भ में जैतसी की वंशावली का वर्णन है। यह वंशावली बड़े विस्तार के साथ वर्णित है जैतसी के पूर्वज राव बीको और राव लूर्णकरण की प्रशंसा बहुत की गई है। साथ ही साथ

उनके जीवन की घटनाएँ भी बहुत वर्णित हैं। अतः इतिहास के दृष्टिकोण से इस ग्रन्थ का स्थान बहुत महत्वपूर्ण है। राव जैतसी का वर्णन भी बहुत विस्तार से है। कामरान से युद्ध में तो कवि ने प्रत्येक राजपूत वीर और उनके घोड़ों का भी वर्णन किया है। राव जैतसी की मृत्यु सम्वत् १५६८ में हुई। यह ग्रन्थ राव जैतसी के जीवन में ही कामरान पर विजय प्राप्त करने के बाद सम्वत् १५६१ में लिखा गया ज्ञात होता है। अतः इसका रचनाकाल सम्वत् १५६१ और १५६८ के बीच में मानना चाहिये।

अचलदास खीची री वचनिका सिवदास री कही

शिवदास चारण ने गागुरण के खीची शासक अचलदास की उस वीरता का वर्णन किया है, जो उन्होंने माड़व के पातिशाह के साथ युद्ध में दिखलाई थी। उस युद्ध में अचलदास वीरगति को प्राप्त हुए। माड़व के पातिशाह ने जब गागुरण पर चढ़ाई की तो अचलदास ने रानियों तथा अन्य स्त्रियों से जौहर करा कर स्वयं तलवार हाथ में लेकर शत्रु का सामना किया। शिवदास चारण ने यह सब आँखों देखा वर्णन किया है और उन्होंने इस युद्ध से बच कर अचलदास की कीर्ति गाथा कहने के लिए ही अपनी रक्षा की। इसमें वीरता का वर्णन अतिशयोक्तिपूर्ण है। माड़व के पातिशाह के सहायक रूप में उन्होंने दिल्ली के आलम गोरी को युद्ध में ला खड़ा किया है। शैली पुरानी और सीधी-सादी है, पर डिंगल साहित्य की अच्छी रचना मानी जाती है। इसका रचनाकाल संवत् १६१५ माना गया है।

माधवानल प्रबन्ध दोग्धबन्ध कवि गणपति कृत

माधवानल, कामकन्दला की प्रेम कहानी राजस्थान में बहुत प्रचलित है। इस ग्रन्थ की पाँच हस्तलिखित प्रतियाँ बीकानेर राज्य में ही प्राप्त हो चुकी हैं। यह प्रति मारवाड़ी दूहा में लिखी गई है। इसके लेखक नरसी के पुत्र गणपति हैं। इन्होंने इसकी रचना नर्मदा तट पर आम्रंपद्र नामक स्थान पर की। रचनाकाल संवत् १५८४ है। इसके साथ माधवानल कामकन्दला चरित्र भी मिलता है, जो वाचक कुशललाभ द्वारा जैसलमेर में संवत् १६१६ में लिखा गया।

यह रावल माल दे के राज्य में कुमार हरिराज के मनोरंजनार्थ लिखा गया था।

तुलसीदास जिस समय मानस के द्वारा भक्ति का प्रचार करने में संलग्न थे, उस समय राजस्थान में एक कवि शृङ्गार काव्य की सृष्टि में कटिबद्ध था। राजस्थान तो राजपूतों की जन्मभूमि रही है और उसने अनेकों बार रक्त में स्नान कर अपनी मर्यादा की रक्षा करने में ही अपने व्यक्तित्व की सार्थकता समझी है। किन्तु शृङ्गार में भी वह अद्वितीय है। इसीके प्रमाणस्वरूप हमारे सामने बीकानेर के राठौर पृथ्वीराज की वेलि क्रिसन रुक्मणी री रचना है।

क्रिसन रुक्मणी री वेलि राज प्रिथीराज री कही

वेलि की रचना संवत् १६३७ में हुई थी। उसका कथानक रुक्मणी हरण, कृष्ण रुक्मणी विवाह विलास और प्रद्युम्न जन्म में सम्पूर्ण हुआ।

वेलि का आधार भागवत पुराण ही है। स्वयं लेखक ने उसका उल्लेख किया है।

डिंगल के अनुसार जिस छन्द में वेलि की रचना हुई है वह वेलियों गीत के नाम से प्रसिद्ध है। इसमें चार चरण होते हैं। द्वितीय और चतुर्थ चरण की रचना एक समान होती है। उसमें तुकांत भी रहता है। प्रथम और तृतीय पंक्तियों की रचना भिन्न प्रकार से पाई जाती है। प्रथम पंक्ति में १८ और तृतीय पंक्ति में १६ मात्राएँ तथा द्वितीय और चतुर्थ पंक्तियों में १३, १४ या १५ मात्राएँ होती हैं। यदि द्वितीय और चतुर्थ पंक्ति में ॥ है तो १३ मात्रा यदि ।ऽ है तो १४ मात्रा और यदि ऽ। है तो १५ मात्रा। वेलि में ३०५ पद्य हैं। विषय है रुक्मिणी का शैशव, सुकुमार शरीर में यौवन का मादक उभार, सौन्दर्य के वसन्त में अगों की आकर्षक शोभा, शिशुपाल की ओर उसके विवाह का विचार। रुक्मिणी का श्रीकृष्ण के प्रति प्रेम और पत्र लेखन। कृष्ण का आगमन और अम्बिका के मन्दिर में रुक्मिणी से मिलाप, रुक्मिणी हरण, शिशुपाल और रुक्मि से युद्ध और उनकी पराजय, श्रीकृष्ण का रुक्मिणी सहित द्वारिका गमन और दोनों का यथाविधि विवाह, रात्रि का आगमन और

कृष्ण की रुक्मिणी से मिलने की उत्कट इच्छा। रुक्मिणी की लज्जा और श्रीकृष्ण का उल्लास दोनों का मिलन। षट्ऋतु वर्णन, ग्रीष्म, वर्षा, शरद, हेमन्त, शिशिर, बसन्त। प्रद्युम्न जन्म तत्पश्चात् प्रद्युम्न के पुत्र अनिरुद्ध का विवरण। वेलि की प्रशंसा कामधेनु के रूप में, कवि की आत्मप्रशंसा। भाषा में सौन्दर्य के साथ प्रवाह है। डिंगल के सभी नियमों का पालन करते हुए भी शब्दावली विकृत नहीं है। कविता में केवल स्वाभाविकता ही नहीं है, वरन् उसमें संगीत भी है। पृथ्वीराज की काव्य-कला ने हमें डिंगल साहित्य का सुन्दर नमूना दिया है। वेलि के अतिरिक्त पृथ्वीराज ने हमें छोटे छोटे पद्य भी दिये हैं जो साखरा गीत के नाम से प्रसिद्ध हैं। ये समसामयिक घटनाओं और व्यक्तियों के जीवन का विवरण देते हैं।

विशेषता

वेलि की विशेषता यही है कि उसमें भक्ति की भावना के साथ शृङ्गार की रसीली साधना भी है। भक्ति और रीतिकाल की प्रवृत्तियों का एक स्थान पर सम्मिलन इसी पुस्तक में है। षट्ऋतु वर्णन और मुग्धा मानिनी नायिका का निरूपण हमारे सामने रीतिकाल की आत्मा का प्रदर्शन करता है। भक्ति के युग में रीति का यह मनोरंजक और सरल वर्णन हमारे साहित्य की अनोखी वस्तु है। इसका सारा श्रेय राठौड़ पृथ्वीराज को है।

डिंगल साहित्य का ह्रास

चौदहवीं शताब्दी के प्रारम्भ होते ही वीरगाथा काल की रचना क्षीण होने लगी। इसका प्रधान कारण राजनीति की परिस्थितियों के परिवर्तन में ही पाया जा सकता है। मुसलमानों के प्रभुत्व ने हिन्दू राजाओं को जर्जरित कर दिया था अथवा हिन्दू राजा स्वयं ही लड़ते-लड़ते क्षीण हो गये थे। इसलिए न तो उनके पास गौरव की गाथा गाने की सामग्री ही थी और न कवियों के हृदय में उत्साह ही रह गया था। राज्य क्षीण होने के कारण कवियों का महत्त्व भी क्षीण हो गया था और वे अब किसी राज दरबार में सम्मानित होने का अवसर नहीं पा सकते थे। अतएव चारणों के अभाव में वीर गाथा का महत्त्व दिनोंदिन कम होता जा रहा था।

इस समय मुसलमानी राज्य का प्रभुत्व हिन्दुओं के हृदयों में जान पड़ने लगा था। मुसलमानों की प्रवृत्ति केवल लूटमार कर धनसंचय की न होकर भारत में राज्य करने की हो चली थी। पंजाब से लेकर बंगाल तक मुसलमानों का आधिपत्य हो गया था। बिहार, बंगाल, रणथम्भौर अह्लवाड़ा, अजमेर, कन्नौज, कालिंजर आदि प्रधान स्थानों में मुसलमानी शासन स्थापित हो चुका था। राठौर और चौहान वंश के पराक्रम का सूर्य ढल चुका था। इतना अवश्य था कि राजस्थान के राजपूत अभी तक अपने गौरव की गाथा नहीं भूले थे। मुसलमानों की असावधानी देखते ही वे फिर प्रचंड हो उठते थे। पर ये दिन उनकी अवनति के थे। मुसलमानों का आधिपत्य दिनोंदिन बढ़ता जा रहा था वे राज्य के साथ-साथ अपने धर्म का विस्तार भी करते जाते थे जिससे हिन्दुओं के प्राचीन आदर्शों पर आघात होता था। मुसलमानी धर्म की कट्टरता हिन्दुत्व के विपक्ष में होकर जनता के हृदय में असन्तोष और विद्रोह का बीजवपन कर रही थी। हिन्दुओं के पास शक्ति नहीं थी अतएव वे मुसलमानों से युद्ध नहीं कर सकते थे, उन्हें अपमान का दण्ड नहीं दे सकते थे। ईश्वर से अपनी रक्षा की प्रार्थना भर ऐसी परिस्थिति में वे केवल कर सकते थे।

उन्होंने तलवार के बदले माला का आश्रय लिया और वे अपने लौकिक जीवन में आध्यात्मिक तत्व खोजने लगे। अब वे सांसारिक कष्टों से मुक्ति पाने के लिए ईश्वर की शरण में जाने लगे और दुष्टों को दंड देने के लिए अपनी शक्ति पर अवलम्बित रहने की अपेक्षा ईश्वरीय शक्ति पर निर्भर रहने की भावना करने लगे। इस प्रकार ओज और गौरव के तत्वों से निर्मित वीर रस करुण और दयनीय भावों से ओतप्रोत होकर शान्त और शृंगार रस में परिणत होने लगा। इस प्रकार भावों में परिवर्तन हुआ।

चारणों के साहित्य क्षेत्र से हट जाने के कारण डिंगल साहित्य के विकास में भी बाधा आने लगी। अब भी कुछ चारण कभी-कभी किसी राजा की प्रशंसा करते थे, पर साहित्य की गतिविधि ही बदल जाने के कारण डिंगल की नियमित रचना रुक गई थी। साधारण जनता जो अब केवल नाममात्र रह गई थी, मुसलमानी आतंक से क्षुब्ध हो रही थी, अधिक धार्मिक प्रवृत्ति

वाली हो रही थी। जनता के प्रतिनिधि कवि धर्म का प्रचार कर ईश्वर की प्रार्थना में अपना काव्य-कौशल प्रदर्शित करने लगे। इन कवियों ने ब्रजभाषा का आश्रय लिया, जो कृष्ण की जन्मभूमि की भाषा थी। चारण काल में काव्य-रचना के केन्द्र उन स्थानों में थे जो राजनीति की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण माने गये थे। इसीलिए राजस्थान के अतिरिक्त दिल्ली कन्नौज और महोबा भी साहित्यिक रचना के केन्द्र थे। पर चारण काल के समाप्त होने पर जनता की धार्मिक प्रवृत्ति ने उन स्थानों में साहित्य रचना के केन्द्र स्थापित किये जो धार्मिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण थे। सन्तों, कवियों और आचार्यों ने धार्मिक क्षेत्रों और तीर्थों को ही अपना केन्द्र निश्चित किया और उसी स्थान से जनता के भावों का प्रतिनिधित्व करते हुए उनके जीवन में उत्साह और साहस उत्पन्न किया। फलतः उन केन्द्रों की भाषा ही साहित्यिक भाषा हुई। धार्मिक काल में दो भाषाओं को प्राधान्य मिला। वे भाषाएँ ब्रजभाषा और अवधी थीं। ब्रज-भाषा कृष्ण की जन्मभूमि ब्रज प्रान्त की भाषा थी और अवधी राम की जन्मभूमि अयोध्या की। राम और कृष्ण ही जनता के आराध्य थे, किन्तु राम की अपेक्षा कृष्ण अधिक लोकरंजक हुए। इसीलिए ब्रजभाषा को अवधी से अधिक काव्य पर अधिकार करने का अवसर प्राप्त हुआ। दूसरी बात यह भी थी कि धर्म के कोमल और पवित्र भावों को प्रकाशित करने में डिंगल भाषा असमर्थ थी। उसमें वह कोम-लता और श्रुति माधुर्य का गुण नहीं था जो ब्रजभाषा में था। डिंगल युद्ध के लिए शस्त्र की सहायिका थी, उसमें नाद था, उसमें शक्ति थी और वह पुरुष-भावों के प्रकाशन करने की उपयुक्त शैली लिए हुए थी ऐसी स्थिति में राजस्थान की साहित्यिक भाषा धार्मिक जनता के हृदय में नहीं बैठ सकती थी। वह चारणों तक अथवा चारणों के आश्रयदाता राजाओं तक ही सीमित रह सकती थी। वह रण की भाषा थी, धर्म के स्फुरण की नहीं। फलतः ब्रजभाषा जिसमें फूलों की कोमलता है, अंगूर की मिठास है, साहित्य की भाषा स्वयमेव हो गई, क्योंकि धर्म की भावना प्रदर्शित करने के लिये इससे अधिक सरस और मधुर भाषा किसी प्रकार भी नहीं मिल सकती थी।

साहित्य के नवीन विकास के अवसर पर इस परिवर्तन काल में कुछ प्रवृ-

त्तियाँ और प्रकट हुई थीं। दिल्ली जो राजनीति की रंगशाला थी, मुसलमानी प्रभुत्व में भी साहित्य की रंगशाला बनी रही। अन्तर केवल यही रहा कि वीर गीत गाने वाले कवियों के स्थान पर मनोरंजन और चमत्कार की रचना करने वाले अमीर खुसरो को स्थान मिला। मुसलमानों के आगमन से जैसे वीरगाथा का अवसान और भक्ति का प्रादुर्भाव हुआ वैसे ही मुसलमानों के आमोद के साथ ही साथ मुसलमानी सिद्धांतों का प्रचार भी हुआ, जो आख्यानक कवियों की प्रेमगाथा में प्रस्फुटित हुआ। इस पर आगे विचार किया जायगा।

तीसरा प्रकरण

भक्ति-काल की अनुक्रमणिका

(सन्त-काव्य, प्रेम-काव्य, राम-काव्य तथा कृष्ण-काव्य)

वीरगाथा काल के समाप्त होने के पहले ही साहित्य के क्षेत्र में क्रांति प्रारंभ हो गई थी। मुसलमानों के बढ़ते हुए आतंक ने जनता के साथ साहित्य को भी अस्थिर कर दिया था। मुसलमानी शक्ति और धर्म के विस्तार ने साहित्य का दृष्टिकोण ही बदल दिया था और चारणों की रचनाएँ धीरे-धीरे कम होती जा रही थीं। वे अब विशेषतः राजस्थान ही में सीमित थीं। मध्यदेश में जहाँ मुसलमानी तलवार का पानी राज्यों के अनेक सिंहासनों को डुबा रहा था, चारणों का आश्रयदाता कोई न था। न तो हिन्दू राजाओं के पास बल था और न साहस ही। उनकी परिस्थिति अत्यन्त अनिश्चित हो गई थी। खिलजी वंश के अलाउद्दीन ने समस्त उत्तरी भारत को अपने आधिपत्य में ले लिया था। दक्षिण भारत भी उसके आक्रमणों से नहीं बचा। देवगिरि के यादव राजा रामचंद्र को पराजित कर उसने एलिचपुर अपने राज्य में मिला लिया। वारंगल और होयसल के राजा को भी उसका आधिपत्य स्वीकार करना पड़ा। महाराष्ट्र और कर्नाटक के राजाओं ने भी अधीनता स्वीकार कर ली। अलाउद्दीन के सहायक मलिक काफूर ने तो अपनी राज्यलिप्सा के कारण सन् १३१२ में यादव राजा का कत्ल भी कर दिया। मुसलमानों की इस बढ़ती हुई ऐश्वर्याकांक्षा ने हिंदुओं के अस्तित्व पर भी प्रश्नवाचक चिन्ह लगा दिया। जिन हिन्दू राजाओं में आत्म-सम्मान और शक्ति की मात्रा शेष थी, वे उसकी रक्षा का अनवरत परिश्रम कर रहे थे। विजयनगर का हिन्दू शासक स्वतन्त्र हो गया था। दक्षिण में कृष्णा और तुंगभद्रा के बीच के प्रदेश पर अधिकार पाने के लिये विजयनगर और बह-

मनी राज्य में बहुत युद्ध हुआ करते थे। जो प्रदेश हिन्दुओं के अधिकार में थे वे अपनी सत्ता बनाये रखने में प्रयत्नशील थे। सिन्ध राजपूतों के अधिकार में था, पर मुसलमानी आतंक उस पर भी छाया हुआ था। इस प्रकार राजनीति की मंत्रणाएँ ही राज्यों के उत्थान और पतन की कुंजियाँ थीं। ऐसे अनिश्चित काल में हिन्दू जनता के हृदय में जिस भय और आतंक को स्थान मिल रहा था, वह उनके धर्म को जर्जरित कर रहा था। धर्म की रक्षा करने की शक्ति हिन्दुओं के पास रह ही नहीं गई थी।

मुसलमानों के बढ़ते हुए आतंक ने हिन्दुओं के हृदय में भय की भावना उत्पन्न कर दी थी। यदि मुसलमान केवल लूटमार कर ही चले जाते तब भी हिन्दुओं की शान्ति में क्षणिक बाधा ही पड़ती, किन्तु जब मुसलमानों ने भारत को अपनी सम्पत्ति मानकर उस पर शासन करना प्रारम्भ किया, तब हिन्दुओं के सामने अपने अस्तित्व का प्रश्न आ गया। मुसलमान जब अपनी सत्ता के साथ अपना धर्म प्रचार करने लगे तब तो परिस्थिति और भी विषम हो गई। हिंदुओं में मुसलमान से लोहा लेने की शक्ति नहीं थी। वे मुसलमानों को न तो परा-जित कर सकते थे और न अपने धर्म की अवहेलना ही सहन कर सकते थे। इस असहायावस्था में उनके पास ईश्वर से प्रार्थना करने के अतिरिक्त अन्य कोई साधन नहीं था। वे ईश्वरीय शक्ति और अनुकम्पा पर ही विश्वास रखने लगे। कभी-कभी यदि वीरत्व की चिनगारी भी कहीं दीख पड़ती थी तो वह दूसरे क्षण ही बुझ जाती थी या बुझा दी जाती थी। इस प्रकार दुष्टों को दण्ड देने का कार्य उन्होंने ईश्वर पर ही छोड़ दिया और वे सांसारिक वस्तुस्थिति से परे पारलौकिक और आध्यात्मिक वातावरण में ही विहार करने लगे। इस समय हिन्दू राजा और प्रजा दोनों के विचार इसी प्रकार भक्तिमय हो गये और वीर-गाथा काल की वीर रसमयी प्रवृत्ति धीरे धीरे शान्त शृङ्गार रस में परिणत होने लगी।

राजाओं का राजनीतिक दृष्टिकोण अस्पष्ट और धुँधला हो गया, अतएव वे अपनी महत्त्वाकांक्षा और आदर्श के उच्च आसन पर स्थिर न रह सके। उनके आदर्शों में परिवर्तन होने के कारण चारणों के आश्रय का भी कोई

स्थान नहीं रह गया। वे अब किसकी वीरगाथा गाते और किसे रण के लिए उत्साहित करते। अतः वे भी अपने क्षेत्र से हटने लगे। फल यह हुआ कि डिंगल साहित्य की गतिविधि में भी परिवर्तन आने लगा। उसकी नियमित रचना में बाधा पड़ने लगी और वह नाम के लिए व्यावहारिक भाषा रह गई, उसका साहित्यिक महत्त्व समकालीन साहित्य के लिये सम्पूर्णतः नष्ट हो गया।

इस प्रकार राजनीतिक वातावरण धीरे-धीरे शान्त होता जा रहा था, यद्यपि समय-समय पर उसमें युद्ध का झोंका अवश्य आ जाता था। हिन्दुओं को शान्त करने के लिये मुसलमानों ने उन्हें अपनी संस्कृति से दीक्षित करने का भी प्रयत्न किया, क्योंकि अब मुसलमान भी अपने को इसी देश का निवासी मानने लगे थे। शासकों की नीति-रीति शासितों को प्रभावित अवश्य करती है, इसी सिद्धान्त के अनुसार इस्लाम धर्म भी हिन्दुओं के धार्मिक विचारों में अज्ञात रूप से परिवर्तन लाने में व्यस्त था। हिन्दू धर्म पर आघात होते ही यद्यपि जनता विचलित हो उठी तथापि आत्मरक्षा के विचार से किसी अंश तक हिन्दुओं ने भी इस्लाम धर्म को समझने की चेष्टा की। फलतः धार्मिक विचारों में परिवर्तन होने का सूत्रपात एक ऐसे रूप में प्रारम्भ हुआ जिसने हमारे साहित्य में एक नवीन धारा की ही सृष्टि कर दी। यह नवीन धारा संत काव्य के रूप में प्रवाहित हुई।

संत-काव्य

संत-मत में ऐसे ईश्वर की भावना मानी गई, जो हिन्दू और मुसलमानों के धर्म में समान रूप से ग्राह्य हो सके। उसके कोई मुख-माथा, रूप-कुरूप नहीं है, वह एक है। वह निर्गुण और सगुण दोनों से परे रह कर पुष्प की सुगन्धि से भी सूक्ष्म है। वह सर्वशक्तिमय, सर्व-व्यापक और अखंड ज्योति स्वरूप है। उसके मानने के लिए आत्मज्ञान की आवश्यकता है। हिन्दुओं का राम और मुसलमानों का रहीम उसी ईश्वर का रूपान्तर मात्र है। उसका ध्यान ही महान् धर्म है। इस मत में जहाँ एक ओर अवतारवाद, मूर्तिपूजा और तीर्थ-व्रत आदि का निषेध है, वहाँ दूसरी ओर हलाल. रोजा और नमाज आदि का भी विरोध है। बाह्या-डम्बर के जितने रूप हो सकते हैं उनका वहिष्कार सम्पूर्ण रूप से किया गया

है। यह धर्म का ऐसा रूप है, जो हिन्दू और मुसलमान दोनों को सरलता से ग्राह्य हो सकता है। इस मत के प्रचारक कबीर थे। मुसलमानी संस्कारों में पोषित होने के कारण वे स्वभावतः हिन्दू आचार-विचार से दूर थे, उन्हें मूर्त्ति-पूजा के लिए कोई आकर्षण नहीं था। मुसलमानी अत्याचार की क्रूरता ने इस्लाम की अनेक बातों से उन्हें विरक्त कर दिया था, जिनमें नमाज और रोजा भी थे। मुसलमानों के बढ़ते हुए प्रभाव की वे उपेक्षा भी न कर सकते थे। इस परिस्थिति में उन्होंने इस्लाम और हिन्दू धर्म की सारभूत बातें लेकर इस पंथ की स्थापना की। वे रामानन्द के प्रभाव में आकर माया और ब्रह्म को नहीं छोड़ सकते थे। सन्त-मत का काव्य उच्चकोटि का नहीं है। इस मत की भावना शास्त्र पद्धति के आधार पर भी नहीं थी जिससे शिक्षित वर्ग उसकी ओर आकृष्ट होता। हाँ जनता के हृदय तक पहुँचने के लिये भाषा की सरलता उसमें अवश्य थी। इस प्रकार सन्त-मत अधिकतर साधु और वैरागियों के द्वारा धर्म प्रचार का एक सरल मार्ग ही था। सन्त-मत सगुणवाद का खण्डन भी करता है, इसलिये जनता का अधिकांश समुदाय इसे ग्रहण भी नहीं कर सका। इतना अवश्य है कि जनता के अशिक्षित और साधारण वर्ग को संत-मत ने यथेष्ट प्रभावित किया और मुसलमानी आतंक में भी धर्म की रूपरेखा की रक्षा में उसे बल प्रदान किया। सन्त-मत का साहित्यिक क्षेत्र में विशेष महत्त्व न होते हुए भी धार्मिक क्षेत्र में बहुत बड़ा हाथ रहा।

प्रेम-काव्य

मुसलमानी शासन का दूसरा बड़ा प्रभाव साहित्य में प्रेम-काव्य से प्रारम्भ होता है। उसमें सूफी सिद्धांतों का स्पष्टीकरण हिन्दू पात्रों के जीवन में किया गया है। इस्लाम के बढ़ते हुए स्वरूप ने जहाँ एक ओर हिन्दू धर्म के विश्वास को उच्छिन्न कर संतों के द्वारा निराकार ईश्वर की उपासना का मार्ग तैयार किया वहाँ दूसरी ओर अपने सिद्धांतों के प्रचार के लिए सूफी कवियों की लेखनी को भी गतिशील बनाया। संत-काव्य और सूफी कवियों के प्रेम-काव्य हमारे साहित्य में स्पष्टतः मुसलमानी राज्य के विकार हैं, जो राम और कृष्ण साहित्य पर लिखे गए सिद्धांतों से समानान्तर होते हुए भी वस्तुतः उनसे भिन्न हैं। इतना

अवश्य कहा जा सकता है कि धर्म के वातावरण से दूर न रहते हुए भी प्रेम-काव्य ने हमें सम्पूर्ण रूप से लौकिक कहानियाँ दी हैं। संसार के प्रेम का इतना सजीव वर्णन हमें पहली बार प्रेम-काव्य में मिलता है। इस दिशा में फारसी साहित्य की मसनवियों ने हमारे हिन्दी साहित्य के प्रेम-काव्य को बहुत प्रभावित किया है।

इस्लाम की प्रतिक्रिया के रूप में राम और कृष्ण-काव्य का प्रादुर्भाव हुआ, जिसमें भक्ति की भावना अपनी चरम सीमा पर थी।

धार्मिक काल की यह भक्ति-भावना उत्तरी भारत में पल्लवित होने के पूर्व दक्षिण में अपना निर्माण कर चुकी थी। यह भावना वैष्णव धर्म से उद्भूत हुई थी, जिसका सम्बन्ध भागवत या पंचरात्र धर्म से है। वैष्णव धर्म का आदि रूप हमें विष्णु के देवत्त्व में और देवत्त्व की प्रधानता में मिलता है। विष्णु का निर्देश हमें सबसे पहले ऋग्वेद में मिलता है। विष्णु (विश धातु-व्याप्त होना) ऋग्वेद में प्रथम श्रेणी के देवताओं में नहीं हैं। वे सौर शक्ति के रूप में माने गए हैं। सूर्य सम्पूर्ण सृष्टि में प्रकाश रूप से व्याप्त हैं, इसलिए सूर्य का रूप ही विष्णु है। उनका वर्णन विश्व के सात विभागों को केवल तीन पग ही में पार कर लेने के रूप में किया गया है। ये तीन पग या तो अग्नि, विद्युत्, सूर्य के रूप हैं अथवा सूर्य के आकाश मार्ग की तीन स्थितियाँ, उदय, उत्कर्ष और अस्त हैं। वेद में कभी-कभी उनका साम्य इन्द्र से भी हुआ है यद्यपि वेद के विष्णु महाकाव्यों के विष्णु नहीं हैं तथापि विष्णु में संरक्षण और व्याप्त होने की भावना का जो प्राधान्य पहले था उसी का पल्लवित और विकसित रूप आगे चल कर हमारे आचार्यों और कवियों द्वारा प्रचारित हुआ। शाकपूणि के द्वारा विष्णु के तीन पैरों का रूपक पृथ्वी पर अग्नि, वायुमंडल में इन्द्र अथवा वायु और आकाश में सूर्य के आधार पर समझाया गया है और्णवाभ ने सूर्य का उदय, मध्यान्ह और अस्त ही विष्णु के तीन पैरों के रूप में समझाया है। विष्णु का महत्त्व इतना बढ़ा कर वर्णित किया गया है कि प्रशंसा की दृष्टि से इनका स्थान वैदिक देवताओं में सर्वश्रेष्ठ होता, किन्तु विष्णु को इन्द्र का

राम और कृष्ण-काव्य

सहयोगी और प्रशंसक तथा सोम से उत्पन्न भी कहा गया है। इस कारण उसका महत्त्व बहुत ही गिर गया है।

धार्मिक काल के प्रारम्भ में साहित्यिक वातावरण एक प्रकार से अस्त-व्यस्त था और उसमें विचार साम्य का एकान्त अभाव था। इतना अवश्य था कि भक्ति की धारा का रूप प्रधानता प्राप्त कर रहा था। भक्ति के प्राधान्य के कारण राम और कृष्ण के सम्बन्ध में जो रचनाएँ हुईं उनका निरूपण भक्ति-काल के अन्तर्गत इतिहास में किया जायगा, किन्तु इसका विकास चारणकाल के अवसान के बाद ही हो गया था। इस परिस्थिति का निरूपण इस प्रकार किया जा सकता है :—
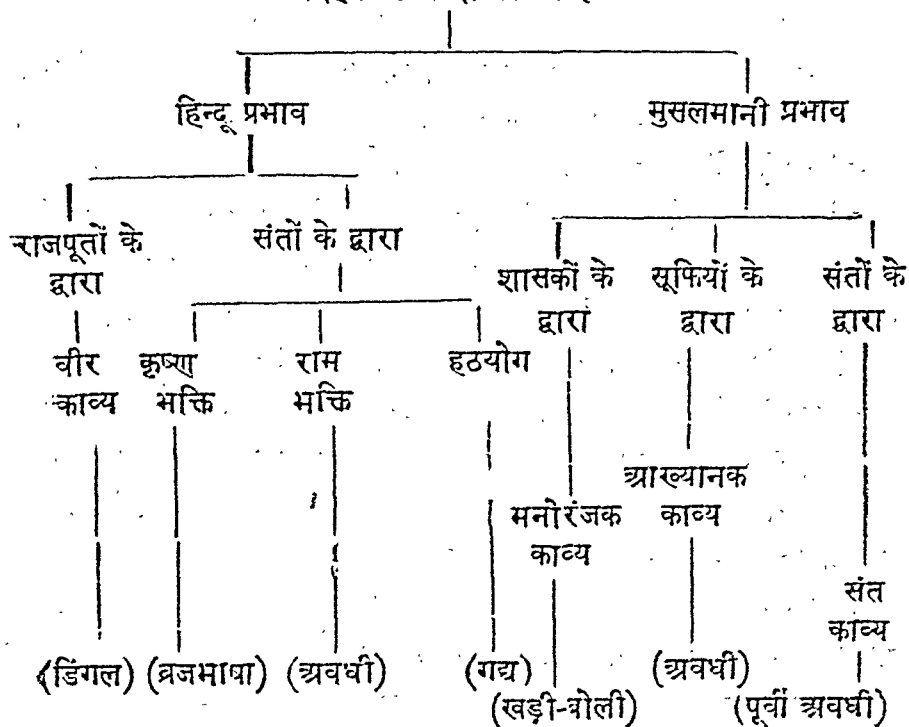
चौथा प्रकरण

भक्ति-काल

(संवत् १३७५ से १७००)

संत-काव्य

कबीर तथा अन्य सन्त कवि

भारतीय जनश्रुतियों में संतों और महात्माओं की जीवन तिथियों को कभी महत्त्व नहीं दिया। अंधविश्वास और अज्ञान से भरी हुई कहानियाँ, श्रद्धा और अलौकिक चमत्कार पर आस्था रखने की प्रवृत्तियाँ हमें अपने सन्तों और कवियों की ऐतिहासिक स्थिति का निर्णय करने की ओर उत्साहित नहीं करतीं। जिन कवियों ने देश और जाति के दृष्टिकोण को बदल कर इसकी उन्नति का मार्ग प्रशस्त किया है और हमारे लिए साहित्य की अमर निधि छोड़ी है, उनका जन्म काल और जीवन का ऐतिहासिक दृष्टिकोण विस्मृति के अंधकार में छिपा हुआ है। कबीर की जन्म-तिथि भी हमारे सामने प्रामाणिक रूप में नहीं है।

कबीर की ऐतिहासिक स्थिति

कबीरदास की जीवनी रहस्यों और भ्रमों से पूर्ण है। उसके सम्बन्ध में हमें कोई स्पष्ट ज्ञान नहीं है। कितना बड़ा दुर्भाग्य है कि हम अपने महाभाव युग प्रवर्त्तक महापुरुष की जीवनी से सर्वथा अपरिचित हैं।

'कबीर चरित बोध' में कबीर का जन्म 'चौदह सौ पचपन विक्रमी जेष्ठ सुदी पूर्णिमा सोमवार' माना गया है। डॉ० माताप्रसाद गुप्त ने एस० आर० पिल्ले की इंडियन क्रोनोलॉजी के आधार पर गणित कर यह स्पष्ट किया है कि

संवत् १४५५ की जेष्ठ पूर्णिमा को सोमवार पड़ता है। डॉ० श्यामसुन्दर दास ने कबीर पंथिकों में प्रचलित दोहे :—

चौदह सौ पचपन साल गए, चन्द्रवार इक ठाट ठए।
जेठ सुदी बरसायत को, पूरनमासी प्रकट भए।

के आधार पर 'गए' को व्यतीत हो जाने के अर्थ में मानकर कबीर का जन्म संवत् १४५६ सिद्ध करने का प्रयत्न किया है किन्तु गणित करने से स्पष्ट है कि ज्येष्ठ पूर्णिमा संवत् १४५६ के अनुसार नहीं पड़ता। यदि कबीर का जन्म संवत् १४५५ (सन् १३९८) में हुआ था तो क्या वे रामानन्द के शिष्य हो सकते थे ! रामानन्द का आविर्भाव काल सन् १२६१ के बाद या सन् १३०० के लगभग माना गया है। अगस्त्य संहिता के आधार पर भी रामानन्द का आविर्माव काल सन् १२९९ या १३०० ठहरता है। यदि हम रामानन्द का जन्म समय सन् १३०० निर्णित करते हैं तो कबीर के जन्म के समय पर ९८ वर्ष रहे होंगे क्योंकि हमने कबीर का जन्म सन् १३९८ निश्चित किया है। कबीर ने कम से कम २० वर्ष में गुरु से दीक्षा पाई होगी अतः कबीर का गुरु होने के लिये रामानन्द की आयु ११८ वर्ष होनी चाहिए। यदि 'बहुत काल वपु धारि' का अर्थ हम ११८ या इसमे अधिक लगावें तो रामानन्द निश्चय रूप से कबीर के गुरु हो सकते हैं। सन् १३०० के जितने वर्ष बाद रामानन्द का जन्म होगा उतने ही वर्ष कबीर के शिष्यत्व के दृष्टिकोण से हम ठीक से रामानन्द की आयु से निकाल सकते हैं।

कबीर का निधन कब हुआ यह भी प्रामाणिक रूप से हमें नहीं ज्ञात है। दास कबीर सिकन्दर लोदी के यदि समकालीन थे तो वे सिकन्दर लोदी के राज्यारोहण काल सन् १४८८ तक अवश्य जीवित रहे। इस काल के कितने समय पश्चात् उनका निधन हुआ यह ठीक प्रकार से नहीं कहा जा सकता है। कबीर की मृत्यु के सम्बन्ध में अभी तक हमें तीन अवतरण प्राप्त हैं—

(१) सुमंत पन्द्रा सौ उनहत्तरा हाई।
सतगुरु भले उटहसां ज्याई॥
(धर्मदास—द्वादशपंथ) यह संवत् है १५६९

(२) पनुहसै उनचास में मगहर कीन्हों गौन।
अगहन सुदी एकादशी, मिले पौन में पौन ॥

(भक्तमाल की टीका)

यह संवत् है १५४९

(३) संवत् पनुहसै पछत्तरा कियो मगहर को गौन।
माघ सुदी एकादशी रह्यो पौन मे पौन ॥

(कबीर – जनश्रुति)

यह संवत् है १५७५

कबीर ने ९६ वर्ष या उससे अधिक आयु पाई थी।

किसी भी साहित्यकार का व्यक्तित्व उसकी रचना में प्रतिबिम्बित होता है। लेखक के व्यक्तित्व से उसके साहित्य का बड़ा ही घनिष्ठ सम्बन्ध है। कोई भी मनुष्य किसी रचना से उसके लेखक के व्यक्तित्व का अनुमान लगा सकता है। कबीर (१५वीं शताब्दी) का साहित्य उनके व्यक्तित्व का सबसे अधिक परिचायक है। कबीर के साहित्य को देखने से ज्ञात होता है कि वे सत्य (दोनों, व्यवहार और साधना) प्रिय थे। उनमें चरित्रबल था जिसके कारण स्पष्टोक्तियाँ उनकी बानियों में लहरें ले रही हैं। वे मान और अपमान के स्तर से ऊपर उठ चुके थे। उन्हें द्रोह, विद्रोह, अशान्ति, वैमनस्य, प्रतिहिंसा की भावना से घृणा थी। वे शान्तिप्रिय थे। अहिंसा और सरलता के वे समर्थक थे। करनी और कथनी में वे भेद नहीं मानते थे। लौकिक जीवन से ऊपर उठने की उनमें साध थी। वे प्रेमी, भक्त, साधक, योगी और विश्वासी थे। दुविधा से वे घृणा करते थे। भेष और वस्त्राचार तथा सत्य के नाम पर अनाचार देख कर वे जल उठते थे। समदृष्टि और सहज को जीवन में वे कार्यान्वित करना चाहते थे। उदारता, विश्वबन्धुत्व, दीनता, धैर्य, संतोष, सहनशीलता और क्षमा उनकी चरित्रगत विशेषताएँ थीं। सत्य-प्रियता के कारण उन्हें जीवन में विरोधों के अनेक तूफानों का सामना करना पड़ा। कबीर स्वतंत्र विचार के व्यक्ति थे। उनमें प्रतिभा थी, मौलिकता थी। उनकी वाणी में बल और हृदय

में साहस था। अप्रिय सत्य कहने में भी उन्हें कोई संकोच नहीं था। मुरौव्वत और रियायत की भावना उनमें स्थान नहीं पा सकी थी।

लेखक के व्यक्तित्व के अध्ययन का दूसरा साधन है उसके समकालीन और परवर्त्ती लेखकों का उसके विषय में कथन। कबीर संतमत के प्रवर्तक और एक विशेष परम्परा के संस्थापक थे। साहित्य और धर्म के क्षेत्र में एक नवीन क्रान्ति के जनक थे। आलोचना की एक नवीन शैली के जन्मदाता थे। १५वीं शताब्दि के सर्वश्रेष्ठ कवि और समाज-सुधारक थे। समकालीन शासक उनसे अत्यधिक प्रभावित था। (यदि किंवदंतियों में जरा भी विश्वास कर लिया जाय।) वे एक नवीन समाज के निर्माता थे। निश्चय ही उन्होंने अपने युग की जनता को प्रभावित किया होगा और निश्चय ही उनके सिद्धान्तों की पुण्य गंगा में अवगाहन कर उनके पश्चात् नानक, दादू, मलूक, जगजीवन, शिवनारायण, दरियाद्व मीरा, सहजो, दयाबाई, धनीदास, गरीबदास, केशवदास, तुलसी (साहब), चरनदास, सुन्दरदास आदि ने भारतीय जनता में समय-समय पर प्रकाश फैलाया। आज इस युग का महापुरुष गांधी भी उनके सिद्धान्तों से अनुप्राणित प्रतीत होता हैं। कबीर के विषय में लिखित इन संतों की बानियों से कबीर के व्यक्तित्व का अनुमान बड़ी सरलता से लग सकता है। अतिशयोक्तियों को छान कर निकाले हुए तथ्यों से कबीर का व्यक्तित्व प्रकाश में लाया जा सकता है।

कबीर के पश्चात् धर्म और समाज के विषय में अभिरुचि रखने वाले सभी कवियों और इतिहासकारों ने कबीर की प्रशंसा की है चाहे वे मुसलमान हों या हिन्दू। दोनों जातियों में उनका आदर था, सम्मान था। उनकी वाणी में प्रभावित करने की शक्ति थी। उनकी वाणी ने समय, वर्ण, वर्ग जाति और समाज के सभी स्तरों को लाँघ कर एक रूप से जनता को प्रभावित किया।

साम्प्रदायिक कवियों का काव्य अतिशयोक्ति एवं अतिरंजना से पूर्ण होता है। फिर भी उन अतिरंजनों के मूल में तथ्य बीज-रूप में वर्तमान अवश्य रहता है, इसमें कोई सन्देह नहीं। धरमदास (सं० १४७५) कबीर के प्रधान शिष्य थे। कबीर के पश्चात् यही गद्दी पर आसीन हुए। इनके शब्दों में कबीर अजर-

अमर व्यक्ति हैं। प्रत्येक युग में एक भिन्न-भिन्न नाम धारण करके अवतार ग्रहण करते हैं। सतयुग में सतसुकृत नाम था; त्रेता में मुनीन्द्र, द्वापर में करुणा तथा कलियुग में कबीर। कबीर सभी युगों में माया रहित हो कर विराजमान रहे हैं :—

जुगन जुगन लीन्हा अवतारा। रहौं निरंतर प्रगट प्रसारा॥
सतयुग सतसुकृत कह टेरा। त्रेता नाम मुनेन्दहि मेरा॥
दोपर में करना मय कहाये। कलियुग नाम कबीर रखाये॥
चारों युग में चारों नाऊ। माया रहित रहै तिहि ठाऊँ॥
जो जाघा पहुँचे नहिं कोई। सुर नर नाग रहैं मुख गोई॥
(ग्रन्थ अवतरण, पृ० ३१-३२)

धरमदास के अनुसार कबीर एक दिव्य पुरुष के रूप में दृष्टिगत होते हैं। परन्तु इस उद्धरण की अंतिम दो पंक्तियाँ विशेष ध्यान देने योग्य हैं। इनसे ज्ञात होता है कि कबीर माया-मोह के पाश से उन्मुक्त थे। "जो जाघा पहुँचे नहिं कोई" और "सुर नर नाग रहै मुख गोई" वहाँ पर कबीर "माया रहित रहैं तिहि ठाऊँ।" कबीर ने जीवन पर्यन्त माया के बन्धनों से दूर रहने का उपदेश दिया है। उनकी वाणियों में अनेक ऐसे कथन हैं। इसलिए कबीर के विषय में धरमदास की अन्तिम दो पंक्तियाँ मान्य हैं। नाभादास जी ने भक्त-माल में लिखा है :—

(१) कबीर कानि राखी नहीं वर्णाश्रम षट दरस की।
भक्ति विमुख जो धर्म सो अधरम कर्म गायो।
जोग जग्य व्रतदान भजन बिनु तुच्छ दिखायो॥
हिन्दू तुरक प्रमान रमैनी शब्दी साखी।
पक्षपात नहिं बचन, सब ही के हित की भाखी॥
आरूढ़ दसा ह्वै जगत पर मुख देखी नाहिन भनी।
कबीर कर्म न राखी नहीं वर्णाश्रम षट दरसनी॥
(३२७ छप्पय)

(२) अति ही गंभीर मति सरस कबीर हियो।
लियो भक्ति भाव जाति पांति सब टारिये॥
(कवित्त ५१५)

(३) बीनै लानौ बानौ, हियै राम मँडरानौ।
कहि कैसे कै बखानौं, वह रीति कछु न्यारियै॥

(४) उतनोई करै जामे तन निरवाह होय।
भाय गयी और बात भक्ति लागी प्यारियै॥
(कवित्त ५१३)

इन उद्धरणों से ज्ञात होता है कि (१) कबीर ने चार वर्ण, चार आश्रम, छ दर्शन किसी की भी 'आनि कानि' नहीं रखी। केवल भक्ति को ही दृढ़ किया। भक्ति से विमुख धर्मों को अधर्म कहा। सत्‌भक्ति से रहित तप, योग, दान, व्रतादि तुच्छ बताये। आर्य और अनार्य, हिन्दू और मुसलमान को सिद्धांत की बातों का ज्ञान कराया। (२) उनकी मति गंभीर और अन्तःकरण भक्ति से सरस था। वह भजन भाव में संलग्न रहते थे और जाति-पाँति एवं वर्णाश्रम में आस्था नहीं रखते थे। (३) वे कपड़ा बुनने का उद्यम करते थे। यद्यपि बाह्य रूप से ताना-बाना का कार्य करते थे, पर अन्तःकरण से ब्रह्म में ही लीन रहते थे। (४) उद्यम तो केवल उतना करते थे जितने से उनकी जीविका चल जाय। इसके सिवाय उनका चित्त पूर्ण रूपेण ब्रह्म में ही लगा रहता था। (५) कबीर अपने सिद्धान्त का समर्थन करना जानते थे। सिकन्दर द्वारा उत्पीड़ित और पाखंडियों द्वारा अपमानित होने पर भी वे अपने सिद्धान्तों से अडिग रहे। उन्हें सिद्धान्तों से विचलित करने के अनेक उपाय हुए पर वे सभी विफल हो गये। भक्तमाल की इन पंक्तियों से कबीर के व्यक्तित्व पर अच्छा प्रभाव पड़ता है। नाभादास के इस कथन में कहीं भी कोई अतिशयोक्ति नहीं उपलब्ध होती है। कबीर के सभी स्वाभाविक गुणों का परिचय इन उद्धरणों से प्राप्त होता है।

अकबर के समय में अबुल फ़ज़ल अल्लामी ने आइन-ए-अकबरी की रचना की। इस ग्रन्थ में कबीर के लिये "मुवाहिद" अर्थात् 'एकता प्रेमी' शब्द का प्रयोग हुआ है। इस ग्रन्थ में कबीर के विषय में लेखक ने दो बार

उल्लेख किया है। १२६ पृष्ठ पर उनका परिचय देते हुए लेखक का कथन है है "कबीर मुवाहिद यहाँ विश्राम करते हैं और आज तक उनके कारण और कृत्यों के सम्बन्ध में अनेक विश्वस्त जन-श्रुतियाँ कही जाती हैं। वे हिन्दू और मुसलमान दोनों के द्वारा अपने उदार सिद्धान्तों और पवित्र जीवन के कारण पूज्य थे।" पृष्ठ १७१ पर लेखक का कथन है कि "कोई कहते हैं कि रतनपुर (सूबा अवध) में कबीर की समाधि है जो ब्रह्मैक्य का मंडन करते थे। आध्यात्मिक दृष्टि का द्वार उनके सामने अंशतः खुला था। उन्होंने अपने समय के सिद्धान्तों का भी प्रतिकार कर दिया था।" आइन-ए-अकबरी के इन कथनों से ज्ञात होता है कि कबीर समदृष्टिवान व्यक्ति थे। वे दोनों ही वर्गों में पूज्य थे और उदार सिद्धान्तों के पोषक और प्रचारक थे।

कबीर के गुरुभाई पीपा और रैदास ने प्रायः एक से ही शब्दों में कबीर का यशोगान करते हुए कहा है :—

जाकै ईद बकरीद नित गउरे वध करै मानिये सेष सहीद पीरां।
बापि वैसी करी पूत ऐसी धरी नाव नवखण्ड परसिध कबीरा॥

—पीपा

जाकै ईद बकरीदि कुल गउरे वधि करहि, मानियहि सेख सहीद पीरा।
बापि वैसी करी पूत ऐसी सरी तिहुरे लोक परसिधा कबीरा॥

(रैदास)

दोनों का एक ही कथन है कि मानव का भला और बुरा होना उसके कुल या जाति पर निर्भर नहीं है। कुलीनता और अभिजात्य का गर्व झूठा है। जिसके कुल में गोवध होता था, लोग बाह्य आडम्बरों में लीन थे, उसी कबीर ने ऐसा आचरण किया कि तीन लोक नौ खण्ड में प्रसिद्ध हो गया। इन पंक्तियों से कबीर का विद्रोहात्मक आचरण प्रकट होता है। पीर शहीद, शेष वे गुलाम, ईद बकरीद में ब्रह्म का रूप देखने वाले परिवार में उत्पन्न होकर भी कबीर ने भिन्न आचरण किया। इसके अतिरिक्त पीपा ने अनेक स्थलों पर कबीर की बड़ी प्रशंसा की है। उनकी वाणी का एक पद उद्धृत किया जाता है।

जो कलिमाँझ कबीर न होते।
तौलै...वेद अरु कलिजुग मिलिकरि भगति रसातलि देते ॥
अगम निगम की कहि काहै पाँउ फला भाभोत लगाया।
राजस तामस स्वावक कथिकथि इनही जगत भुलाया ॥
सागुन कथिकथि मिला पनाया काया रोग वढ़ाया।
निरगुन नीक पियौ नहीं गुरुमुष तातै हाटै जीव निराया ॥
बहता स्रोता दोऊ भूले दुनीयां सबै भुलाई।
कलि विद्धकी छाया वैठा क्यूं न कलपना जाई ॥
अंध लुकटिया गही जु अंधै परत कूप थित थोरै।
अवरन बरन दोऊ से अंजन आषि सवन की कोरै ॥
लसे पतित कहा कहि रहेते थे कौन प्रतीत मन धरते।
नाँनाँ वानी देवि सुनि स्रवन वहौं मारग अणसरते ॥
त्रिगुण रहत भगति भगवंत कीतिरि, विरला कोई पावै।
दया होइ जोइ कृपानिधान की तौ नाम कबीरा गावै ॥
हरि हरि भगति भगत कवलीन त्रिविधि रहत थित मोहै।
पाखण्ड रूप भेष सव कंकर ग्यांन सुपले स है ॥
भगति प्रताप राण्य वेकारण निज जन आप पठाया।
नाम कबीर साम साम पर करिया तहाँ पीपै कछु पाया ॥

भारतवर्ष में धर्म के नाम पर कौन से अनाचार और दुराचार नहीं हुए ! कबीर के समय तक धर्म का स्वच्छ सहज रूप अत्यन्त विकृत और विस्मृत हो गया था। ऐसी दशा में कबीर ने जनता को साधना का जो मार्ग प्रदर्शित किया, वही सबसे अधिक कल्याणप्रद था, साथ ही समय की माँग पूर्ण करता था। कबीर का व्यक्तित्व इस दृष्टि से बड़ा महत्वपूर्ण है। तथ्य तो यह है कि पीपा की प्रथम दो पंक्तियाँ कबीर के समस्त महत्त्व को प्रकाश में ला देती हैं।

मिर्जा मोहसिन फानी ने 'दबिस्ताने मजा हिन्द' में लिखा है कि :—

"कबीर जुलाहानजाद कि अज़ मोवहिदान मशहूर हिन्द अस्त।
मर्दुम बारामानन गुफतन्द दरीशहर जुलाहान जादेस्त ॥"

अर्थात् "भारतवर्ष के जुलाहों में कबीर प्रसिद्ध अद्वैत ब्रह्म का उपासक था। लोग रामानन्द से कहते हैं कि इस शहर के एक जुलाहे का लड़का है जो अपने को आपका शिष्य कहता है।"

गुरु ग्रन्थ साहब में सिद्ध सन्तों के साथ कबीर का भी कई बार उल्लेख हुआ है। उदाहरणार्थ :—

(१) नाम छींवा कबीरु जुलाहा पूरे गुरते गति पाई।
(पृ० ५६)

(२) हरि के नाम कबीर उजागर जनम जनम के काटे कागर।
(पृ० २६४)

(३) नामदेव कबीर विलोभनु सधन्न रैनु तरै।
कहि रविदास सुनहु से सबहु हरि जीउते समै सरै॥
(पृ० ५६८)

इन सभी पंक्तियों से कबीर की भक्ति-भावना पर प्रकाश पड़ता है। इसमें कोई शंका की बात नहीं है कि कबीर ने सर्वप्रथम भारतीय समाज में साधना के सब पथ और बाह्याचार के भेद दिखा कर जनता को निःसार बातों से दूर रहने के लिए उपदेश दिया था। ज्ञात होता है कि वे दीन-दुखियों की निरंतर सेवा किया करते थे। कितने ही व्यक्तियों को वे अपने घर का सामान उठा कर दे देते और उन्हें संकट से उन्मुक्त करते थे।

वर्ण्यविषय

कबीर के ग्रन्थों का वर्ण्य विषय एक ही है। वह है ज्ञानोपदेश। कुछ परिवर्तन कर यही विषय प्रत्येक ग्रन्थ में प्रदिपादित किया गया है। विस्तार में उनके वर्ण्य विषय यही हैं :—

योगाभ्यास, भक्त की दिनचर्या, सत्य-वचन, विनय और प्रार्थना, आरती उत्तारने की रीति, नाम महिमा, संतों का वर्णन, सत्पुरुष निरूपण, माया-विषयक सिद्धान्त, गुरुमहिमा, रागों में उपदेश, सत्संगति, स्वर ज्ञान आदि। ये सब या तो उपदेशक की भाँति प्रतिपादित किया गया है या धर्मदास से सम्वाद के

रूप में। विषय घुमा-फिरा कर निर्गुण ईश्वर का निरूपण हो जाता है। अनेक स्थानों पर सिद्धान्त और विचारों में आवर्तन भी हो जाता है। यह सब ज्ञान सरल और व्यावहारिक ढंग से वर्णित है, काव्य के सौन्दर्य से नहीं। सरल और व्यावहारिक होने के कारण यह ज्ञान जनता के हृदय में सरलता से बैठ जाता है। पाठ के विषय में ऊपर लिखा जा चुका है।

भाषा, ग्रन्थों का स्वरूप और उनका सम्पादन

कबीर ने अपनी भाषा पूरबी लिखी है, पर नागरी प्रचारिणी सभा ने कबीर ग्रन्थावली का जो प्रामाणिक संस्करण प्रकाशित किया है, उसमें पूरबीपन किसी प्रकार भी नहीं है। इसके पर्याय और उसमें पंजाबी-पन बहुत है। इससे ग्रन्थ के सम्पादक जी शिष्यों या लिपिकारों की कृपा ही समझते हैं। यह बहुत अंशों में सत्य भी है।

कबीर की भाषा

कबीर ग्रन्थावली का सम्पादन डा० श्यामसुन्दर दास ने किया है। यह नागरी प्रचारिणी सभा (काशी) की ओर से प्रकाशित हुई है। इस ग्रन्थावली का सम्पादन दो हस्तलिखित प्रतियों के आधार पर किया गया है जिनकी अनुलिपि की तिथियाँ क्रमशः संवत् १५७१ तथा १८८१ हैं।

कबीर ग्रन्थावली की भाषा में पंजाबीपन अत्यधिक है। कबीरदास जो बनारस के निवासी थे, उनकी मातृभाषा बनारसी बोली थी जिसकी गणना पश्चिमी भोजपुरी के अन्तर्गत है। अब प्रश्न यह उठता है कि उनकी भाषा में पंजाबीपन कहाँ से आया। इसके दो कारण हो सकते हैं। प्रथम यह कि अनुलिपिकर्त्ता ने भोजपुरी शब्दों तथा मुहावरों को अनुलिपि करते समय पंजाबी में परिवर्तित कर दिया हो अथवा संतों के सत्संग के कारण कबीर को पंजाबी का पर्याप्त ज्ञान हो गया हो और उन्होंने स्वयं इसी रूप में इन पदों की रचना की हो। डाक्टर दास के मतानुसार दूसरी सम्भावना ही ठीक है, किन्तु मैं समझता हूँ कि पहली सम्भावना में ही तथ्य का अंश अधिक है।

जो दशा कबीर की भाषा की हुई ठीक वही बुद्ध की भाषा की भी हुई थी

जो कबीर से दो सहस्र वर्ष पूर्व पैदा हुए थे। फ्रांस के प्रसिद्ध विद्वान् स्वर्गीय सिल्वां लेवी तथा जर्मनी के संस्कृत के पंडित लुडर्स ने अपने दो लेखों में यह स्पष्ट रूप से प्रमाणित कर दिया है कि किस प्रकार दाक्षिणात्य बौद्धों (स्थविर-वादियों) के बुद्धवचन की भाषा में ऐसे रूप भी वर्तमान हैं जो वस्तुतः प्राचीन मागधी के हैं। स्थविरवादियों (सिंहल निवासियों) के त्रिपिटक की भाषा पालि है जिसका सम्बन्ध स्पष्ट रीति से मध्य प्रदेश की भाषा से है। इस पालि त्रिपिटक में ही प्राचीन मागधी के रूप मिलते हैं जिससे यह सिद्ध हो जाता है कि वर्तमान पालि त्रिपिटक की रचना के पूर्व त्रिपिटक की कुछ ऐसी प्रतियाँ भी प्रचलित थीं जिनकी भाषा प्राचीन मागधी थी। जब मध्य देश की भाषा पालि में आधुनिक त्रिपिटक को परिवर्तित किया गया, तो भी प्राचीन मागधी भाषा के कुछ शब्द तथा मुहावरे आदि यत्र-तत्र रह ही गये।

ठीक ऊपर की दशा कबीर की भाषा की भी हुई। यह बात प्रसिद्ध है कि कबीर शिक्षित न थे, अतएव बनारसी बोली के अतिरिक्त अन्य किसी साहित्यिक भाषा में रचना करना उनके लिये सम्भव न था। यह बनारसी बोली अथवा उस समय की भोजपुरी केवल प्रांतीय व्यवहार की भाषा थी। इसे न तो ब्रज-भाषा की भाँति शौरसेनी अपभ्रंश की परंपरागत प्रतिष्ठा ही प्राप्त थी और न नवीन विकसित खड़ी बोली की भाँति मुसलमान शासकों की संरक्षिता ही मिली थी। भोजपुरी क्षेत्र के पश्चिम में कबीर की वाणी के प्रसार के लिये यह आव-श्यक था कि उनके पदों तथा साखियों का अनुवाद ब्रजभाषा, खड़ी बोली अथवा दोनों के सम्मिश्रण में हो। ऐसा करने ही से इनके सिद्धांतों का प्रचार पश्चिमी पंजाब से बंगाल तक और हिमालय से लेकर गुजरात तथा मालवा तक हो सकता था। ब्रजभाषा तथा खड़ी बोली में अनुवाद का यह कार्य केवल मूल भोजपुरी के कतिपय शब्दों के रूप बदल देने से ही सम्पन्न हो सकता था।

कबीर का ज्ञान विस्तृत था, उन्होंने देश-भ्रमण भी खूब किया था। ऐसी अवस्था में इस बात की भी संभावना है कि उन्हें ब्रज, खड़ी बोली तथा कोसली (अवधी) का पर्याप्त ज्ञान हो और उन्होंने स्वयं इन भाषाओं में रचना की हो, किन्तु सम्वत् १५६१ की प्राचीन प्रति के आधार पर सम्पादित कबीर ग्रन्था-

वली के पदों में भोजपुरी रूपों को देखकर यही धारणा पुष्ट होती है कि बुद्ध-वचन की भाँति ही कबीर की वाणी पर भी उनके भक्तों द्वारा पछाँही रंग चढ़ाया गया।

यह बात अवश्य है कि कबीर की कविता में कला का अभाव है। उनकी रचना में पद-विन्यास का चातुर्य नहीं है। उल्टवाँसियों में क्लिष्ट कल्पना है, भाषा बहुत भद्दी है, पर उन्होंने काव्य के इन उपकरणों को जुटाने की चेष्टा भी तो नहीं की। वे एक भावुक और स्पष्टवादी व्यक्ति थे और उन्होंने प्रतिभा के प्रयोग से अपने संदेश को भावनात्मक रूप देकर हृदयग्राही बना दिया था। वे धर्म की जिज्ञासा उत्पन्न करने के लिए उल्टवाँसियाँ लिखते थे और संकीर्णता हटाने के लिए रेखते। उनकी कला उनकी स्पष्टवादिता में थी, उनकी स्वाभाविकता में थी। यह स्वाभाविकता उनकी सबसे बड़ी निधि है। कबीर के विरह के पद साहित्य के किसी भी उत्कृष्ट कवि के पदों से हीन नहीं हैं। उनकी विरहिणी आत्मा की पुकार काव्य-जगत में अद्वितीय है। रहस्यवाद के दृष्टिकोण से यदि उनकी "पतिव्रता कौ अंग" पढ़ा जावे तो ज्ञात होगा कि उनका कवित्व संसार के किसी भी साहित्य का शृङ्गार हो सकता है।

उत्तरी भारत में कबीर का महत्व बहुत अधिक था। वे रामानंद के प्रधान शिष्य थे। उनका निर्भीक विषय-प्रतिपादन उनके समकालीन भक्तों और कवियों में उन्हें सर्वश्रेष्ठ प्रमाणित कर देता है। यही कारण है कि वे अपने गुरु का अनुकरण न करते हुए भी स्वयं अनेक भक्तों और कवियों के आदर्श हो गए।

कबीर का भक्ति-तत्व

इस देश के प्रमुख सन्तों में सन्त कबीर की मान्यता असंदिग्ध है। उन्होंने जीवन के चिरन्तन सत्य को इतनी सरल और सुबोध वाणी में व्यक्त किया है कि वह हमारे प्रति दिन के अनुभव का सहज भाग बन गया है। उन्होंने इतने व्यापक दृष्टिकोण से धर्म के मर्म को समझा है कि उसमें सम्प्रदाय या वर्ग की विभाजक सीमाएँ मिट गई हैं और मानवता अपने छिन्न-भिन्न हुए जाति के विभेदों को भूल कर सम्बद्धता से जीवन की इकाई बन गई है। उसमें हिन्दू मुसलमान एवं ब्राह्मण और शूद्र अपने कर्मकांड और आडम्बर को छोड़कर

एक पंक्ति में खड़े हो गये हैं और अपनी व्यक्तिगत महानता या हीनता को छोड़कर पारस्परिक समता और एकता के प्रेमपाश में आबद्ध हो गये हैं। कबीर ने धर्म के मूल सिद्धान्तों की तुला पर मानवता को तौल कर सृष्टि के मध्य में उसका वास्तविक मूल्य निर्धारित किया है।

कबीर ने सांस्कृतिक दृष्टिकोण से जो सबसे प्रमुख कार्य किया वह यह कि उनके विचारों के प्रतिपादन करने की शैली जन साधारण की समझ की वस्तु बन गई। धर्म के गूढ़ और जटिल सिद्धान्त जो भाषा और साहित्य के कठोर नियन्त्रण में सरलता से समझ में नहीं आते और जिनके लिये सतत अभ्यास करना पड़ता है तथा जो केवल पंडितों और विद्वानों की विचार सम्पत्ति बने रहते हैं उन्हें कबीर ने जनता की भाषा और भाव राशि में सजा कर बोधगम्य बना दिया। कोई भी आन्दोलन या धार्मिक अभियान तब तक सफल नहीं हो सकता जब तक कि वह जनता का मनोबल प्राप्त नहीं कर लेता / जनता का जागरण ही राष्ट्र का जागरण है। ऐसे बहुत से कवि हैं जो अपने पांडित्य और काव्य-कौशल से पठित वर्ग का मनोरंजन कर लेते हैं किन्तु तुलसी, सूर और कबीर की भाँति ऐसे बहुत कम कवि हैं जो अपनी उदात्त प्रतिभा के बल पर अशिक्षितों और जनसाधारण का केवल मनोरंजन ही नहीं करते वरन् उनके विचारों का परिष्कार करके उन्हें प्रगति के पथ पर अग्रसर करते हैं। जन-साधारण की बातों में तत्व की बड़ी बात कह देना महाकवियों का ही काम है। ईश्वर संसार के कण-कण में परिव्याप्त है किन्तु कोई भौतिकवाद का बड़े से बड़ा आलम्बन लेकर भी उस ईश्वर की अनुमति प्राप्त नहीं कर सकता। उसके समझने के लिए तो सूक्ष्म बुद्धि की आवश्यकता है। अहंकार के विनाश की शर्त है, लघु होने की बात है। जो अपने को जितना छोटा समझेगा वह ईश्वर के उतने ही समीप होगा। वही उस रस को जान सकता है जो उस रस का ज्ञाता है, रसिक है। यह बात कबीर ने कितने सुन्दर ढंग से कही है।

हरि है खांडु रेतु महि बिखरी, हाथी चुनी न जाई।
कहि कबीर गुरि भली बुझाई, चीटी होइ कै खाई।

हरि तो खांड की तरह है जो संसार रूपी रेत में बिखर गया है। मद से उन्मत्त मन रूपी हाथी उसे चुन नहीं सकता। कबीर कहते हैं कि गुरु ने मुझे अच्छी युक्ति बतला दी है। मैं सूक्ष्म और सहज शक्ति से चींटी बनकर उस खांड को खा रहा हूँ।

हाथी, चींटी, खांड प्रतिदिन के अनुभव के विषय हैं जिन्हें अशिक्षित से अशिक्षित ग्रामीण समझ सकता है। कबीर ने हमारे देश के अशिक्षित और कम पढ़े-लिखे लोगों में धर्म की सच्ची भावना जगा दी यह। कार्य कितना अधिक सांस्कृतिक और राष्ट्रीय महत्व रखता है यह कहने की आवश्यकता नहीं।

एक बात और है। कबीर ने धर्म और जीवन में कोई भेद नहीं रहने दिया। जीवन की सात्विक अभिव्यक्ति ही धर्म का सोपान है। जिस धर्म के लिये जीवन की स्वाभाविक और सात्विक गति और यति में परिवर्तन करना पड़े उसे हम धर्म की संज्ञा नहीं दे सकते। अतः धर्म के नाम पर जो आडम्बर और कर्मकांड से परिपूर्ण दम्भ फैला हुआ है वह धर्म नहीं है। धर्म तो जीवन की सहज और पवित्र अनुमति का ही दूसरा नाम है। अतः धर्म जीवन ही में है, हृदय में ही है, उसकी पूर्ति के लिये हमें तीर्थाटन करने की आवश्यकता नहीं है। यह बाहरी संसार में नहीं है। बाहर की माला का कोई महत्व नहीं है। माला तो हमारी सांस की है जिसमें न काठ है। न गांठ है। स्वाभाविक क्रम से चलती है। उसी में हम ईश्वर का नाम पिरो सकते हैं। और यही माला जीवन भर चलती है। कभी पुरानी नहीं होती, टूटती भी नहीं, अगर टूटती है तो जीवन के साथ ही टूटती है। इस भाँति कबीर ने जनता में जिस धर्म का प्रतिपादन किया वह मानव जीवन का स्वाभाविक धर्म है, उसके लिये मन्त्र अभिचार की आवश्यकता नहीं, पूर्ति और तीर्थ की अनिवार्यता नहीं। जीवन और धर्म एक है। उसमें शास्त्र की मध्यस्थता की आवश्यकता नहीं है।

जिन पायँन मुह बहु फिरे घूमे देस विदेस।
पिया मिलन जब होइया आंगन भया विदेस ॥

धर्म का प्रधान अंग विश्वास और भक्ति है। विश्वास का सम्बन्ध ईश्वर

की सर्वव्यापकता और सर्व शक्तिमत्ता में है और भक्ति का सम्बन्ध भक्त की निश्छल प्रेरणा और प्रेमानुरक्ति में है।

पन्द्रवीं शताब्दी में जब सन्त कबीर का आविर्भाव हुआ था उस समय काशी में रामानन्द का प्रभाव अत्यधिक था। यों तो श्री रामानुजाचार्य की शिष्य परम्परा में होने के कारण रामानन्द श्री सम्प्रदाय के अन्तर्गत विशिष्टाद्वैत के समर्थक थे, किन्तु स्वयं अपने सम्प्रदाय में मान्य अध्यात्म रामायण के दृष्टिकोण से वे अद्वैतवाद में भी विश्वास रखते थे। इस प्रकार रामानन्दजी से विशिष्टाद्वैत और अद्वैतवाद दोनों ही को बल मिल रहा था। पूर्व में गोरखनाथ का शैव सम्प्रदाय भी हठ योग की क्रियाओं में प्रतिफलित हो रहा था। झूँसी, मानिकपुर और जौनपुर में सूफियों की प्रधान शाखाएँ सूफीमत के कादिरी सम्प्रदाय का प्रचार कर रही थीं। समकालीन होने के कारण कबीर की विचार-धारा भी व्यक्त और अव्यक्त रूप से इन सम्प्रदायों से प्रभावित हो रही थी। किन्तु इन प्रभावों के होते हुए भी कबीर की विचार-दृढ़ता और मौलिकता में कोई अन्तर नहीं आ सकता था।

इसका कारण था। कबीर शास्त्रीय ज्ञान की अपेक्षा अनुभव ज्ञान को अधिक महत्त्व देते थे। उनका संतों के सत्संग में विश्वास था और वे सन्तों की अनुभव-गम्य विचार-धारा में अवगाह्य करना अधिक उचित और विश्वसनीय समझते थे। जो कोई भी धर्म उनके समक्ष आता था उसे वे अपने अनुभव और सत्य की तुला पर तोलते थे और उसके अनुमत सत्य को ग्रहण कर अपनी विचार-धारा के अनुसार उसका प्रतिपादन करते। उन्होंने अद्वैत से इतना तो ग्रहण किया कि ब्रह्म एक है, द्वितीय नहीं और जो भी दृश्यमान है वह माया है जो मिथ्या है। पर उन्होंने माया का मानवीकरण उसे कंचन और कामिनी का पर्याय माना और सूफीमत के शैतान की भाँति पथभ्रष्ट करने वाली समझा। उनका एक ईश्वर निराकार और निर्विकार है। वह अजन्मा है, अरूप है। उसे मूर्ति और अवतार में सीमित करना उस ब्रह्म की सर्वव्यापकता पर प्रश्न चिन्ह लगाना है। किन्तु ऐसे ईश्वर की जो अरूप है, निर्गुण है, भक्ति कैसे हो सकती है। भक्ति तो व्यक्तित्व की अपेक्षा रखती है, वह साकार की भावना चाहती है किन्तु

कबीर का ब्रह्म तो निराकार है। अद्वैतवाद के निराकार ब्रह्म के प्रति भक्ति की संभावना कैसे हो सकती है। किन्तु कबीर को तो जनता में इस निराकार सर्वव्यापी अनंत ब्रह्म का उपदेश करना है लोगों के मन में उसके प्रति अनुरक्ति और भक्ति जागृत करना है। इस कठिनाई को किस प्रकार हल किया जाय।

कबीर ने इसके लिए प्रतीकों का आश्रय लिया। वे कर्मकाण्ड में विश्वास तो करते नहीं थे। अतः मूर्ति और अवतार के प्रति उनके हृदय में कोई आस्था नहीं थी। उन्होंने अपने ब्रह्म से मानसिक सम्बन्ध जोड़ा और ब्रह्म को अनेक प्रकार से अपने समीप लाने की विधि सोची। उन्होंने ब्रह्म को गुरु, राजा, पिता, माता, स्वामी, मित्र और पति के रूप में मानने की शैली अपनाई। ब्रह्म का गुरु रूप देखिये :

गुरु गोविंद तौ एक हैं, दूजा यहु आकार।
आपा मेटि जीवत मरै, तौ पावै करतार॥

ब्रह्म का राजा रूप देखिये :

राजा राम कवन रंगे, जैसे परिमल पुहुप संगे।

अथवा

अब मैं पायो राजा राम सनेही
जा बिन दुख पावै मेरी देही।

ब्रह्म का पिता रूप देखिये :

बाप राम सुनि बीनती मोरी
तुम्ह सूँ प्रगट लोगनि सों चोरी।

ब्रह्म का जननी रूप देखिये :

हरि *जननी* मैं बालक तोरा
काहे न औगुण बकसहु मोरा।

ब्रह्म का स्वामी रूप देखिये :

कबीर प्रेम न चाखिया चखि न लीया *साव*
सूनें घर का पाहुणा ज्यूँ आया त्यूँ जाव।

ब्रह्म का मित्र रूप देखिये :

देखी कर्म कबीर का, कछु पूरब जनम का लेख।
जाका महल न मुनि लहै, सो दोसत (दोस्त) किया अलेख।

ब्रह्म का पति रूप देखिये :

हरि मेरा पीव भाई हरि मेरा पीव।
हरि बिन रहि न सके मेरा जीव॥

इन प्रतीकों में पति या प्रियतम का रूप प्रधान है। इसी प्रतीक में कबीर के रहस्यवाद का रूप निखरा है। रहस्यवाद में साधक और साध्य में इस प्रकार की एकात्मता हो जाती है कि दोनों में किसी प्रकार का अन्तर नहीं रह जाता। यह एकात्मता प्रेम पर ही आश्रित है। अतः कबीर ने अपने प्रतीकों की सार्थकता के लिये प्रेम को ही साधना का प्रमुख अंग माना है। यह प्रेम जहाँ एक ओर विशिष्टाद्वैत की भक्ति का प्राण है वहाँ दूसरी ओर यह सूफी मत के इश्क का रूपान्तर मात्र है। इस भाँति कबीर ने अपने प्रेम तत्व से वैष्णवी भक्ति और सूफीमत दोनों की प्रमुख भावनाओं का प्रतिनिधित्व किया है। इसीलिए इस प्रेम को कभी कबीर ने भक्ति कहा है और कभी इश्क या उसका प्रतीक मदिरा या मादकता उत्पन्न करने वाला। इस प्रेममयी भक्ति का रूप देखिये :

चरन कमल चित लाइये राम नाम गुन गाइ
कहे कबीर संसा नहीं भगति मुकति गति पाइ

मदिरा या रस का रूप देखिये :

हरि रस पीया जाणिये जे कबहूँ न जाइस खुमार
मैंमन्ता घूमत रहै नाहीं तन की सार

प्रेम में आडम्बर नहीं होता अतः कबीर ने अपनी भक्ति को एकमात्र मानसिक रूप ही दिया है। उनकी भक्ति में कर्मकाण्ड नहीं है। अतः वैष्णवों की नवधा भक्ति के पादसेवन, अर्चन, वन्दन, दास्य, और सख्य भक्ति का रूप कबीर की भक्ति में नहीं है। कबीर की भक्ति में तो केवल श्रवण, कीर्तन, स्मरण और

आत्मनिवेदन है जिनका सम्बन्ध एकमात्र मानसिक पक्ष से है। इस भाँति कबीर की भक्ति के रूप ने पन्द्रहवीं शताब्दी के अव्यवस्थित साधना मार्ग को एक अन्यत्र व्यावहारिक पक्ष प्रदान किया। संक्षेप में उनकी भक्ति से कितनी आवश्यकताओं की पूर्ति हुई उनका विवरण देखिये।

१—ब्रह्म को रूप और गुण में सीमित न करते हुए उसे प्रतीकों द्वारा मानसिक धरातल पर लाने में सफलता।

२—अशिक्षित और अर्धशिक्षित जनता के हृदय में ब्रह्म की अनुभूति उत्पन्न करने के लिये विविध सम्बन्धों की अवतारना और शुरू राजा, पिता, माता, स्वामी, मित्र और पति के रूपों से उससे निकटता स्थापित करना।

३—प्रेम के माध्यम से आडम्बर और कर्मकांड की आवश्यकता को दूर करना।

४—सूफी मत के प्रेम तत्व और वैष्णव धर्म के भक्ति तत्व को मिलाकर हिन्दू और मुसलमानों के बीच साम्प्रदायिकता को दूर करना।

५—विश्वव्यापी प्रेम से विश्व-धर्म की स्थापना करना जिसमें वर्ग भेद और जाति भेद के लिये कोई स्थान नहीं है।

६—इस प्रेम के माध्यम से हृदय के समस्त आत्म-समर्पण की भावनाओं को जाग्रत करना जिसमें पति-पत्नी के प्रेम की पूर्णता से रहस्यवाद की व्यावहारिक परम्परा का सूत्रपात करना।

इस भाँति कबीर की इस मानसिक भक्ति में प्रेम की प्रधानता है। यह प्रेम इतना व्यापक है कि उसमें ब्रह्म अनेक नामों से सम्बोधित हुआ है। परम्परा से चली आने वाली भक्ति में ब्रह्म के जिन नामों का प्रयोग होता चला आया है उन नामों को कबीर ने निस्संकोच स्वीकार किया। ब्रह्म के तो अनेक नाम हैं। सब समस्त सृष्टि में ब्रह्म जल में नमक की भाँति व्याप्त है तो उसके नामों की संख्या भी अनन्त है। सृष्टि में जितने नाम हैं वे सभी ब्रह्म के नाम हैं। इसलिये सगुण भक्ति में प्रचलित ब्रह्म के नामों को भी कबीर ने स्वीकार कर लिया है। यद्यपि उन नामों से सम्बन्ध रखने वाले अवतारों पर कबीर ने कोई आस्था नहीं रखी। जनता

की रुचि को कोई आघात न लगे इसलिये कबीर ने सगुण नामों का प्रयोग अपने निर्गुण ब्रह्म के लिये कर लिया है। ऐसे नामों में राम, हरि, केशव, मुरारी, बनवारी, कमलाकांत, सारंगपाणि, माधव श्री रंग, गोकुल नायक, विट्ठल, गोविन्द, करीम, अल्ला, रहमान आदि हैं।

कबीर की यह मानसिक भक्ति आनन्द और शान्ति से सम्पन्न अन्तःकरण की स्वाभाविक शक्ति है। अतः इसे सहज का नाम भी दिया गया है। कबीर की इस सहज भक्ति ने हमारे धार्मिक जीवन में एक नवीन मार्ग का अन्वेषण किया इसमें कोई सन्देह नहीं है।

कबीर के बाद सन्त परम्परा में जितने प्रधान भक्त और कवि हुए, उनका विवरण इस प्रकार है :

धरमदास (सं० १४७५)

ये कबीर के सबसे प्रधान शिष्य थे और उनके बाद इन्हें ही कबीर पन्थ की गद्दी मिली। इनके जन्म की तिथि निश्चित नहीं है। कहा जाता है कि ये कबीर से कुछ वर्ष छोटे थे कबीर की जन्मतिथि संवत् १४५५ मानी गई है, अतः इनका जन्म १४५५ के बाद ही होगा। सन्त सीरीज के सम्पादक महोदय धरमदास जी की जन्म तिथि सम्वत् १४७५ और १५०० के बीच में मानते हैं। धरमदास जी की मृत्यु कबीर की मृत्यु के लगभग बीस-पचीस वर्ष बाद हुई। अतः कबीर की मृत्यु तिथि १५७५ मानने पर इनकी मृत्यु लगभग सम्वत् १६०० माननी होगी।

धरमदास का प्रारम्भिक जीवन साकारोपासना में ही व्यतीत हुआ। ये बाँधोगढ़ के निवासी थे और बड़े धनी थे। अतः तीर्थयात्रा और पूजन आदि में बहुत धन खर्च करते थे। 'अमर सुख निधान' में धरमदास ने स्वयं अपना चरित्र लिखा है।

मथुरा और काशी के पर्यटन में इनसे कबीर की भेंट हुई और ये कबीर से बहुत प्रभावित हुए। अन्त में इन्होंने अपना सब धन लुटा कर कबीर पंथ में प्रवेश किया। इन्होंने ही कबीर की रचना का संग्रह संवत् १५२१ (सन् १४६४) में किया। इनकी मृत्यु के बाद कबीर पंथ की गद्दी इनके पुत्र चूड़ामणि को मिली।

इन्होंने अनेक ग्रन्थों की रचना की जिनमें इनकी और कबीर की गोष्ठी और धर्म निरूपण ही अधिक है। इनकी बहुत-सी रचना कबीर की रचना में इतनी मिल गई है कि दोनों को अलग करना बहुत कठिन हो गया है। इनके प्रधान ग्रन्थों में 'सुखनिधान' का बहुत ऊँचा स्थान है। कबीर के समान इन्होंने भी विरह पर बहुत लिखा है।

श्री गुरु नानक (सं० १५२६)

सिख सम्प्रदाय के संस्थापक श्री नानकदेव के सम्बन्ध में अनेक विवरण और जन्म-साखियाँ हैं जिनसे उनके जीवन पर प्रकाश डाला जा सकता है। पर उन विवरणों की अनेक बातें इतनी कपोल-कल्पित और अंधविश्वास से भरी पड़ी हैं कि किसी भी इतिहास प्रेमी को वे ग्राह्य नहीं हो सकतीं। प्रत्येक धर्म संस्थापक के पीछे इसी प्रकार की कल्पित कथाओं की शृंखला लगी रहती है, अतः नानक के सम्बन्ध में भी यह होना कोई आश्चर्य की बात नहीं है।

जिन जन्म-साखियों के आधार पर नानक का जीवन विवरण मिलता है, वे अधिकतर पंजाबी भाषा और गुरुमुखी लिपि में हैं। जे० डब्ल्यू यंगसन को अमृतसर में लिखी गई एक जन्म-साखी मिली है, जिसके अनुसार गुरु नानक महाराज जनक के अवतार थे।

इन जन्म-साखियों में से अस्पष्ट और अतिशयोक्तिपूर्ण बातों को निकालकर गुरु नानक का जीवन वृत्त इस प्रकार होगा :

श्री नानक का जन्म वैसाख (बाबा छज्जूसिंह के अनुसार कार्तिक) सं० १५२६ में लाहौर से तीस मील दूर दक्षिण-पश्चिम में तलवंडी नामक गाँव में हुआ। इनकी माता का नाम तृता और पिता का नाम कालू था, जो जाति के खत्री थे। वे किसान और पटवारी थे और साथ ही कुछ महाजनी भी करते थे। अतः नानक का बचपन प्रकृति के विस्तृत प्रांगण में व्यतीत हुआ। छुटपन से ही नानक मौन रहते थे और विचारों में डूबे रहते थे। कभी कभी तो ये साधु और फकीरों का संग भी करते थे जिससे इनके पिता इनसे बहुत रुष्ट रहते थे। जो काम इनसे करने के लिए कहा जाता था वही इनसे बिगड़ जाता

था, क्योंकि ये अपने ध्यान में ही डूबे रहते थे। एक बार इनके पिता ने इन्हें बीस रुपये रोजगार करने के लिए दिये, पर इन्होंने सब साधू और फकीरों पर खर्च कर दिये। इनके पिता को इस उच्छृङ्खलता पर बहुत क्रोध आया और उन्होंने इन्हें सुलतानपुर (जालन्धर) नौकरी करने के लिए भेजा, जहाँ इनकी बहन जानकी के पति जयराम रहते थे। इस बीच में इनका विवाह भी हो चुका था जिससे इनके दो पुत्र हुए, श्रीचन्द्र और लखीमदास। जब तक इन्होंने नौकरी की ये बड़े सतर्क और आज्ञाकारी रहे कमाये हुए धन का बहुत-सा भाग इस समय भी साधुओं की सेवा में समाप्त होता था। ये दिन भर काम करते थे और रात को गीत बनाकर गाया करते थे। इनका एक गायक मित्र था, जो तलवंडी से आया था। उसका नाम था मरदाना। जब नानक गाया करते थे तो मरदाना खाब बजाया करता था। एक बार बेन नदी में स्नान करते समय इन्हें आत्मज्ञान हुआ और इन्होंने ईश्वर की दिव्य विभूति देखी। उसी समय उन्होंने नौकरी छोड़ कर पर्यटन प्रारम्भ किया। चारों दिशाओं में इन्होंने मरदाना के साथ बड़ी-बड़ी यात्राएँ कीं और अपने सिद्धान्तों का गा-गा कर प्रचार किया।

अन्त में सं० १५९५ में करतारपुर आकर इन्होंने अपने परिजनों के बीच में महाप्रस्थान किया।

मलूकदास (सं० १६३१)

इनका जन्म संवत् १६३१ में कड़ा (इलाहाबाद) नामक स्थान में हुआ। इनके पिता का नाम सुन्दरदास खत्री था। बचपन से ही मलूकदास में प्रतिभा के चिन्ह थे। ये सन्तों को भोजन और कम्बल दे दिया करते थे, जो इनके पिता इन्हें बेचने के लिए देते थे। इनके सम्बन्ध में अनेक अलौकिक कथाएँ कही जाती हैं जिसमें इनकी भक्ति और शक्ति का अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन है। इनकी मृत्यु सं० १७३९ में हुई। इस प्रकार इनकी आयु मृत्यु के समय १०८ वर्ष की थी। इनके एक शिष्य सुथरादास थे जिन्होंने 'मलूक परिचय' के नाम से एक जीवनी लिखी है। इनके अनुसार भी मलूकदास के जन्म और मृत्यु के सम्वत् ये ही हैं।

इनकी कविता सरस और भावपूर्ण है। इनके दो ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं :—ज्ञानबोध और रामावतार लीला (रामायण)। ज्ञानबोध में इन्होंने ज्ञान, भक्ति और वैराग्य का वर्णन किया है। अष्टांग योग एवं प्रवृत्ति और निवृत्ति का भी विस्तारपूर्वक स्पष्टीकरण है। रामावतार लीला में रामचरित्र वर्णित है। उसमें रामायण की कथा विस्तार से दी गई है। भाषा में पूर्ण स्वाभाविकता है। इनके उपदेश और चेतावनी बड़ी तेजस्वी भाषा में वर्णित हैं। उनमें स्थान स्थान पर अरबी-फारसी के शब्द भी हैं, पर उनसे कवि के प्रवाह में कोई व्याघात उपस्थित नहीं हुआ। इन्होंने शब्दों के अतिरिक्त कवित्त भी लिखे हैं। कहा जाता है कि एक और मलूकदास थे जिनका निवास-स्थान कालपी था और जो जाति के खत्री थे। कड़ा के मलूकदास बहुत पर्यटनशील थे। सम्भव है, ये कालपी में रहे हों। इस प्रकार दो मलूकदास होने से काव्य की प्रामाणिकता में भ्रम हो गया है। दोनों की रचनाओं में किसी दृष्टिकोण से कोई भिन्नता नहीं है।

दादूदयाल (स० १६५८)

सन्तमत में दादू का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इनके सिद्धान्त कबीर के सिद्धान्तों से मिलते हुए भी अपनी विशेषता रखते हैं। इनके पदों और साखियों में चेतावनी का अंश बहुत अधिक है। इनका जन्म सं० १६५८ में हुआ था।

दादू पंथियों के अनुसार ये गुजराती ब्राह्मण थे, पर जनश्रुति इन्हें धुनियाँ मानती है। मोहसिन फानी भी इन्हें धुनियाँ ही मानते हैं। विल्सन ने भी मोहसिन फानी के मत का अनुकरण किया है। फर्क्यार और ट्रैल इन्हें ब्राह्मण मानते हैं पर सुधाकर द्विवेदी का कथन है कि दादू मोची जाति के थे और मोट बनाया करते थे। पहली स्त्री की मृत्यु होने पर ये बैरागी हो गए। इनका पहला नाम महाबली था। कबीर के दृष्टिकोण के अनुसार ही इनकी रचना के अंग हैं। इनकी कविता बड़ी प्रभावोत्पादिनी है। वह सरलता से हृदयंगम हो जाती है और एक आध्यात्मिक वातावरण छोड़ जाती है।

दादू ने लगभग ५,००० पद्य लिखे हैं जिनमें से बहुत से ग्रन्थों में नहीं पाये जाते। वे केवल साधु-सन्तों की स्मृति में हैं। दादू ने धर्म के प्रायः सभी अंगों

पर प्रकाश डाला है। मूर्ति-पूजा, जाति, आचार, तीर्थ-व्रत, अवतार, आदि पर दादू कबीर के पूर्णतः अनुयायी हैं। डा० ताराचन्द के अनुसार दादू ने सूफी-मत की व्याख्या अधिक सफलता के साथ की है। सम्भवतः उसका कारण यह हो कि वे कमाल के शिष्य थे। दादू ने गुरु का महत्त्व बहुत उत्कृष्ट बतलाया है। वे कहते हैं कि बिना गुरु के आत्मा वश में नहीं आ सकती।

सुन्दरदास (सं०१७१०)

सुन्दरदास दादूदयाल के शिष्य थे। इनका जन्म सं० १७१० में जयपुर की पहिली राजधानी दौसा नगर में हुआ था। ये जाति के खंडेलवाल बनिया थे। बहुज्ञ और बहुश्रुत थे। हिन्दी, पंजाबी, गुजराती, मारवाड़ी, संस्कृत और फारसी पर समान अधिकार रखते थे। संस्कृत के पंडित होते हुए भी ये हिन्दी में कविता लिखते थे, क्योंकि इनका मुख्य उद्देश्य अपने सिद्धान्तों का प्रचार करना ही था। ये बहुत सुन्दर थे, इसी कारण शायद दादू ने इनका नाम सुन्दर रख दिया था। ये छः वर्ष की अवस्था से ही दादू के साथ हो गये थे। जब नारायणा में दादू का देहावसान संवत् १६६० में हुआ तो ये वहाँ से चल कर डीडवाणे में रहे और वहाँ से काशी चले आए। काशी में इन्होंने बहुत विद्याध्ययन किया और साधु-महात्माओं का साहचर्य प्राप्त किया। इसके बाद ये फतेहपुर शेखावटी चले आए, यहाँ इन्होंने अनेक ग्रन्थों की रचना की और बहुत प्रसिद्धि प्राप्त की। इनकी मृत्यु सांगनेर (जयपुर) में सम्वत् १६४६ में हुई। इनकी मृत्यु के सम्बन्ध में यह पद्य प्रसिद्ध है :

संवत सत्रह से छीयाला, कातिक सुदि अष्टमी उजाला।
तीजै पहर भरस्पति बार, सुन्दर मिलिया सुन्दर सार ॥

सुन्दरदास बहुत बड़े पंडित थे। ये सन्तमत के अन्य कवियों की भाँति साधारण और सरल कविता करने वाले नहीं थे। इनकी रचनाओं में काव्य-शास्त्र का पूर्ण ज्ञान है। इंदव, मनहरण, हंसाल, दुमिल छंद बहुत ललित और प्रवाहयुक्त हैं। अनेक प्रकार का काव्य-कौशल इनकी कविता में रत्नराशि

के समान सजा हुआ है। कहीं रस-निरूपण है तो कहीं अलंकारों की सृष्टि। ये शृङ्गार रस के बहुत विरुद्ध थे और उसे छोड़ अन्य रसों के वर्णन में इनकी प्रतिभा खूब प्रस्फुटित हुई है। इनके पर्यटन ने इनके अनुभव को और बढ़ा दिया था और इन्होंने सभी स्थानों के विषय में रचनाएँ कीं। इनके दशों दिशा के सवैया इसके प्रमाणस्वरूप दिये जा सकते हैं।

इनके ग्रन्थों में ज्ञान-समुद्र (पांच उल्लासों में), सुन्दरविलास (३४ अंगों में) और पद (२७ राग रागिनियों में) विशेष प्रसिद्ध हैं। इन्होंने पूर्वी भाषा बरवै में भाषा का स्वाभाविक सौन्दर्य खूब प्रदर्शित किया है। संत होते हुए भी ये हास्य रस के विशेष प्रेमी थे, जिससे इनकी वेदांत की गम्भीरता मनोरंजन में परिणत हो जाती है। इन्होंने शृङ्गार रस के विरुद्ध बहुत कुछ लिखा है। नारी की निन्दा इन्होंने जी खोल कर की है। इसके विपरीत सांख्य ज्ञान और अद्वैतवाद ज्ञान का निरूपण इन्होंने बड़े विशद रूप में किया है। आत्म-अनुभव तो इनकी निज की सम्पति है।

सुन्दरदास दादूदयाल के आयु में सबसे छोटे शिष्य थे, पर प्रसिद्धि में सब में बड़े। इनके शिष्यों की पाँच गद्दियाँ कही जाती हैं जो फतेहपुर और राजस्थान में हैं। इनके पाँच शिष्य प्रसिद्ध हैं: १ टिकैतदास, २ श्यामदास, ३ दामोदरदास, ४ निमलदास और ५ नारायणदास।

संत बाबालाल

संत बाबालाल का आविर्भाव मालव प्रांत में हुआ। पं० परशुराम चतुर्वेदी का कथन है कि "पंजाब प्रांत में बाबालाल नामक चार महात्माओं के नाम प्रसिद्ध हैं। रोज साहब के अनुसार उन चारों में से एक पिंडदादन खाँ स्थान के निवासी थे, जो सूखी लकड़ी को भी शीशम का हरा भरा पेड़ बना डालने के कारण टहलीवाला या टहनीवाला कहलाते थे। एक दूसरे का निवास स्थान भेरा वा थेरा नामक पश्चिमी प्रांत का ही कोई नगर था और तीसरे का एक मठ गुरुदासपुर में विद्यमान है। सबसे प्रसिद्ध बाबालाल को वे इन तीनों से भिन्न मानते हैं और कहते हैं कि दाराशिकोह से बातचीत करने वाला उन तीनों

में से कोई नहीं था। दाराशिकोह के सम्पर्क में आने वाले बाबालाल का मालव प्रांत के किसी खत्री परिवार में उत्पन्न होने वाला कहा जाता है और उनका जन्म काल भी सन् १५६० या सं० १६४७ बतलाया जाता है।"

बाबालाल सम्प्रदाय के अनुयायी अपने गुरु का जन्म सं० १४१२ की माघ शुक्ल द्वितीया मानते हैं। इनकी देहांत तिथि सं० १७१२ की कार्त्तिक शुक्ल दशमी मानी जाती है। बाबालाल की माता का नाम श्रीमती कृष्णादेवी और पिता श्री भोलानाथ था। बाबालालजी ने १० वर्ष की अवस्था में वैराग्य ग्रहण कर लिया। इनके गुरु का नाम बाबा चेतन था।

बाबालाल निर्गुण उपासक बाबा थे। इन्होंने अवतारवाद आदि की बड़ी निन्दा की है। सत्संग की उन्होंने जीवन में बड़ी आवश्यकता मानी है।

प्राणनाथ

संत प्राणनाथ का जन्म सं० १६७५ में काठियावाड़ प्रदेश के जामनगर के एक क्षत्रिय परिवार में हुआ। इनके पिता का नाम सेमजी था। सत्संग और साधुओं के प्रति इनकी अभिरुचि बाल्यावस्था से ही थी। इन्हें सिंध प्रदेश के एक साधु देवचन्द से आध्यात्मिक क्षेत्र में बड़ी प्रेरणा मिली। प्राणनाथजी इन्हीं के शिष्य थे। बुन्देलखण्ड के प्रसिद्ध योद्धा वीर छत्रसाल के यहाँ ये कुछ समय तक रहे हैं। महाराज छत्रसाल इन्हीं के शिष्य हो गए थे। इन्हीं के प्रभाव में आकर वीर छत्रसाल बड़े उदार चेता और दीनदयालु बन गए। प्राणनाथ उच्चकोटि के साधक थे। उन्होंने सुदूर देशों का भ्रमण करके अपने अनुभूत आदर्शों का प्रचार किया। इनका देहावसान सं० १७५१ में हुआ। इनके द्वारा प्रवर्तित सम्प्रदाय 'धामी' नाम से विख्यात है।

प्राणनाथ जी की रचनाओं की संख्या १४ मानी जाती है। ये रचनाएँ इस प्रकार हैं :—१—राम ग्रन्थ, २—प्रकाश ग्रन्थ, ३—षट्ऋतु, ४—कलस, ५—सम्बन्ध, ६—किरतन, ७—खुलासा, ८—खेल पात, ९—प्रकरण इलाही दुलहन, १०—सागर सिंगार, ११—बड़े सिंगार, १२—सिंधि भाषा १३—मारफत सागर और १४—कयामत नामा।

जगजीवन दास का संत-मत के कवियों और सम्प्रदाय संस्थापकों में विशेष आदर के साथ नाम लिया जाता है। डॉ० पीताम्बर दत्त

जगजीवन दास

बडथ्वाल का अनुमान है कि यही जगजीवन साहब सतनामी सम्प्रदाय के संस्थापक थे। पं० परशुराम चतुर्वेदी का मत है कि सतनामी सम्प्रदाय के प्रवर्तक का नाम निश्चित रूप से नहीं ज्ञात है, परन्तु इस सम्प्रदाय का पुनः संगठन कुछ दिनों के अनन्तर जगजीवन साहब के नेतृत्व में हुआ। जगजीवन साहब का जन्म बारावंकी जिले के सरदहा गाँव में सरयू नदी के निकट कोटवा से दो कोस की दूरी पर एक क्षत्रिय कुल में हुआ। ये चन्देल ठाकुर थे। क्रुक्स के अनुसार इनका जन्म संवत् १७३६ और डॉ० बडथ्वाल के मत से संवत् १७२७ माना जाता है। इस सम्प्रदाय के अनुयायियों के मतानुसार जगजीवन साहब विश्वेश्वर पुरी के शिष्य थे। सं० १८१८ में उन्होंने कटवा ग्राम में शरीर त्याग किया। 'शब्द सागर', 'ज्ञान प्रकाश', 'प्रथम ग्रन्थ', 'आगम पद्धति', 'महाप्रलय', 'प्रेम ग्रन्थ', अघविनाश उनके प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं।

धरनीदास का जन्म संवत् १६३२ वि० है। इनका जन्म माँझी जिला सारन के एक कायस्थ कुल में हुआ था। बाल्यावस्था से ही

धरनीदास

इनके हृदय में विराग का बीज अंकुरित हो चला था और इसीके फलस्वरूप इन्होंने मुजफ्फरपुर जिले के स्वामी विनोदानन्द जी से दीक्षा ग्रहण करके साधना मार्ग में अग्रसर हुए। 'रतनावली' में उन्होंने अपनी गुरु परम्परा का उल्लेख निम्नलिखित शब्दों में किया है : –

सतगुरु रामानन्द चंद पूरन परगासो।
सुजस सुरसुरानन्द वेईलियानन्द वेलासो ॥
सुकृत सुनि आनन्द चेतनानन्द चेतायो।
वीरुद वीहारीदास रामदानन्द रहायो ॥
वीमल विनोदानन्द प्रभु सो, दास परस पातष गवो।
धरनीदास परगास उर सो गुर परनाली गही लीवो ॥

इनकी प्रसिद्ध रचनायें हैं 'प्रेम प्रगास', 'शब्द प्रकाश' और 'रतनावली'। धरनीदास जी उच्चकोटि के साधक और उदारचेता कवि थे।

दरियादास (बिहार वाले)

दरियादास का जन्म सं० १७३१ माना जाता है। 'दरियासागर' के सम्पादक के अनुसार दरियासाहब १०६ वर्ष तक जीवित रहे। डा० धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी की खोज में दरियासाहब के बीस प्रामाणिक ग्रन्थ उपलब्ध हुए हैं। वे ग्रन्थ इस प्रकार हैं :—

'प्रेममूल', 'ज्ञानरत्न', 'भक्तिहेतु', 'मूर्तिउखाड़', 'शब्द', 'ज्ञानस्वरोदय', विवेकसागर', दरियासागर', 'ज्ञानदीपक', 'ब्रह्मविवेक', 'अमर सार', 'निर्भयज्ञान', 'सहस्रानी', 'ज्ञानमाला', 'दरियानामा', 'अग्रज्ञान', 'ब्रह्म-चैतन्य', 'ज्ञानमूल' एवं 'यज्ञ समाधि'। दरियासाहब कबीर की परम्परा और साधना पद्धति में आविर्भूत हुए जैसा कि निम्नलिखित पंक्तियों से ज्ञात होता है :—

सोई कहो जो कहहि कबीरा।
दरियादास पद पायो हीरा ॥
तथा :—ताहि खोजु जो खोजहि कबीरा।
बइठि निरंतर समय गंभीरा ॥

दरियादास के पंथ का प्रसार और प्रचार बिहार प्रांत तथा उत्तर प्रदेश के पूर्वी जिलों में अधिक हुआ। इनके सम्प्रदाय की प्रधान गद्दी धरकंधे में है।

दरियासाहब (मारवाड़ वाले)

मारवाड़ वाले दरिया साहब का जन्म जैतारन गाँव (मारवाड़ के) में भादों कृष्ण पक्ष अष्टमी सं० १७३३ को हुआ था। ८२ वर्ष की आयु में आपने अगहन सुदी १५ सं० १८१५ को शरीर त्याग किया। दरियासाहब पर संत दादू की विचार-धारा का स्पष्ट प्रभाव था। उन्होंने स्वतः कहा है :—

देह पडंताँ दादू कहैं, सौ बरसां इक संत।
रैन नगर में परगटै, तारै जीव अनंत ॥

दरिया साहब के सतगुरु थे प्रेमदयाल जी। इस सम्बन्ध में उनका प्रस्तुत कथन प्रामाणिक माना जाता है :—

"सतगुर दाता मुक्ति का, दरिया प्रेमदयाल।"

दरिया साहब की वाणियों का एक संग्रह बेलवेडियर प्रेस, प्रयाग से प्रकाशित हुआ है। उनके साहित्य के विषय में पं० परशुराम चतुर्वेदी का कथन है कि "दरिया साहब के किसी प्रकार शिक्षित होने का पता नहीं चलता, किन्तु इनकी उपलब्ध रचनाओं से विदित होता है कि ये अनुभवी एवं योग्य व्यक्ति थे।"

कबीर के द्वारा निर्गुण सम्प्रदाय की इस परम्परा में अनेक कवि हुए जिनमें चरनदास, सहजोबाई, मीराबाई, दयाबाई, बुल्लाशाह, गरीबदास, दूलनदास, आदि का उल्लेख आवश्यक है।

संतकाव्य का सिंहावलोकन

वर्ण्य विषय—आध्यात्मिक भावना में मुख्य-मुख्य जिन अंगों पर सन्तों ने प्रकाश डाला है उनका विवरण निम्नलिखित है :

(१) क्रियात्मक

सत्पुरुष है (निराकार ईश्वर), नाम स्मरण, अनहद शब्द, भक्ति, सुरत, विरह, पतिव्रता-प्रेम, विश्वास, निज करता को निर्णय, सतसंग, सहज, सारगहनी मौन परिचय, उपदेश, साँच, उदारता, शील, क्षमा, सन्तोष, धीरज, दीनता, दया, विचार, विवेक, गुरुदेव, आरती।

(२) ध्वंसात्मक

चेतावनी, भेष, कुसंग, काम, क्रोध, लोभ, मोह, मान और हंगता, कपट, आशा, तृष्णा, माया, कनक और कामिनी, निद्रा, निंदा, स्वादिष्ट आहार, मांसाहार, नशा, आनदेव की पूजा, तीर्थ व्रत, दुर्जन आदि।

सामाजिक भावना के अंग निम्नलिखित हैं :

(१) क्रियात्मक

चेतावनी समदृष्टि।

(२) ध्वंसात्मक

भेदभाव, चेतावन।

सन्तकाव्य में भाषा बहुत अपरिष्कृत है। उसमें कोई विशेष सौन्दर्य नहीं है। भावों का प्रकाशन प्रधान है और भाषा का प्रयोग गौण। इस प्रकार की भाषा के सम्बन्ध में तीन कारण हो सकते हैं।

भाषा

(१) सन्तकाव्य जन-समाज के लिये ही लिखा गया था। अतः उसमें भावों के प्रचार एवं प्रसार के लिये भाषा का सरल होना आवश्यक था। कठिन भाषा का सरल होना आवश्यक था। कठिन भाषा के द्वारा ईश्वर सम्बन्धी कठिन और दुरूह विषय जन-समाज तक नहीं पहुँच सकता था।

(२) सन्तों की रचनाएँ अधिकतर गेय रही हैं, इसलिये भाषा का रूप एक मुख से दूसरे मुख तक जाने में बदल गया।

(३) ये रचनाएँ अधिक समय तक लिपिबद्ध भी नहीं हुईं। अतः जिस प्रदेश में ये प्रचलित रहीं उसी प्रदेश की भाषा का प्रभाव उन पर आ गया। कवियों के प्रदेश विशेष में रहने के कारण भी भाषा में विभिन्नता है, पर कबीर की रचनाओं में पंजाबीपन की जो छाया है, उसका क्या कारण हो सकता है? कबीर तो पंजाब के निवासी नहीं थे। इसे कुछ तो प्रान्त विशेष के भक्तों और कुछ लिपिकारों की कृपा का फल ही समझना चाहिए। जो हो, सन्तकाव्य हमें तीन भाषाओं से प्रभावित मिलता है पूरबी हिन्दी, राजस्थानी और पंजाबी।

संतकाव्य में प्रधान रूप से शान्त रस है। ईश्वर की भक्ति प्रधान होने के कारण निर्वेद ही स्थायी भाव है और आदि से अंत तक शान्त रस की ही सत्ता है। कभी-कभी रहस्यवाद के अन्तर्गत आत्मा के विरह वर्णन के कारण वियोग शृङ्गार भी है। आत्मा जब एक स्त्री के रूप में परमात्मा रूपी पति के लिये व्याकुल होती है तब उसमें वियोग शृङ्गार की भावना स्वाभाविक रूप से आ जाती है। संयोग शृंगार की भावना बहुत ही न्यून है। जैसे मिलन की भावनाएँ बहुत ही कम हैं। संत काव्य में विरह श्रेष्ठ माना गया है। उसमें परमात्मा से मिलन का

रस

साधन ही अधिक है, मिलन की सिद्धि नहीं। अतः शान्त और वियोग शृंगार प्रधान रस हैं, शेष रस गौण हैं। कहीं-कहीं ईश्वर की विशालता के वर्णन में अद्भुत रस भी है। 'एक विन्दु ते विश्व रच्यो है' जैसी भावनाएँ आश्चर्य के स्थायी भाव को उत्पन्न करती हैं। कबीर की उल्टवांसियाँ भी आश्चर्य में डाल देने वाली हैं। सृष्टि और माया की विचित्रता भी अद्भुत रस की उत्पत्ति में सहायक है। कुछ स्थानों पर वीभत्स रस भी है। जहाँ सुन्दरदास स्त्री के शरीर का वीभत्स वर्णन करते हैं, वहाँ जुगुप्सा प्रधान हो जाती है। कंचन और कामिनी शीर्षक अंग में भी अनेक स्थानों पर वीभत्सता है। संक्षेप में सन्तकाव्य का रस निरूपण इस प्रकार है :

प्रधान रस—शान्त, शृंगार (वियोग)
गौण रस - अद्भुत, वीभत्स

सन्त-काव्य में सबसे अधिक प्रयोग साखियों और शब्दों का हुआ है।

छन्द

साखी तो दोहा छन्द है और शब्द रागों के अनुसार पद हैं। दोहा छन्द बहुत प्राचीन है। अपभ्रंश के बाद प्राचीन हिन्दी में लिखे हुए जैन ग्रन्थों में इस दोहा छन्द के ही दर्शन होते हैं। इसके बाद डिंगल साहित्य में भी दोहा छन्द का व्यवहार हुआ। तत्पश्चात् अमीर खुसरो ने अपनी बहुत सी पहेलियाँ इसी छन्द में लिखीं। अतः दोहा छन्द तो साहित्य में प्रयोग सिद्ध हो चुका था। पदों का हिन्दी साहित्य में यह प्रयोग प्रथम बार ही समुचित रूप में किया गया। सन्तों के शब्द अधिकतर गेय थे, अतः वे राग रागनियों के रूप में गाए जा सकते थे। इस कारण वे पदों का रूप पा सके। दोहा और पद के बाद तीसरा प्रचलित छन्द है झूलना। इसका प्रयोग कबीर ने बड़ी सफलतापूर्वक किया, यों कबीर के बाद के अन्य सन्त कवियों ने भी इसका प्रयोग किया। इन तीन छन्दों के अतिरिक्त चौपाई, (जिसका प्रयोग अधिकतर आरती में हुआ है) और सार (जिसका प्रयोग पहाड़ा में हुआ है) भी सन्तकाव्य में प्रयुक्त हुए हैं। सन्तकाव्य में पदों और दोहों का प्राधान्य है जिनका विशिष्ट नाम शब्द और साखी हैं।

विशेष नाथपन्थ का विकसित रूप सन्तकाव्य में पल्लवित हुआ जिसका आदि इतिहास सिद्धों के साहित्य में है। गोरखनाथ ने अपने पन्थ के प्रचार में जिस हठयोग का आश्रय ग्रहण किया था वही हठयोग सन्तकाव्य में साधना का प्रधान रूप हो गया।

सन्तकाव्य में जिन सिद्धान्तों की चर्चा की गई है, वे अनेक बार दोहराए गए हैं। किसी भी कवि ने अपनी ओर से मौलिकता प्रदर्शित करने का श्रम नहीं उठाया वे ही बातें बार-बार एक ही रूप में दृष्टिगत होती हैं। इस प्रकार एक कवि की कविता दूसरे कवि की कविता से शब्दों के अतिरिक्त किसी भी बात में भिन्न नहीं है। सन्त-मत में जो अनेक पन्थ चले उनमें जो प्रधान भावनाएँ थीं वे इस प्रकार हैं :—

१—ईश्वर एक है। वह निराकार और निर्गुण है।
२—मूर्तिपूजा व्यर्थ है। उसमें ईश्वर की व्यापकता सीमित हो जाती है।
३—गुरु का महत्व ईश्वर से भी अधिक है।
४—जाति भेद का कोई बन्धन नहीं है। ईश्वर की भक्ति में सभी समान हैं।

निर्गुण सम्प्रदायों की सूची

निर्गुण विचार-धारा के अन्तर्गत निम्नलिखित सम्प्रदायों और पंथों का विकास हुआ। इन सम्प्रदायों की अनेक शाखाएँ और उपशाखाओं के द्वारा प्रचुर साहित्य की रचना हुई। इस साहित्य में वेदांत के उपनिषदों का ज्ञान पल्लवित हुआ। ये सभी सम्प्रदाय जनता की आवश्यकताओं के अनुसार समय-समय पर स्थापित किये गए।

१—**कबीर पंथ**—इसकी अनेक शाखाएँ हैं जिनमें से प्रमुख है—काशी की शाखा, छत्तीसगढ़ी शाखा, धनौती शाखा।
२—**नानक पंथ**—इसके प्रमुख सम्प्रदाय हैं—उदासी, निर्मला, नामधारी, सथुएशाही, सेवापंथी, अकाली, भगतपंथी, गुलाबदासी, निरंकारी।

३—साध सम्प्रदाय

४—लाल पंथ

५—दादू पंथ—इसके प्रमुख कवि हैं—सुन्दरदास, गरीबदास, प्रागदास, हरिदास, राघोदास, निश्चलदास, रज्जबदास ।

६—निरंजनी सम्प्रदाय—प्रमुख कवि—भगवानदास, तुलसीदास, सेवादास, हरिदास ।

७—बावरी—प्रमुख कवि—बीरूसाहब, यारीसाहब, केशवदास, सूधाशाह, बुलाकीराम, भीखासाहब, बूलासाहब, गुलाल साहब, हरलाल साहब, गोविन्द साहब, पलटू साहब ।

८—मलूक पंथ—मथुरादास, दुखहरनदास, इस पंथ के प्रमुख कवि हैं ।

९—बाबालाली सम्प्रदाय

१०—धामी सम्प्रदाय

११—सत्तनामी सम्प्रदाय—इसकी तीन प्रमुख शाखाए हैं—नारनौल शाखा, कोटवा शाखा, छत्तीसगढ़ी शाखा ।

१२—धरनीश्वरी सम्प्रदाय

१३—दरियादासी सम्प्रदाय

१४—दरिया पंथ

१५—शिवनारायणी सम्प्रदाय

१६—परगदासी सम्प्रदाय

१७—गरीब पंथ

१८—पानप पंथ

पाँचवाँ प्रकरण

प्रेम-काव्य

प्रेम-काव्य की रचना मुसलमानों के कोमल हृदय की अभिव्यक्ति है। जब मुसलमानी शासन भारत में स्थापित हो गया तब हिन्दू और मुसलमान दोनों स्नेह भाव के जागरण की आकांक्षा करने लगे। यह सच है कि यवन शासक अपने उद्धत स्वभाव के कारण तलवार की धार में अपने इस्लाम की तेजी देखना चाहते थे और किसी भी हिन्दू को दो में से एक – इस्लाम या मृत्यु— चुनने के लिए बाध्य कर सकते थे। पर दूसरी ओर एक ऐसा भी शासक वर्ग था जो हिन्दुओं को अपने पथ पर चलने की आज्ञा प्रदान करके सुख अनुभव कर रहा था। ऐसे शासकों में शेरशाह का ज्वलन्त उदाहरण है जिसने मुल्लाओं की शिक्षा की अवहेलना की और जो हिन्दुओं के प्रति उदार बना रहा। जहाँ वे एक ओर इस्लाम के अन्तर्गत सूफी धर्म के प्रचार की भावना में विश्वास मानते थे वहाँ दूसरी ओर वे हिन्दुओं के धार्मिक आदर्शों को भी सौजन्य की दृष्टि से देखते थे। प्रेम-काव्य की रचना में इसी भावना का आधार है।

'प्रेम काव्य सद्भावना से प्रेरित होकर कुछ सूफी मुसलमान और हिन्दू कवियों के कोमल हृदय का आभास या अभिव्यक्ति है। देश में मुसलमानों का शासन स्थापित हो जाने के अनन्तर उन्हें यहाँ से न हटाया जा सकता था और न हिन्दुओं को समूल विनष्ट करके एक नवीन राष्ट्र की स्थापना का ही स्वप्न देखा जा सकता था। कटुता की भावना रख कर या हृदय में छिपाकर दोनों जातियों का सामाजिक और राष्ट्रीय जीवन कभी भी सुखमय नहीं हो सकता था। पारस्परिक वैमनस्य उनके जीवन में शान्ति और सुख के लहलहाते हुए

वृत्त को छिन्न-विच्छिन्न किये डाल रहा था। ऐसी दशा में उनके मध्य प्रेम, ऐक्य, सद्भावना की स्थापना की आवश्यकता अनुभव प्रायः सभी लोग कर रहे थे, परन्तु यह कार्य सूफी कवियों द्वारा सम्पन्न हुआ। ऐसे समय में कुछ भावुक मुसलमान प्रेम की पीर की कहानियाँ लेकर साहित्य क्षेत्र में उतरे। ये कहानियाँ हिन्दुओं के ही घर की थीं। इनकी मधुरता और कोमलता का अनुभव करके इन कवियों ने यह दिखला दिया कि एक ही गुप्त तार मनुष्य मात्र के हृदयों से होता हुआ गया है और जिसे छूते ही मनुष्य सारे बाहरी रूप रंग के भेदों की ओर से ध्यान हटा कर एकत्व का अनुभव करने लगता है।...... हिन्दू हृदय और मुसलमान हृदय आमने-सामने करके अजनबीपन मिटाने वालों में इन्हीं का नाम लेना पड़ता है। इन्होंने मुसलमान होकर हिन्दुओं की कहानियाँ हिन्दुओं की ही बोली में सहृदयता से कहकर उनके जीवन की मर्मस्पर्शनी अवस्थाओं के साथ अपने उदार हृदय का पूर्ण सामंजस्य दिखा दिया।" ('त्रिवणी'—आचार्य शुक्ल जी पृष्ठ २—४) इन कवियों के काव्य की भाषा अवधी थी।

जायसी के पहले के सूफी कवि

प्रेम-काव्य का परिचय चारणकाल ही से मिलना प्रारम्भ हो जाता है; मुल्ला दाऊद ने 'चंदावन' या 'चंदावत' की रचना की थी। उस समय अलाउद्दीन खिलजी का राज्यकाल था जिसमें हिन्दुओं पर सख्ती की जाती थी। वे घोड़े पर नहीं चढ़ सकते थे। विलास-सामग्री का उपयोग नहीं कर सकते थे। इतना सब होते हुए भी मुसलमानी हृदयों में हिन्दू प्रेम के भाव वर्तमान थे।

धार्मिक काल के प्रेम-काव्य का आदि 'चंदावन' या 'चंदावत' से ही मानना चाहिये। यद्यपि इस प्रेम-कथा की परवर्ती परम्परा बहुत बाद में प्रारम्भ हुई पर इसका श्रीगणेश मुल्ला दाऊद ने कर दिया था। मुल्ला दाऊद के बाद सम्भव है कुछ और भी कथाएँ लिखी गई हों पर वे सब अभी तक अप्राप्य हैं। जायसी ने पद्मावत में लिखा है :—

विक्रम धंसा प्रेम के बारा। सपनावति कहँ गयउ पतारा॥
मधू पाछ मुगधावति लागी। गगनपूर होइगा बैरागी॥

राजकुंवर कंचनपुर गयऊ। मिरगावति कहँ जोगी भयऊ ॥
साधे कुंवर खंडावत जोगू। मधुमालति कर कीन्ह वियोगू ॥
प्रेमावति कहँ सुरपुर साधा। उषा लागि अनिरुध वर बांधा ॥

इस उद्धरण के अनुसार संभवतः जायसी के पूर्व प्रेम-काव्य पर कुछ ग्रन्थ लिखे जा चुके थे। स्वप्नावती, मुग्धावती, मृगावती, खंडरावती, मधुमालती और प्रेमावती। इनमें से मृगावती और मधुमालती तो प्राप्त हैं, शेष के विषय में कुछ ज्ञात नहीं है। इनके साथ एक ग्रन्थ का और परिचय मिलता है। उसका नाम लक्ष्मणसेन पद्मावती है। यह ग्रन्थ संवत् १५१६ में लिखा गया। ग्रन्थकर्ता का नाम दामो है। इसमें अधिकतर वीर रस है 'वीर कथा रस करूँ बखान' अपभ्रंश काल के ग्रन्थों के समान इसमें बीच-बीच में संस्कृत में श्लोक और प्राकृत में गाथा हैं।

प्रेमाख्यानकार मुसलमान कवि

भाषा

हिन्दू एवं मुसलमान दोनों ही प्रकार के प्रेमाख्यानकार सूफी कवियों की भाषा सामान्यतया अवधी भाषा ही रही है। इन सभी कवियों में केवल जान अपवाद के रूप में माने जा सकते हैं। शेष ने अपनी कहानियों की अभिव्यक्ति का माध्यम अवधी ही रखा है। इसका सर्वप्रथम कारण यह है कि लगभग सभी प्रेमाख्यानकार कवियों का अवध से किसी न किसी प्रकार का निकट सम्बन्ध था। इनमें ९० प्रतिशत अवधी भाषी प्रदेश के निवासी थे। कुतबन एवं मंझन के जन्म स्थानों के विषय में हमें कोई विशेष ज्ञान नहीं है परन्तु, उनकी भाषा से प्रकट हो जाता है कि उन्हें अवधी के मूलरूप एवं व्याकरण का भला ज्ञान था। यह सम्भाव्य है कि ये दोनों कवि अवध प्रदेश के ही निवासी थे। इसी प्रकार कासिम शाह का निवास स्थान दरियाबाद; निसार कवि का शेखपुर, रायबरेली; ख्वाजा अहमद का बाबूगंज, प्रतापगढ़; एवं शेखरहीम का जीवल गाँव, बहराइच था। नसीर एवं उसमान गाजीपुर तथा नूर-मुहम्मद का स्थान जौनपुर माना जाता है। अवध प्रदेश के प्रिय छन्द दोहा और चौपाई इनके काव्य ग्रन्थों में बराबर प्रयुक्त हुए हैं। इन कवियों के दोहों

की भाषा में जो प्रवाह एवं सफाई है, कथा शैली में जो सजीवता और गति है वह अन्यत्र दुर्लभ प्रतीत होती है। इनका अनुभव गांभीर्य, उद्‌गारों की स्वाभाविकता, सरलता एवं कवि की मस्ती तीनों मिलकर साहित्य को चित्ता-कर्षक बना देती हैं। परन्तु इसका यह भी अर्थ नहीं है कि इन सभी प्रेमाख्यान लेखकों का भाषा पर असाधारण अधिकार था। अवधी के लेखकों में से जायसी, उसमान और नूरमुहम्मद का भाषा पर अच्छा अधिकार है। ख्वाजा अहमद, निसार और कासिमशाह के भाषा विषय प्रयोग सुन्दर हुए हैं। उसमान की अवधी कहीं-कहीं भोजपुरी से प्रभावित है। इसके साथ ही साथ इन समस्त कवियों की भाषा में अरबी, फारसी तथा तुर्की आदि के शब्दों में कहावतों एवं मुहावरों का प्रयोग स्वाभाविक रूप से किया गया है। इन कवियों की अवधी में स्थान-स्थान पर संस्कृत के तद्‌भव एवं तत्सम शब्दों का प्रयोग भी मिल जाता है। ये सभी कवि पढ़े-लिखे और साक्षर थे। उन्हें काव्य रचना का पूरा पूरा शौक और इच्छा थी। उन्होंने काव्य की रचना विशिष्ट लक्ष्य से प्रेरित होकर की थी। इसीलिये इनकी भाषा संतों की भाषा के समान कहीं पर अस्त-व्यस्त या अपरिष्कृत नहीं दृष्टिगत होती है। इन सभी कवियों में जायसी सिर-मौर हैं। उनकी प्रतिभा को कोई कवि नहीं पहुँचता। क्या भाषा, क्या कहावतों तथा मुहावरों के प्रयोग, क्या अन्योक्ति निर्वाह, क्या कथा कहने की शैली सभी दृष्टि से हमारे प्रेमाख्यानकारों में जायसी की प्रतिभा निर्विवाद और अद्वितीय है। जायसी की सफलता का रहस्य उनकी सादी और आलंकारिक भाषा है। शुद्ध और मुहावरेदार अवधी का चलता हुआ रूप उनकी विशेषता है। इसी परम्परा में नूर मुहम्मद को भी गिनना चाहिए। जायसी के अनन्तर नूर मुहम्मद ही भाषा की दृष्टि से श्रेष्ठ कवि हैं। उनकी यमक बाहुल्य एवं संस्कृत से प्रभावित रचना से प्रकट है कि कवि का भाषा पर अच्छा अधिकार है।

अब एक एक कवि को लेकर उसकी भाषा पर पृथक्-पृथक् विचार करना अपेक्षित होगा।

जायसी के पहिले के सूफी कवि

कुतबन

हिन्दी के प्रेमाख्यानकारों में कुतबन का नाम सर्वप्रथम आता है। ये चिश्ती सम्प्रदाय के शेख बुरहन के शिष्य थे। इनका प्रसिद्ध ग्रन्थ मृगावती है जिसकी रचना सं० १५६० में हुई थी। मुल्ला दाऊद की चन्दाबन उपलब्ध न होने के कारण कुतबन की प्रस्तुत रचना ही सर्वप्रथम प्रेम गाथा है। इसकी रचना अवधी में हुई है। कवि की भाषा में अवधी का ठेट अपरिमार्जित और ग्रामीण रूप दृष्टिगत होता है। इसमें संस्कृत के तद्भव शब्दों का भी प्रयोग स्थान-स्थान पर उपलब्ध होता है। कवि की भाषा भावों के अनुकूल और उपयुक्त है :

नागरी सगरी वियोग संतावइ। घर घर इहै बात जनावइ॥
योगी एक कतहुँ ते आवा। विरही वियोग संताप जगावा॥
एही रे बात मृगावति सुनी। आएसु एक आवो बहु गुनी॥
आग्या भई बोला—बहु ताही। पूछहु कवनु देसकर आही॥
चेरी तीस एक उठि धाई। आएसु बार बोलावन आई॥

तथा:—करम आजु भल अहइ हमारा। सिध होइ के गुरू हंकारा॥
सर्भी रे सारद मुप देषै पावउ। जरे प्रेम होहि सीरावउ॥
सातौ पंवरी लाँघि जो आवा। वेगर वेगर सात उभावा॥

इन पंक्तियों से कवि की भाषा का ज्ञान हो जाता है। कवि की भाषा न अधिक परिमार्जित है और न इसमें प्रवाह है। जायसी की भाषा भी ग्रामीण अवधी ही है। परन्तु उसमें प्रवाह और परिमार्जन दोनों ही हैं। जायसी की भाषा में शब्द बहुत तौल-तौल कर प्रयुक्त हुए हैं, यह बात कुतबन के काव्य में नहीं है।

मंझन

मंझन ने अपने ग्रन्थ मधुमालती की रचना सन् १५४५ में की थी। मधुमालती प्रति खण्डित और अपूर्ण दशा में प्राप्त होती है। मंझन का जन्म स्थान तथा परिचय की अन्य बातें आज तक रहस्य बनी हुई हैं। यह कहानी मृगावती से कहीं अधिक आकर्षक और भावात्मक है। कल्पना भी इसमें यथेष्ट है। इसके द्वारा निस्स्वार्थ

प्रेम की अभिव्यञ्जना सुन्दर रूप से होती है। इसमें कनसेर के राजा के पुत्र मनोहर और महारस की राजकुमारी मधुमालती के प्रेम का वर्णन है। कथा में वर्णनात्मकता का अंश अधिक है। प्रेम के चित्रण में विरह को बहुत महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है। फिर ही मानव के लिए ईश्वर को समझने का महत्वपूर्ण साधन है। मधुमालती का रचना समय पद्मावत के अनन्तर निश्चित होता है परन्तु फिर भी कवि की भाषा में न वह परिष्कार है न माधुर्य जो जायसी की अवधी में उपलब्ध होता है। प्रतीत होता है कि मंझन जायसी के समान शिक्षित और भाषा विज्ञ नहीं थे। उदाहरणार्थ यहाँ अवधी का रूप स्पष्ट करने के लिए कतिपय पंक्तियाँ उद्धृत की जाती हैं :

दुख मानुस कर आदिक वासा। ब्रह्म कंवल महँ दुखकर वासा।
जेहि दिन सृष्टि दुख समाना। तेहि दिन मैं जिव के जिव जाना।
मोहि न आज उपज्यौ दुखतोरा। तोर दुख आदि संघाती मोरा।
अवले भवन दुःख के कांवर। दुइ जग दीनों सुख न्योछावर।
मैं अपान दै तोर दुख लिया। मरके अयसो अमृत पिया।

मलिक मुहम्मद जायसी

मलिक मुहम्मद के जीवन वृत्त का अधिक पता नहीं है। ये रायबरेली के जायस नगर के रहने वाले थे। सैयद मुहीउद्दीन इनके गुरु थे। सूफी दर्शन का उन्हें अच्छा ज्ञान था। बहुत समय तक ये गाजीपुर और भोजपुर के महाराज जगत देव के आश्रय में रहे। कालांतर में अमेठी नरेश के आश्रय में जीवन पर्यन्त रहे। वहीं इनकी कब्र भी बनी हुई है। इनके प्रसिद्ध ग्रन्थ पद्मावती की रचना हिजरी ९४७ या संवत् १५९७ में हुई थी।

जायसी सूफी सिद्धान्तों को तो जानते ही थे साथ ही साथ हिन्दू धर्म के लोक प्रसिद्ध वृत्तांतों से भी परिचित थे और इस प्रकार जनता की धार्मिक मनोवृत्ति को सन्तुष्ट करने में विशेष सफल हुए। शेरशाह का आश्रय भी इन्होंने प्राप्त किया था। ये शारीरिक सौन्दर्य से विहीन थे। एक आँख से अन्धे थे और देखने में कुरूप थे। 'एक आँख कवि महमद गुनी' कहकर

इन्होंने स्वयं अपना परिचय पद्मावती में दिया है। इनके दो प्रधान मित्र थे—यूसुफ मलिक और सलोनेसिंह, जिन्हें जायसी ने मियाँ के नाम से भी लिखा है। यूसुफ मलिक और सलोने मियाँ विषमय आम खाते हुए मर गए। जायसी भी उनके साथ थे, पर ये बच गए। वे आम किसी विषैले जन्तु के खाये हुए थे।

पद्मावत (पदुमावती)

इन्होंने राम कृष्ण की उपासना, जो तत्कालीन समाज में अधिक लोकप्रिय थी, अपने काव्य की सामग्री नहीं बनाई, किन्तु तत्कालीन प्रचलित सूफी सिद्धांतों को सरल और मनोरंजक रूप में रख कर जनता की रुचि अपनी ओर आकर्षित की। सूफी सिद्धान्तों को हिन्दू धर्म के प्रचलित विवरणों से सम्बद्ध कर इन्होंने नवीन प्रकार से हिन्दू हृदय को केवल कल्पना के आधार पर प्रेम कथा लिखकर अपने सिद्धान्तों का प्रकाशन किया था, पर जायसी ने कल्पना के साथ-साथ ऐतिहासिक घटनाओं की शृंखला सजाकर अपनी कथा को सजीव कर दिया। यह ऐतिहासिक कथा कथावस्तु चित्तौरगढ़ के हिन्दू आदर्शों के साथ थी जिससे हिन्दू जनता को विशेष आकर्षण था। यही कारण था कि जायसी की कथा विशेष लोकप्रिय हो सकी। साथ ही साथ प्रेम कहानी का आकर्षक रूप भी रचना के प्रचार में सहायक हुआ। इन्होंने पद्मावती की रचना हिजरी ९४७ में की। इसके अनुसार जायसी का कविता काल संवत् १५९७ ठहरता है।

पद्मावत का महत्त्व उसके सुरक्षित रूप में है। फारसी लिपि में लिखे जाने के कारण यह ग्रन्थ पण्डितों के हाथों से बचा रह गया, नहीं तो उसकी शुद्धि न जाने कब की हो गई होती। उस समय अवधी का जो रूप था वही फारसी लिपि में सुरक्षित रह गया। अतः जायसी की रचना में तत्कालीन अवधी का रूप बच सका है। हिन्दी साहित्य के केवल जायसी ही ऐसे पुराने लेखक हैं जिनकी कृति का वास्तविक स्वरूप हमारे सामने है। पृथ्वीराजरासो महान् ग्रन्थ होते हुए भी संदिग्ध है, विद्यापति और मीरा के गेय गीत गायकों के कण्ठ से बहुत कुछ बदल गये हैं, कबीर के पद कबीर पन्थियों ने तोड़ मरोड़ डाले हैं तथा अन्य कवियों के ग्रन्थ पण्डितों ने शुद्ध कर डाले हैं।

जायसी ने तत्कालीन बोलचाल की अवधी में अपनी रचना की। उसमें

फारसी और अरबी के स्वाभाविक और प्रचलित शब्द तथा मुहावरे भी मिलते हैं। संस्कृत के पण्डित न होने के कारण इनकी कृति स्वाभाविक बोलचाल के शब्दों के यथातथ्य शब्दों से पूर्ण हैं। यह अच्छा ही हुआ, नहीं तो संस्कृत का ज्ञान होने के कारण ये संस्कृत शब्दों को बोलचाल के रूप में न लिखकर शुद्ध रूप में ही लिखते। इनका संस्कृत न जानना भाषा के वास्तविक स्वरूप को सुरक्षित रखने में सहायक हुआ। मुसलमान होने के कारण इन्होंने अपनी कृति फारसी लिपि और बोलचाल की भाषा ही में लिखी। हाँ, एक कठिनाई अवश्य सामने आती है। उर्दू में स्वर के चिन्ह विशेष रूप से नहीं लगाये जाते, इसलिये कहीं कहीं पाठ निर्धारित करने में कठिनाई अवश्य आ जाती है। यों, इन्होंने प्रत्येक शब्द वैसा ही लिखा जैसा वह बोला जाता था। ठेट हिंदी को फारसी लिपि में पढ़ना जरा कठिन है, इसलिए कहीं-कहीं पाठभेद है।

जायसी और भारतीय संस्कृति

जायसी कबीर से बहुत अधिक प्रभावित हुए। हठयोग की सारी प्रवृत्ति तो इन्होंने कबीर से ही ली थी। साथ ही साथ ये हिन्दू धर्म में लोकप्रिय सिद्धान्तों से भी साधारणतः परिचित थे। इन सब ज्ञान के साथ ये बड़े भारी सूफी थे और इसीलिये अपने समय में बहुत बड़े संत माने गए और इनकी रचनाएँ सुरक्षित रक्खी गई। पद्मावत की अनेक विशेषताएँ भी हैं। प्रथम तो यह कि ग्रन्थ सूफी सिद्धान्तों का सरल और मनोरंजक निरूपण है। दूसरे, राम और कृष्ण की धार्मिक विचार-धारा से हटकर यह एक कहानी के रूप में हमारे सामने प्रस्तुत किया गया है। तीसरे, इसमें धार्मिक सहिष्णुता उच्चकोटि की है। मुसलमान होते हुए भी जायसी ने हिन्दू धर्म की प्रधान बातों पर अपनी कथा का आरोप किया है, और उनकी हँसी न उड़ाकर उन्हें गम्भीर रूप से सामने रक्खा है। चौथे, यह काव्य कला का उत्कृष्ट नमूना है। भाषा और भाव सरल होते हुए भी सच्ची कविता का नमूना हिन्दी साहित्य के सामने प्रस्तुत है।

इस स्थान पर जायसी के साहित्यिक दृष्टिकोण पर विस्तारपूर्वक विचार करना समीचीन होगा।

पद्मावती की कथा और आध्यात्मिकता

जायसी ने अपने पद्मावत की कथा में आध्यात्मिक अभिव्यञ्जना रक्खी है। सारी कथा के पीछे सूफी सिद्धांतों की रूप-रेखा है, पर जायसी इस आध्यात्मिक संकेत को पूर्ण रूप से नहीं निबाह सके। उसका मुख्य कारण यह है कि जायसी ने मसनवी को शैली का आधार लेते हुए अपने काव्य में प्रत्येक छोटी से छोटी बात का इतना विस्तारपूर्वक वर्णन किया है कि विषय के विश्लेषण में सारी आध्यात्मिकता खो गई है। जायसी का अत्यधिक विलास वर्णन भी आध्यात्मिकता के चित्र को अस्पष्ट कर देता है। इतना तो ठीक है कि रत्नसेन और पद्मावती का मिलन होता है जहाँ तक कि खुदा और बन्दे का एकीकरण है, पर जहाँ रत्नसेन और पद्मावती का अश्लीलता की सीमा को स्पर्श करता हुआ शृंगार वर्णन है वहाँ आध्यात्मिकता को किस प्रकार घटित किया जा सकता है? अतः जायसी का संकेत विशेष-विशेष स्थानों पर ही है। सारी कथा का घटना पक्ष अध्यात्मवाद से नहीं मिल सका है। इसका एक कारण और भी हो सकता है। वह यह कि जायसी एक प्रेम-कहानी कहना चाहते हैं। ये अपनी प्रेम-कहानी के प्रवाह में सभी घटनाओं को कहते चलते हैं और आध्यात्मिकता भूल जाते हैं। जब मुख्य घटनाओं की समाप्ति पर इन्हें अपने अध्यात्मवाद की याद आती है तो उसका निर्देश कर देते हैं। पर कथा की व्यापकता में अध्यात्मवाद सम्पूर्ण रूप से घटित नहीं हो पाता, क्योंकि कथा घटना प्रसङ्ग से प्रेरित होकर कही गई है।

जायसी कबीर से विशेष प्रभावित हुए थे। जिस प्रकार कबीर ने हिंदू मुसलमानों के बीच भिन्नता की भावना हटानी चाही उसी प्रकार जायसी ने भी दोनों सम्प्रदायों में प्रेम का बीज बोने का प्रयत्न किया। दोनों में सूफीमत के सिद्धांतों का प्रभाव स्पष्ट रूप से देखा जाता है और इसी के फलस्वरूप दोनों रहस्यवादी हैं। ये संसार के प्रत्येक कार्य में एक परोक्ष सत्ता का अनुभव करते हैं और उसी को प्रधान मान कर ईश्वर की महानता का प्रचार करते हैं। अन्तर केवल इतना है कि कबीर अन्य धर्मों के लिये लेशमात्र भी सहानुभूति

नहीं रखते। वे उद्दंडता के साथ विपक्षी मत का खण्डन करते हैं, उनमें सहिष्णुता का एकान्त अभाव है, पर जायसी प्रेम-पूर्वक प्रत्येक धर्म की विशेषता स्वीकार करते हैं और ईश्वर के अनेक रूपों में भी एक ही सत्ता देखने का विनयशील प्रयत्न करते हैं। कबीर ने जिस प्रकार अपने स्वतन्त्र और निर्भीक विचारों के आधार पर अपने पंथ की कल्पना की उस प्रकार जायसी ने नहीं की, क्योंकि जायसी के लिये जैसा तीर्थ-व्रत था वैसा ही नमाज-रोजा। ये प्रत्येक धर्म के लिए सहिष्णु थे, पर कबीर अपने ही विचारों का प्रचार देखना चाहते थे।

कबीर विधि विरोधी और लोक-व्यवस्था का तिरस्कार करने वाले थे पर जायसी ने कभी किसी मत के खंडन करने की चेष्टा नहीं की। इसका एक कारण था। जायसी का ज्ञानक्षेत्र अधिक विस्तृत था। इन पर इस्लाम की संस्कृति के साथ-साथ हिन्दू धर्म की संस्कृति का भी पूर्ण रूप से प्रभाव पड़ा था। वे कबीर की भाँति केवल सत्संगी जीव नहीं थे, पर गम्भीर रूप से शास्त्रीय ज्ञान से पूर्ण मनुष्य थे। यह बात दूसरी है कि इन्होंने जन-साधारण की अवधी भाषा का प्रयोग किया, इस प्रकार का प्रयोग तो तुलसीदास ने भी किया था। ये भाषा के व्यवहार में कबीर के समकक्ष होते हुए भी ज्ञान निरूपण में अधिक मनन-शील और संयत थे। ये मसनवी की शैली में प्रेम-कहानी कहते हुए भी अपनी गम्भीरता नहीं खोते। यही इनकी विशेषता है।

ना नारद तब रोइ पुकारा।
एक जुलाहै सौं मैं हारा ॥ १ ॥

जायसी ने अपनी समदृष्टि से दोनों धर्मों को अपनी प्रेम-कहानी के सूत्र से एक कर दिया है। हिन्दू पात्रों के जीवन से इन्होंने सूफी सिद्धांत निकाले हैं। अखरावट में भी उन्होंने एक ओर सूफी मत का वर्णन किया है, दूसरी ओर वेदान्त का।

मुसलमान संस्कृति

१ — मुसलमान संस्कृति का स्पष्टतः प्रभाव तो पहले जायसी की रचना शैली पर पड़ा है। पद्मावत की रचना शैली मसनवी के ढंग की है। समस्त रचना में अध्याय और सर्ग न होकर घटनाओं के शीर्षकों के आधार पर खण्ड हैं। आद्योपान्त प्रबन्धात्मकता की रक्षा की गई है।

२—समस्त कथा में सूफी सिद्धान्त बादल में पानी की बूँद की भाँति छिपे हुए हैं।

३—जायसी की इस्लाम धर्म में पूरी आस्था थी। फलतः उन्होंने मसनवियों की प्रेम-पद्धति का ही अधिक अनुसरण किया है।

४—जायसी के विरह-वर्णन में वीभत्सता आ गई है। शृङ्गार रस के अन्तर्गत विरह में रति की भावना प्रधान रहनी चाहिये, तभी रस की पुष्टि होगी। जायसी ने विरह में इतनी वीभत्सता ला दी है कि उससे रति-भाव को बहुत आघात लगता है।

५—मसनवी की वर्णनात्मकता भी जायसी को विशेष प्रिय थी। उन्होंने छोटी-छोटी बातों का बड़ा विस्तारपूर्वक वर्णन किया है। इससे कथा का कलेवर चाहे जितना बढ़ जावे, पर सजीवता पर आघात लगता है।

हिन्दू संस्कृति

१—डिंगल साहित्य के बाद हिन्दी कविता का जो प्रवाह मध्य देश में हुआ उसमें ब्रजभाषा और अवधी का अधिक प्रभाव रहा। यों तो अमीर खुसरो ने खड़ी बोली, ब्रजभाषा और अवधी तीनों पर अपनी प्रतिभा का प्रकाश डाला था, पर यह रचना केवल प्रयोगात्मक थी। जायसी ने अवधी को साहित्य में प्रमुख स्थान दिया। बाद में तुलसी ने "मानस" तो अवधी में ही लिखा था। जायसी का अवधी प्रयोग असंस्कृत है, पर भाषा की स्वभाविकता, सरसता और मनोगत भावों की प्रकाशन-सामग्री ने जायसी की अवधी को साहित्य-क्षेत्र में मान्य बना दिया। इस अवधी-प्रयोग के साथ जायसी ने हिन्दी छन्दों का भी सरल प्रयोग किया है। दोहा और चौपाई यद्यपि कुतुबन और मंझन द्वारा भी प्रयुक्त हो चुके थे, पर प्रेमाख्यानक काव्य में इन छन्दों का सर्वोत्कृष्ट प्रयोग जायसी के द्वारा ही हुआ है। पद्मावत तथा अखरावट दोहा, चौपाई, छन्दों में ही लिखा गया। सात चौपाइयों के बाद दोहा छन्द है। चौपाई की एक पंक्ति ही पूरा छन्द मान ली गई है। यदि दो पंक्तियों को छन्द माना जाता तो जायसी को आठ पंक्तियाँ लिखनी पड़तीं।

२—जायसी ने हिन्दू संस्कृति के अन्तर्गत अनेक दार्शनिक और धार्मिक बातों की चर्चा की है यद्यपि यह चर्चा अनेक रूपों में अपूर्ण है।

३—संयोग और वियोग शृङ्गार-वर्णन यद्यपि कहीं कहीं मसनवी की प्रेम पद्धति से प्रभावित हो गये हैं पर वे अंततः हिन्दू संस्कृति के आधार पर ही लिखे गये हैं। हिन्दू पात्रों के होने के कारण उनके दृष्टिकोण भी हिन्दू आदर्शों से पूर्ण हैं। विरह में षट्ऋतु और बारहमासा तो हिन्दी के लिये एक विशेष वस्तु हैं। अलंकारों के वर्णन में हिन्दी काव्य-परिपाटी का ही अनुसरण किया गया है।

४—पात्रों का चरित्र-चित्रण हिन्दू जीवन से पूर्ण साम्य रखता है। पात्र स्वभावतः दो भागों में विभाजित हैं :—१—सतोगुणी तथा २—तमोगुणी। दोनों में संघर्ष होता है और पाप पर पुण्य की विजय होती है। सम्पूर्ण कथा दुखान्त होकर एक शिक्षा के रूप में समाप्त हो जाती है। यही बात पद्मावत के प्रत्येक पात्र के सम्बन्ध में है।

पद्मावत की कथा

पद्मावत की कथा अन्य प्रेम-कथाओं की भाँति प्रेम की अनुभूतियों से पूर्ण है। सिंहलद्वीप के राजा गन्धर्वसेन की पुत्री पद्मावती के सौंदर्य की प्रशंसा हीरामन तोता से सुन कर चित्तौड़ का राजा रत्नसेन उससे विवाह करने के लिये सिंहलद्वीप की ओर प्रस्थान करता है। मार्ग में अनेक विस्तृत सागरों को पार कर वह सिंहलद्वीप पहुँचता है। वहाँ शिवजी की सहायता से भीषण युद्ध के बाद रत्नसेन पद्मावती से विवाह करता है। कुछ दिनों के बाद वह चित्तौड़ लौट आता है। ज्योतिष सम्बन्धी अनाचार पर रत्नसेन राघव-चेतन को देश निकाला दे देता है जो अलाउद्दीन से मिलकर, पद्मावती के सौंदर्य की कहानी कहकर चित्तौड़ पर चढ़ाई करवा देता है। गोराबादल की सहायता के कारण अलाउद्दीन विजय प्राप्त नहीं कर सका। रत्नसेन की अनुपस्थिति में देवपाल अपनी दूती भेज कर पद्मावती से प्रेम याचना करता है। रत्नसेन जब यह सुनता है तो वह द्वन्द्व युद्ध में देवपाल का सिर काट लेता है, पर देवपाल की सांग से खुद भी मर जाता है। पद्मावती और नागमती सती

हो जाती है। स्वयं कवि इस कथा का सारांश स्तुतिखण्ड में इस प्रकार देता है :—

सिंहल द्वीप पदमिनी रानी।
रत्नसेन चितउर गढ़ आनी॥
अलाउद्दीन देहली सुलतानू।
राघव चेतन कीन्ह बखानू॥
सुना साहि गढ़ छेंका आई।
हिन्दू तुरकन भई लराई॥
आदि अंत जस गाथा अहै।
लिखि भाखा चौपाई कहै॥[1]

पद्मावत की कथा का विस्तार कवि ने बड़े मनोरंजक ढङ्ग से किया है। जहाँ पर घटनाओं की वास्तविकता का चित्रण है वहाँ पर तो कवि मानव जगत से उपर उठ गया है। घटनाओं की शृंखला पूर्ण स्वाभाविक है। यदि दोष है, तो वह आदर्श और अतिशयोक्ति के कारण। कथा में कवि की मनोवृत्ति ऐसी ज्ञात होती है कि वह संसार को उसके वास्तविक नग्न रूप में देखना चाहता है। पर आध्यात्मिक सन्देश और आदर्श के प्रति प्रेम, ऐसा करने में कवि को रोकते हैं। रत्नसेन के प्रेमावेश में अस्वाभाविकता है। यह अस्वाभाविकता इसलिये आ गई है कि कवि इस प्रेमावेश को आत्मा या साधक के प्रेमावेश में घटित करना चाहता है। वस्तुस्थिति के वर्णन में जो अस्वाभाविकता है उसमें भी साहित्य के आदर्श बाधा डालते हैं। कहीं-कहीं उनमें आध्यात्मिक तत्व खोजने के प्रयत्न में भी स्वाभाविकता का नाश हो जाता है। यत्र-तत्र अतिशयोक्ति का बड़ा प्रयोग हुआ है। इसमें चाहे साहित्यिक चमत्कार भले ही बढ़ जाय, पर स्वाभाविकता के मूल पर कुठाराघात होता है।

पद्मावत की कथा इतिवृत्तात्मक होते हुए भी रसात्मक है। बिना इतिवृत्त के कौतूहल की सृष्टि नहीं होती और बिना वर्णन-विस्तार के रसात्मकता नहीं

---

[1] पद्मावत स्तुति खण्ड, पृष्ठ १०

आती। जहाँ जायसी ने कौतूहल की सृष्टि की है वहाँ उन्होंने वर्णन-विस्तार में भी मनोरञ्जन की यथेष्ट सामग्री रक्खी है। वस्तु के पाँच भाग होते हैं:—१—आरम्भ, २—आरोह, ३—चरम सीमा, ४—अवरोह, और ५—अन्त। रसात्मकता के साथ कथावस्तु का रूप इस प्रकार है:—
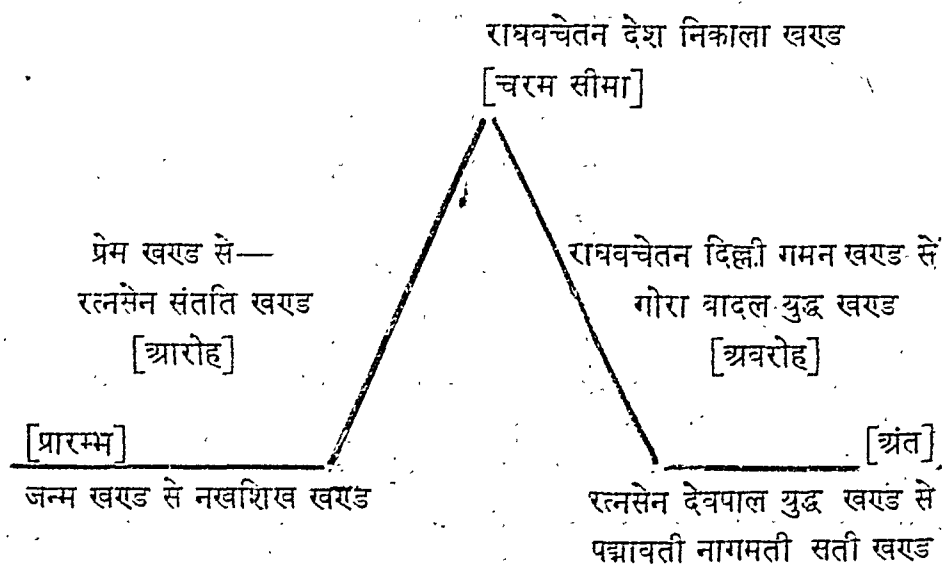
'राघवचेतन देश निकाला' खण्ड ही कथा को बदल देता है। अतः वही कथा की चरम सीमा है। 'जन्म खण्ड' से लेकर 'नखशिख खण्ड' तक वातावरण की सृष्टि है। 'प्रेम खण्ड' से संघर्ष प्रारम्भ होता है जो 'राघवचेतन देश निकाला' खण्ड में उत्कर्ष को प्राप्त होकर चरम सीमा का निर्माण करता है। 'राघवचेतन दिल्ली गमन' खण्ड से अवरोह प्रारंभ होता है और उसकी समाप्ति गोराबादल के युद्ध में होती है। अन्त में रत्नसेन-देवपाल युद्ध से पद्मावती और नागमती के सती होने में कथा की समाप्ति है।

पद्मावत में कथावस्तु की ही प्रधानता है क्योंकि कवि ने केवल उन्हीं घटनाओं का उल्लेख किया है जिनसे पात्रों के आदर्श की पूर्ति होते हुए भी कौतूहल उत्पादन करने वाली प्रेम कथा की रूप-रेखा निर्मित हो जावे। अतः

पद्मावत घटना-प्रधान कहा जा सकता है, पात्र-प्रधान नहीं। घटना-प्रधान में वर्णनात्मकता का बहुत बड़ा स्थान है जिस पर पीछे विचार हो चुका है।

पद्मावत का सबसे बड़ा सौंदर्य पात्रों के मनोवैज्ञानिक चित्रण में है। नागमती का विरह वर्णन, उसका उन्माद, पशु पक्षियों की उससे सहानुभूति प्रकट करना आदि सभी स्वाभाविकता के साथ वैदग्धपूर्ण भाषा में वर्णित हैं। बारहमासा में वेदना का कोमल स्वरूप, हिन्दू दाम्पत्य जीवन का मर्मस्पर्शी माधुर्य, प्रकृति की सजीव अभिव्यक्ति में हृदय की मनोहर अनुभूति है। इसी मनोवैज्ञानिक चित्रण में रसों का सफल प्रदर्शन हुआ है। जहाँ रत्नसेन पद्मावती मिलन में संयोग और नागमती विरह-वर्णन में वियोग शृंगार की मनोवैज्ञानिक अभिव्यक्ति है, वहाँ गोराबादल के उत्साह में वीर रस जैसे साकार हो गया है। रत्नसेन के योगी होने और कथा के अंतिम भाग में मारे जाने पर करुण रस से ही नहीं प्रत्युत मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भी पद्मावत प्रेम-काव्य का एक चिरस्मरणीय ग्रन्थ रहेगा।

भाषा

जायसी की काव्य-भाषा तत्कालीन बोलचाल की अवधी है। फारसी तथा अरबी के प्रचलित शब्द और मुहावरे बड़े ही स्वाभाविक रूप से उनकी भाषा में प्रयुक्त हुए हैं। संस्कृत का अधिक ज्ञान न होने के कारण जायसी की भाषा संस्कृत के प्रभाव से पूर्णतया विमुक्त है।

जायसी ने अपभ्रंश का लोकप्रिय विअकबरी या दोहया छन्द काव्य के लिए प्रयोग किया है। जायसी के काव्य में पांडित्य के आडम्बर से विहीन अत्यन्त स्वाभाविक और यथातथ्य भाषा का रूप सुरक्षित है। भाषा और साहित्य के लिए जायसी की यह बड़ी भारी देन है।

पश्चिमी हिन्दी का प्रयोग

जायसी के बराबर ठेठ पूरबी अवधी के शब्दों का प्रयोग किसी भी कवि ने नहीं किया, परन्तु पूरबी अवधी की ही व्याकरण का अनुसरण सदैव किया हो, सत्य नहीं। उन्होंने तुलसी के समान सकर्मक भूतकालिक क्रिया के लिंग, वचन, अधिकांशतः पश्चिमी हिन्दी के ढंग पर कर्म के अनुसार ही रक्खे हैं।

बसिठन्ह आइ कही अस बाता।

इसी प्रकार पश्चिमी हिन्दी के भूतकालिक क्रिया का पुरुष भेद रहित रूप भी रक्खा है।

तुम तौ खेलि मंदिर मंह आई।

कहीं कहीं पश्चिमी साधारण क्रिया के न वर्णांत रूप का प्रयोग भी मिलता है।

कित आवन पुनि अपने हाथा। कित मिलिके खेलब एक साथा।

यही नहीं जायसी ने पछाहीं हिन्दी के बहुवचन रूप भी कहीं कहीं रक्खे हैं।

क—नसैं भई सब तांहि।

ख—जो बन लाग हिलोरैं लेई।

आप 'तू' या 'तै' के स्थान पर 'तुइ' का अक्सर प्रयोग करते हैं। वास्तव में यह रूप कन्नौज, खीरी, शाहजहाँपुर में ही प्रचलित है।

अति प्राचीन रूपों का प्रयोग

तुलसी और जायसी ने समान रूप से अपनी रचनाओं में प्राचीन शब्दों और रूपों का प्रयोग किया है। जैसे पुहुमी, सरह, बिसहर, पइठ्ठ, भुवाल, अहुद, ससहर, दिनिअर पृथ्वी, शलभ, विषधर, प्रतिष्ठ, भूपाल, अध्युष्ठ, शशधर, दिनकर आदि।

प्राचीन रूपों में की, हि या ह विभक्ति का प्रयोग दोनों कवियों ने सभी कारकों में किया है।

१—जेहि जिउ दीन्ह कीन्ह संसारू ... कर्ता

२—चांटहिं करै हस्ति सरि जोगू ... कर्म

३—बजहिं तिनकहि मारि उड़ाई ... करण

४—देस देस के बर मोंहि आवहिं ... सम्प्रदान

५— राजा गरबहिं बोलै नाहीं ... अपादान

६—सौजहिं जन सब रोवा पंखिहि तन सब पांख।
चतुर वेद हौं पंडित हीरामन मोहि नांव ... सम्बन्ध

७—तोहि चढ़ि हेर कोइ नहिं साथा।
कोन पानि जोहि पवन न मिला ? ... अधिकरण

जायसी ने कर्त्ता कारक में हि की विभक्ति सकर्मक भूतकालिक क्रिया के सर्वनाम कर्त्ता में तथा अकारांत संज्ञा कर्त्ता दोनों में ही लगाई है।

१ – राजै लीन्ह ऊबि कै सांसा ...राजा ने

२—सुऐ तहां दिन दस कल काटी ...सुए ने

प्राचीन शब्दों का प्रयोग—प्राचीन विभक्तियों के अतिरिक्त जायसी ने कुछ प्राचीन शब्दों का भी प्रयोग किया है। जिनमें कुछ तो आज प्रचलन से बिल्कुल उठ गए हैं 'चाहि' 'बाज' जैसे :

१ – मेघहु चाहि अधिक वै कारे (बढ़कर)

२ – को उठाइ बैठारै बाज पियारे जीव (अतिरिक्त, बिना बगैर छोड़कर)

इसी प्रकार 'पारना' 'सकना', 'आछना' 'था', 'है', 'रहा' आदि 'बिल्कुल' का प्रयोग दोनों ही कवियों ने बहुतायत से किया है।

१—परीनाथ कोई छुवै न पारा (सका)

२—कवंल न आछै आपनि बारी (है)

३—मातु न जानसि बालक *आदी*। हौं बादला सिंह रनबादी (निपट)

जायसी ने भूतकालिक रूप 'अहा' (था) का भी प्रयोग किया है :

भांट अहै ईसर की कला *(था)*

निश्चयार्थक शब्द 'पै' (निश्चय या ही) का भी जायसी ने बहुलता से प्रयोग किया है।

मांगु मांगु पै कहहु पिय, कबहुँन देहुन लेहु।

उच्चारण अवधी वालों को दो से अधिक वर्णों के शब्दों के आदि में ह्रस्व इ और ह्रस्व उ के उपरांत आ का उच्चारण अधिक पसन्द है। इसी से खड़ी बोली और ब्रज के शब्द स्यार, क्यारी, व्याज, व्याह प्यारा, न्याव तथा द्वार, ख्वार, ग्वाल, क्रमशः अवधी में सियार, कियारी, बियारी, बियाज, बियाह, पियार, नियाव हो जाते हैं। इसी प्रकार य, व अवधी में इ उ हो जाने से यहां, वहां, ह्यां, ह्वां, इहां, उहां या हियां, हुँआ बोले जाते हैं। यही नहीं, इस भाषा के बोलने वालों का अ, आ, के उपरांत इ अच्छा लगता है आइ, जाइ, पाइ, कराइ, आइहै, जाइहै, पाइहै, कराइ है।

ऐ और औ का उच्चारण केवल यकार और वकार के पहले रह गया है 'गैया', 'कन्हैया'। अवधी में 'अइस', 'जइस', 'भइंस', 'दउरि' आदि।

अन्य कवियों की भाँति जायसी को भी संभवत: श्रुतिमाधुर्य का विचार रहा है, इसी से उन्होंने लकार के स्थान पर रकार कर दिया है : दल—दर, बल—बर।

होत आव दर जगत असूभू। (दल)

जायसी की भाषा, शब्द और वाक्य

जायसी की भाषा ठेठ अवधी है जो नए, पुराने, पूर्वी, पश्चिमी कई प्रकार के रूपों के स्थान पा जाने से कुछ अव्यवस्थित अवश्य हो गई है; परन्तु केशव, भूषण, देव की भाषा की भाँति नहीं। चरणों की पूर्ति के लिये निरर्थक शब्द नहीं भरे गए। शब्द भले ही व्याकरण विरुद्ध मिल जायँ पर वाक्य शिथिल और दोषपूर्ण नहीं मिलते। जैसे :

दरस देखिकै बीजु लजाना। 'लजाना' के स्थान पर लजानि चाहिए। यदि छंद विचार से दीर्घान्त करे तो 'लजानीं' होगा। यहीं नहीं, कहीं-कहीं वाक्यों में तो बड़ा प्रवाह है :

सुनि तुम कंह चितउर मंह कहिउं कि मेटौ जाइ। जैसे अन्वय करने की आवश्यकता है ही नहीं।

मुहावरे और लोकोक्तियाँ—जायसी की भाषा में मुहावरे और कहावतों का भी प्रयोग हुआ है पर बड़े सहज रूप में। वे भरती के नहीं जान पड़ते। जैसे :

जोबन नरि घटे का घटा। सत के बर जौनहिं हिय फटा॥

यहाँ हृदय फटना या जी फटना मुहावरों का प्रयोग हुआ है। जब जल घटने लगता है तब तालाब की मिट्टी सूख कर फट जाती है। अब लोकोक्तियों के भी उदाहरण देखना चाहिये :

१—सूधी अंगुरि न निकसे घीऊ।

२—धरता परा सरग को चाटा। आदि

इतना होने पर भी न्यूनपदत्व के कारण जायसी के वाक्य स्वच्छ होते हुए तुलसी जैसे सुव्यवस्थित नहीं। विभक्तियों, सम्बन्ध वाचक सर्व-

न्यूनपदत्व

नामों तथा अव्ययों के लोप करने में बोलचाल की भाषा का विचार नहीं रखा। उन्होंने इनका मनमाना लोप किया है। इसी से प्रसादगुण कहीं कहीं बिल्कुल जाता रहा है और अर्थ तक पहुँचना कठिन हो गया है। जैसे :

सरजे लीन्ह साँग पर घाऊ। परा खड्ग जनु परा निहाऊ॥

से खड्ग क्या मानो निहाई पड़ी अर्थ निकलता है पर कवि का तात्पर्य है मानो खड्ग निहाई पर पड़ा। पर के लोप से यह दशा हो गई।

अव्ययों के लोप में भी अर्थों की यही दशा हो गई है :

१—पुनि सो रहै, रहै नहिं कोई (दूसरे रहै के पहले जब चाहिये)

२—तब तहँ चढ़े फिरै नौ भंवरी। (फिरै जब फिरै)

सम्बन्धवाचक सर्वनामों के लोप में तो जायसी ब्राउनिंग से भी आगे बढ़ गए हैं।

कह सो दीप पतंग के मारा—यहाँ पतंग के पहले जेइ के लुप्त होने से अर्थ तक पहुँचने में बाधा पड़ती है।

हिन्दी के अधिकांश कवियों की भाँति जायसी ने शब्दों का तोड़-मरोड़ नहीं किया। पदों के अन्त में दीर्घांत करने के अतिरिक्त उन्होंने उनमें रूपान्तर नहीं किया।

विप्ररूप धरि झिलमिल इंदू में इंद्र से इंदू करना ठीक नहीं। पर ऐसे स्थान एक ही दो मिलेंगे।

जायसी में निरास। जो किसी की आशा नहीं, जो किसी का आश्रित न हो। तथा विसवास। विश्वासघात। जैसे दो-एक शब्दों

अप्रयुक्तत्व दोष

का ऐसे अर्थों में प्रयोग किया है जो व्यवहार में नहीं आते। जैसे :

१—राजै बीरा दीन्ह, नहिं जाना *विसवास*

२—तेहि *निरास* प्रीतम कंह जिउन देउं का देउं

दो से अधिक सामासिक पदों में समास जायसी ने नहीं किया। वह भी संस्कृत के ढङ्ग पर होकर फारसी में हैं। लोक परवान पुरुप कर बोला (परवान लोक)। एक स्थान पर तो फारसी वाक्य खण्ड जैसा का तैसा रख दिया है : केस मेघवरि सिरता पाई (सरता पा सिर से पैर तक)

सामासिक पद

फारसी की इस झलक को छोड़कर जायसी की भाषा बोलचाल की भाषा है। देशी साँचे में ढली हुई, हिन्दुओं की घरेलू, मधुर, मनमोहक भाषा। उसका माधुर्य अनोखा माधुर्य है जिसे अवधी की अपनी मिठास कहा जा सकता है। तुलसी की संस्कृत की कोमलकांत पदावली का उसमें कोई हाथ नहीं। जायसी ने तुलसी जैसी संस्कृत पदावली गर्भित भाषा भले ही न लिख सके हों और तुलसी ने दोनों ही प्रकार की ठेठ अवधी और संस्कृत पदावली युक्त, परंतु जायसी की भाषा, एक ढंग की सही, पर है अनूठी और सुन्दरतम। शुद्ध बेमेल अवधी की मिठास के लिये पद्मावत कानन में कूकती हुई कोकिला के प्रति कान लगाने ही पड़ेंगे। अन्य कहीं अवधी का माधुर्य न मिलेगा।

अन्य सूफी कवि

उसमान—उसमान की प्रसिद्ध रचना चित्रावली है। इनका जन्म स्थान गाज़ीपुर था।

गाजीपुर उत्तम अस्थाना। देवस्थान आदि जग जाना॥
गंगा मिलि जमुना तहँ आई। बीज मिली गोमती सुहाई॥
तिरधारा उत्तम तट चीन्हा। द्वापर तहँ देवतन्ह तप कीन्हा॥

ये हाजी बाबा के शिष्य और शेख हुसेन के पुत्र थे। इनके चार भाई थे शेख अज़ीज, सानुल्लाह, शेख फैजुल्लह तथा शेख हसन जो विभिन्न कलाओं में पारंगत थे। उसमान का उपनाम नान था। उसमान बड़े निरभिमान और विनयशील स्वाभाव के थे। इस विषय में यह अंतः साक्ष्य पठनीय है :

आदि हुता विधि माथे लिखा। अच्छर चारि पढ़ै हम सिखा॥
देखत जगत अला सब जाई। एकवचन पै अमर रहाई॥
वचन समान सुधा जग नाहीं। जेहि पाय कवि अमर रहाई।

इनका रचना काल सन् १०२२ हिजरी (सन् १६५३) था :

सन् सहस्र बाइस जब अहे। तब हम वचन चारि एक कहे।
कहत करेजा लोहु भावानी। सोई जान पीर जिन्ह जानी।

चित्रावली की रचना जायसी से लगभग ७५ वर्ष पूर्व हुई थी। इसीलिए पद्मावत और चित्रावली की भाषा शैली में बहुत कुछ साम्य है। फिर भी उसमान की भाषा जायसी की अपेक्षा अधिक प्रौढ़ और परिमार्जित है। श्री गणेश प्रसाद द्विवेदी का मत है कि यह तुलसी के समसामयिक थे और संस्कृत का ज्ञान यदि इन्हें होता तो इनकी भाषा प्रौढ़ता में उनके आसपास पहुँचती।[1] उसमान के काव्य में लोकोक्तियों का प्रयोग बड़ी स्वाभाविकता के साथ हुआ है।

आलम

आलम के विषय में अनेक भ्रमपूर्ण धारणाएँ प्रचलित हैं। कुछ विद्वानों का विचार है कि माधवानल कामकन्दला और आलम केलि के रचयिता आलम एक ही व्यक्ति थे। वस्तुतः दोनों ग्रन्थों के रचयिता दो भिन्न भिन्न आलम थे। आलम की प्रमुख कृति माधवानल कामकन्दला थी जिसका रचना काल सन् ६६१ हिजरी (१६४० ई०) था। यह अकबर का राज्यकाल था। अकबर के अर्थ सचिव टोडरमल आलम के आश्रयदाता थे :

सन् नौ सै इक्यानुवै आइ। करौ कथा अब बोलौ ताहि ॥
दिलियपति अकबर सुरताना। सत्य दीप मै जाकी आना ॥
सिहनपति जगन्नाथ सुतेला। आपुन गुरु जगत सब चेला ॥
जब धर भूमि पयानौ करई। वासुक इन्द्र आसन था थरई ॥
धर्मराज सब देस चलावा। हिन्दू तुरुक पंच सबुलावा ॥
आगरैंतु महामति मंडनु। नृप राजा टोडरमल डंडनु ॥

आलम की अवधी का रूप परिष्कृत है। इसमें स्थान स्थान पर संस्कृत के शब्दों के प्रयोग से साहित्यिकता आ गई है। कवि ने संस्कृत के तत्सम और तद्भव शब्दों का प्रयोग किया है। जायसी की तुलना में आलम की भाषा में परिमार्जन, परिष्कार और प्रवाह सर्वत्र उपलब्ध होता है। उदाहरणार्थ कतिपय पंक्तियाँ पढ़िये।

---

[1] हिन्दी प्रेमगाथा काव्य संग्रह, पृष्ट १३

नृत्य गीत विद्या चतुराई । गई विसरि गुनकी अतुराई ॥
बदन मलीन पीतरंग भयऊ । रक्त मांस सूखि सब गयऊ ॥
राजा बोलति मीठे बैना । विरहिनि नारि न जोरै नैना ॥
राजा बोलहि उत्तर नहि देई । बरुनी छूटि नैन भरि लेई ॥
(कन्द्रला प्रेम, परीक्षा खण्ड)

नूरमुहम्मद की प्रसिद्ध रचना इन्द्रावती है । इसका केवल प्रथम भाग संभा से प्रकाशित हुआ है । नूरमुहम्मद का जन्म स्थान सबरहद था जैसा कि प्रस्तुत उद्धरण से ज्ञात होता है :

नूरमुहम्मद

कवि अस्थान कीन्ह जेहि ठाऊं । सो वह ठाऊं सबरहद नाऊं ॥
पूरब दिस कइलास समाना । अहै नसीरुद्दी को थाना ॥

अपने इस ग्रन्थ के सम्बन्ध में कवि का निम्नलिखित कथन पठनीय है :

कवि है नूर मुहम्मद नाऊं । है पछलग सब को जग ठाऊं ॥
चुनि कविजन खेतन सों बाला । करै चहत खलिहान बिलासा ॥
है कविसमै नई तरुनाई । छूटन अबहीं कवि लरिकाई ॥
जाके हिये लरिक बुधि होई । बहुतै चूक कहत है सोई ॥
विनवत कवि जनकंह कर जोरी । है थोरी बुधि पूंजिय मोटी ॥
हौं हीना विद्याबुधि सेती । गरब गुमान करौं केहि सेती ॥
हौं मैं लरिकाई को चेला । कहहु न पोथी खेलहु खेला ॥
गुरु जब सों यह विनती मोरी । कोपन मानहि भौंह सिकोरी ॥

इन्द्रावती की रचना जायसी से २१० वर्ष बाद सन् ११५७ हिजरी संवत् १८०१ में अंतिम मुगल सम्राट मुहम्मदशाह के समय में हुई थी ।

सन् इग्यारह सौ रहेउ, सत्तावन उपनाह ।
कैह लगेउ पोथी तबै, पाय तपी करबाह ।

नूरमुहम्मद की भाषा शुद्ध अवधी है । उसमान की भाषा की भाँति इनकी भाषा न परिमार्जित है न उसमें साहित्यक रूप की प्रधानता है । इनकी भाषा में ठेठ और ग्रामीण शब्दों का प्रयोग बाहुल्य के साथ हुआ है । भाषा प्रौढ़ता की दृष्टि से भी ये उसमान से घटकर सामने आते हैं । नूरमुहम्मद ने

जायसी और उसमान की शैली पर ही अपने प्रबन्ध की रचना की है। इनकी भाषा में कहीं-कहीं ब्रज भाषा की छटा भी उपलब्ध हो जाती है। उदाहरणार्थ इन्द्रावती से कतिपय पंक्तियाँ यहाँ उद्धृत की जाती हैं।

अलख प्रेम कारन जग कीन्हा। धन सो सीस प्रेम मँह दीन्हा ॥
जाना जेहिक प्रेम मँह हीया। मरै न कबहूँ सो मर जीया ॥
प्रेमखेत है यह दुनियाई। प्रेमी पुरुष करत बोवाई ॥
जीवन जाग प्रेम को अहई। सोवन भीच वो प्रेमी कहई ॥
आगतपन जल चाल समूझो। पुनि टिका माटी कहँ बूझो ॥

शेखनिसार

शेखनिसार की ख्याति का मुख्याधार अवधी में लिखित उनका ग्रन्थ यूसुफ जुलेखा है। वे मुगल वंश के अंतिम सम्राट् शाह आलम के समकालीन थे। इनकी जन्म-तिथि ई० सन् १७२२ थी :

आलम शाह हिंद सुलताना। तेहिं के राज यह कथा बखाना ॥

इसी समय अवध प्रदेश में नवाब आसिफुद्दौला का राज्य था :

चहु दिसि अंध धुंध सब छावा। अवध देस कों दियो बिहावा ॥
येहिया खां आसिफ उद्दौला। तासु सहाय अहर नित मौला ॥
हिन्दू सचिव वह बली नरेशा। तेहि के धरम सुखी सब देसा ॥
तेहि के राजनीति जग छाए। धरम दान को सरवर पाए ॥

शेखनिसार का जन्म जिला रायबरेली, परगना बडरावां, तहसील महराजगंज, ग्राम शेखपुर में हुआ था। हमारे कवि को संस्कृत, फारसी, अरबी, तुर्की का भला ज्ञान था और उसने इन भाषाओं में ग्रन्थों की रचना भी की थी।

सात गरंथ अनूप सुहाए। हिंदी और पारसी सोहाए ॥
संस्कृत तुरकी मन भाए। अरबी और फारसी सुहाए ॥
हरि निकार के गेहूँ खाने। रस मनोज रस गीत बखाने ॥
और दिवान मसनवी भाखा। कर दोई नसर पारसी राखा ॥

शेखनिसार विविध भाषाओं के पंडित थे। प्रेमगाथा लेखकों में भाषा विषयक ज्ञान का इतने विश्वास के साथ दावा करने वाला कोई भी अन्य कवि नहीं मिलता है। इनकी अवधी भाषा में हमें साहित्यिक अवधी का परिमार्जित और सुष्ठु रूप उपलब्ध होता है। निसार की अवधी मानस की तुलना में भी कुछ अंशों में परिष्कृत प्रतीत होती है। पद्मावत और जुलेखा की भाँति इसमें ग्रामीण शब्दों या ठेठ अवधी के शब्दों का कहीं भी प्रयोग नहीं मिलता है। कवि की भाषा में अरबी और फारसी के शब्दों का प्रयोग बड़े स्वाभाविक ढंग से हुआ है। इनके कवित्तों में ब्रज भाषा के शब्दों की छाया भी उपलब्ध होती है। काव्य के बहिरंग को प्रयत्न करके सजाने का शौक निसार को कभी नहीं रहा।

कासिम शाह

कासिम शाह का अवधी भाषा में रचित प्रसिद्ध ग्रन्थ का नाम है 'हंस-जवाहर'। इनका निवास स्थान लखनऊ के निकटस्थ दरियाबाद स्थान है। इनके पिता का नाम इमानउल्लाह था। मुहम्मद शाह के राज्यकाल में हिजरी सन् ११४६ में इस ग्रन्थ की रचना हुई थी। कासिम शाह की अवधी में वैसवाड़ी की प्रमुखता है। भाषा में कहीं-कहीं पूरबी अवधी की छटा भी दृष्टिगत होती है। कवि की भाषा में प्रवाह है और शब्दों के चयन में वह सतर्क प्रतीत होता है। भाषा का एक उदाहरण देखिए :

यक निस रोई बैठ अकेली। सोय गई चहु ओर सहेली।
तन मन रटन वहै धुनि लागी। सुलग सुलग दगधै तन आगी॥
सुमिरे कन्त नाँव हिय माँहीं। चितवै बार बार कोउ नाही।
सुमिरि सुमिरि मन करै अंदेसा। कत वह देस कंत जोहि देसा।
कहँ करतार करै यक ठाउं। कहँ मोर भाग जो टेकौं पाउं।

इस उद्धरण में दगधै, अंदेसा, ठांउं, टेकौं शब्दों का प्रयोग सुन्दरता के साथ हुआ है। कवि की भाषा जायसी की भाषा से बहुत कुछ साम्य रखती है।

ख्वाजा अहमद का जन्म प्रतापगढ़ जिले के बाबूगंज गाँव में सन् १८३० में हुआ था। इनके पिता का नाम लाल मोहम्मद था। इनका अवधी में लिखित प्रसिद्ध ग्रन्थ, नूरजहाँ सन् १९०५ में समाप्त हुआ। ग्रन्थ के समाप्त होने के केवल दो मास अनन्तर इनका देहावसान हो गया है। कवि ने काव्य भाषा और प्रेमकथा वर्णन की दृष्टि से जायसी और कासिम शाह को अपना आदर्श माना है :

मिलिक मुहम्मद पुरुख सआना। कथा पदुमिनी कीन्ह बखाना।
गढ़ चितउर और सिंघल दीपा। लिखेउ बखान सो प्रेम सनीपा॥
और कासिम जस दरियावादी। लिखेउ हंस कै कथा सो आदी॥
बलख सो चीन प्रेम रस बोवा। लिखेउ अरथजनु समुद विलोवा॥
अहमद तुम येन सबकइ चेला। यनके संघ चरन धैखेला॥

ख्वाजा साहब काव्य के अच्छे मर्मज्ञ थे! इनमें कवित्व की भी अच्छी प्रतिभा थी। कवि की भाषा का अनुमान निम्नलिखित पंक्तियों से सरलतापूर्वक हो जाता है :

हिरदै प्रेम प्रीति उलथानी। प्रेम कथा अब लिखौं कहानी॥
कवन सो देस बसै जहँ मूरी। जेहिके लखत होइ दुख दूरी॥
देखेउँ यदि काआ के माहीं। दूसर बाट अवर कहुँ नाहीं॥
काया माँझ नयनपुर घाटा। देखेउ सरनदीप कै बाटा॥

शेख रहीम के पिता का नाम यार मुहम्मद और गुरु का नाम सैयद विलायत अली था। उनका जन्म बहराइच जिला के जोविल नगर में हुआ। कवि ने भाषा और वर्णन शैली में पद्मावत और हंस जवाहर को आदर्श ग्रन्थ माना है। उसीके शब्दों में :—

उर्दू फारसी कुछ कुछ सीखों। भाषा स्वाद तनिक इस घीसों।
पदुमावति देखो निरथाई। मलिक मुहम्मद केर बनाई।

हंस जवाहिर कासिम केरी। पढ़ां सुनो पुस्तक बहुतेरी।
तँह से मोहुँ भयो यह जोगा। भाखा भाख कहूँ संजोगा।

स्पष्ट है कि कवि को फारसी, उर्दू और हिन्दी भाषा का भला ज्ञान था। पद्मावत और हंस जवाहर अध्ययन करने के अनन्तर कवि को भाषा में ग्रन्थ लिखने की प्रेरणा मिली।

कवि ने भाषा प्रेमरस की रचना सन् १६१५ ई० में की। इस तरह वह आधुनिक प्रेमगाथा का रचयिता है।

शेख रहीम की भाषा परिमार्जित और साहित्यिक है। इस ग्रन्थ में अवधी का रूप बड़ा ही सुष्ठु और आकर्षक है। कवि की भाषा जायसी की भाषा से बहुत निकट प्रतीत होती है। उदाहरणार्थ कतिपय पंक्तियाँ यहाँ उद्धृत करना असंगत न होगा :

गई समीप जब मालिन मैया। चन्द्रकला की लेन बलैया॥
चन्द्रकला उठि विहँसी धाई। बहुत दिनन पर आयो बाई॥
पूछेसु षेक कुसल घरकेरा। माता कत कीनो तुम फेरा॥
मालिन कहा सुनो मम प्यारी। मोहनी ते तुम्हे सुन्यो दुखारी॥
भा अंदेस देखन को धायो। तुम्हरे रोग का औषध लायो॥
देख सकूँ नहि तुम्हे मलीना। दुख तुम्हार आपन दुख चीन्हा॥

शेख रहीम की भाषा में बहराइच के जनपद और पास-पड़ोस में बोले जाने वाले ग्रामीण शब्दों का भी खूब प्रयोग हुआ। कहावतों का प्रयोग और सूक्तियों की व्यंजना जायसी के अनन्तर शेख रहीम ही के काव्य में उपलब्ध होती है। खड़ी बोली के प्रचार और व्यवहार के इस युग में अवधी का कितना सुन्दर रूप इस की भाषा में व्यक्त हुआ है, यह उपर्युक्त उद्धरणों से प्रकट हो जाता है।

कवि नसीर

नसीर का जन्मस्थान गाजीपुर जिला का जमानियाँ नामक नगर है। वे ऐनुल अहदी के शिष्य थे। इनका प्रसिद्ध ग्रन्थ युसुफ जुलेखा अवधी में ही लिखा गया है। इसका रचना काल संवत् १६७४ है। नसीर ने जीवन पर्यन्त बड़े-बड़े दुःखों का सामना किया। कहना असंगत न होगा कि दुःख उनके हृदय से सहोदर

की भाँति जीवन पर्यन्त चिपका रहा। युसुफ जुलेखा की कथा में अपने दुःखों और अनुभूतियों का आभास पाकर वे इसी के वर्णन में रम गए। कवि की भाषा का एक उदाहरण निम्नलिखित है :

(१) प्रेम कथा यह नसीर बखाना। जेहिकर अरथ करो बढ़वाना।
कौन रहे याकूब गियानी। कौन रहे यूसुफ परधानी।
यूसुफ भ्रात के अरथ लगाई। कहो कि मालिक संपर दाई।
कौन रहे तैमूसा जानो। कौन जुलेखा रही पहचानो।

(२) सुन यह विथा जुलेखा दाई। कहिसि जुलेखा से समझाई।
करन कदाचित सोच इह दाहा। काटे यहू परभू अवगाहा।
वही ओह के इह नगर में लावा। वही ओहकर तोके दरस देखावा।

हिन्दुओं के प्रेमाख्यानों में अवधी भाषा का रूप

सूफी आख्यान काव्य परम्परा हिन्दुओं और मुसलमानों, दोनों जातियों के उदारचेता कवियों के द्वारा अपनाई गई। इन दोनों जातियों के मनस्वी कवियों ने ऐहिक प्रेमाख्यानों के सर्जन में भी समान रूप से योगदान किया। इनमें से मुसलमान प्रेमाख्यानकारों की भाषा पर विगत पृष्ठों में विचार हो चुका है। अब यहाँ पर हिन्दुओं के प्रेमाख्यानों की रचना का माध्यम भाषा अवधी की विवेचना अपेक्षित है।

हिन्दू प्रेमाख्यान लेखकों में लगभग ३४ कवियों की खोज अब तक हुई है, परन्तु इन चौंतीस कवियों में से केवल ११ ने विशुद्ध अवधी भाषा में अपने काव्य ग्रन्थों की रचना की थी। शेष कवियों की भाषा राजस्थानी या ब्रज भाषा थी। इन ग्यारह ग्रन्थों के नाम निम्नलिखित हैं :

१—सत्यवती की कथा ... संवत् १५५२
२—रस रतन ... संवत् १६७५
३—नल दमयन्ती की कथा ... संवत् १६८२
४—नलदमन ... संवत् १७१४

५—पुहुपावती .. ... संवत् १७२६
६—नल चरित .... संवत् १७६८
७—उषा चरित्र ... ... संवत् १८२१
८—नल दमयन्ती चरित्र ... संवत् १८५३
६—उषाहरण ... ... संवत् १८८६
१०—उषा चरित ... ... संवत् १=८८
११—राजा चित्रमुकुट और रानी चन्द्रकिरन की कथा १६११ के पश्चात्।

सत्यवती कथा

अब इन प्रेमाख्यानों की भाषा पर पृथक् पृथक् विचार कर लेना असंगत न होगा। सबसे पहले हम सूची की प्रथम पुस्तक सत्यवती की कथा को लेते हैं। इस ग्रन्थ के प्रणेता श्री ईश्वर दास थे। ग्रन्थ का रचनाकाल सं० १५५८ है। इस प्रकार राम-चरितमानस की रचना से प्रायः चौहत्तर वर्ष पूर्व इस ग्रन्थ का प्रणयन हो चुका था। गोस्वामी जी से अर्ध शताब्दी पूर्व अवधी का क्या स्वरूप प्रचलित था, यह प्रस्तुत ग्रन्थ की भाषा से निश्चित हो जाता है। इसकी रचना भी मसनवी शैली के आधार पर हुई है। भाषा एवं साहित्यिक महत्त्व के साथ ही इसका ऐतिहासिक महत्त्व अत्यधिक है। यह इतिवृत्तात्मक अंशों से युक्त वर्णनात्मक काव्य है। कवि की भाषा में देशज और तद्भव शब्दों का प्रयोग प्रचुरता के साथ हुआ है। कवि की भाषा में प्रवाह उपलब्ध होता है। कवि की रचना से कतिपय पंक्तियाँ यहाँ उद्धृत की जाती हैं :

> कै लासन बखान मुरारी। तो तै सती सत्य बरनारी।
> जाकर पुरुष नयन कर अंधा। कुष्टी कुबुज बाउर बंधा।
> ऐसन कन्त जाहि कर सोई। सेवा करै सती जग सोई।
> नीक सुन्दर के नहि सेवै। अपना के जो सती कहावै॥

यह कवि की प्रारम्भिक रचनाओं में है, जैसा कि उसके प्रस्तुत कथन 'अलप बयस भई मति कर भोरा' से ज्ञात होता है।

द्वितीय आलोच्य ग्रन्थ 'रस रतन' है। कवि पुहुकर ने इसकी रचना सं० १६७५ में की थी। रस रतन की रचना का माध्यम अवधी का चलता हुआ रूप है। ग्रन्थ की भाषा संस्कृत के तत्सम शब्दों के प्रयोग से बहुत ही परिमार्जित हो गई है।

रस रतन

उदाहरणार्थ :

सगुण रूप निर्गुण निरूप बहुगुन विस्तारन।
अविनासी अवगत अनादि अघ अटक निवारन।
घट घट प्रगट प्रसिद्ध गुत निरलेख निरंजन॥

इस ग्रन्थ में पश्चिमी अवधी का सौष्ठव दर्शनीय है। इसकी भाषा और शब्दचयन प्रायः रामचरितमानस के समकक्ष प्रतीत होती है। उदाहरणार्थ :

पूरवीन पूरन चंद बदनी बंक जुग भ्रकुटी लसै।
छुटि अलक लटक कपोल पर जनु कमल अलि अवली लसै॥
मृग मीन खंजन नैन अंजन, चित्त रंजन सोहई।
विष धार वान त्रिलोक वरुणी देख मनमथ मोहई।

अपनी भाषा में कवि ने कहीं-कहीं प्रसंग की आवश्यकतानुसार डिंगल भाषा का पुट देकर उसे अधिक सजीव एवं ओजपूर्ण बना दी है। इस प्रकार के प्रसंग सेना के संचालन और युद्ध वर्णन में है :

पय पताल उच्छलिय रैन अंबर ह्वै हच्चिय।
दिग दिग्गज थरहरिय दिव दिनकर रथ खिच्चिय।
फन फनिंद फरहरिय सप्त सइर जल सुक्खिय।
दंत पांत गज पूरि चूरि पव्वइ पिसांन किय।

कवि की भाषा परिमार्जित और प्रवाहमयी है। शब्दों के चयन में कवि ने विशेष ध्यान दिया है।

तृतीय ग्रन्थ है नल-दमयन्ती की कथा। इसका रचना काल सं० १८६२ के पूर्व माना गया है। इसके रचयिता का नाम नरपति व्यास है। इस ग्रन्थ की रचना अवधी भाषा और दोहा, चौपाई छन्दों में हुई है। कवि ने दमयन्ती का सौंदर्य, विरह

नल-दमयन्ती

आदि का वर्णन बड़े रहस्यात्मक ढंग से किया है। कवि भाषा में वह प्रवाह नहीं दीख पड़ता है जो रस रतन में उपलब्ध होता है। उदाहरणार्थ एक छंद निम्नलिखित है :

ज्युं ज्युं विरह अग्नि परजरै। वरणु विरह बड़वानल वरई।
सहस नयन देखि सुर राया। त्रिपति नैंन होहि रूप रस भाई॥
कहै अगनि जमु वरणु सुणि। हमको दुष सवायो जानि।
भागवंतु अति सुर वेराई। सहस नयन देषि त्रि भाई॥

नल दमन

चतुर्थ ग्रन्थ 'नल दमन' है। इस ग्रन्थ की रचना लखनऊ के गोवर्धनदास के पुत्र सूरदास ने संवत् १७१४ में की थी। इस ग्रन्थ की रचना पूरबी अवधी में हुई है। कथा का वर्णन मसनवी शैली के आधार पर हुई है। कवि को पूरबी अवधी विशेष प्रिय थी, जैसा कि निम्नलिखित अंतः साक्ष्य से प्रकट है :

यारो पेह कछू मै अखिया।
इश्क फिराक पूरबी भखिया॥

कवि की भाषा शुद्ध, सरस और प्रवाहयुक्त है। उसमें अवधी के परिमार्जित रूप के दर्शन होते हैं :

जाइ सेज मन्दिर पग धारा। दुलहन चांद सखी संग तारा॥
अजहूँ प्रीतम दिस्टि न आवा। बीच सखी एक खेल उठावा॥
पाँच सखी चंचल अति तिन माही। निपट खिलारन खेल अघाही॥
देखन देह न कंत पियारा। घर ही मैं अंतर कर डारा॥

इन पंक्तियों को पढ़ते ही जायसी का स्मरण हो आता है। कवि की भाषा में अवधी का वह रूप सर्वत्र है जो पद्मावत में स्थान स्थान पर उपलब्ध होता है।

पुहुपावती

'पुहुपावती' के रचयिता दुःखहरन दास थे। इस ग्रन्थ का रचना काल सं० १७२६ है। ये मलूकदास के शिष्य और गाजीपुर के निवासी थे। कवि ने भाषा के क्षेत्र में जायसी का अनुकरण करने का प्रयत्न किया है। असाधारण काव्य शक्ति सम्पन्न होने के कारण कवि की भाषा में प्रवाह लालित्य और प्रसाद गुण सर्वत्र

विद्यमान है। संक्षिप्त शब्दों में गंभीर भाव-व्यंजना कवि की अपनी विशेषता है। भाषा के दो-एक उदाहरण देखिये :

रोवत नैन रकत कै धारा। टेसु फूलि बन भा रचनारा ॥
काजर सहि बुंद जनु छुटा। आजहुँ स्याम रंग नहि छुटा ॥
गुल लाला घुंघची सुठि दुखी। डूबी रकत माह मैं मुखी।
जौ सिंगार कोइ बरबस करई। अनिल समान होइ सो जरई ॥

यह पुहुपावती का वियोग वर्णन हुआ। अब उसके अधरों के सौंदर्य वर्णन में भाषा का रूप देखें :

अधर मधुर अति छीन सुरंगा। निरखत लजित होइ अनंगा ॥
जहाँ लगि जगत माह अरुनाई। सबन्ह वहि रंग लाली पाई ॥
पान खात मुख पीक जो चुई। तेहिते बीर बहूटी हुई ॥
सोइ रदन वदन तुअ लाभा। लोके बिजुली तेहि के आभा ॥

इन पंक्तियों से भाषा सौष्ठव का अनुमान हो जाता है। कवि ने भाषा के क्षेत्र में जायसी को अपना आदर्श माना है।

नल चरित — 'नल चरित' के रचयिता कोटा नरेश कुंवर मुकुन्द सिंह थे। इसका रचना काल संवत् १७६८ है। नल चरित की भाषा परिमार्जित, प्रवाहयुक्त और सुष्ठु है। इसमें संस्कृत के तत्सम शब्दों का प्रयोग बड़ी सुन्दरता के साथ हुआ है। कवि की भाषा में कहीं-कहीं संस्कृत के शब्दों का भी सुन्दर प्रयोग हुआ है। संक्षेपतः भाषा लालित्यपूर्ण है। उदाहरणार्थ :

जंघ जुगल कृसता अति लहई। मरुथल के करली जनु अहई ॥
जो करि तकि तब कमल लजाई। भागि रहे जल में सो जाई ॥
सोकर को अब कमल हसाई। बिरहते अतिहि छीनहुति लसाई ॥

उषा चरित — उषा चरित के रचयिता जनकुंज कवि थे। इस ग्रन्थ का रचना काल संवत् १८३१ है। उषा चरित की रचना अवधी में हुई है। कवि का वृत्यानुप्रास पर असाधारण अधिकार था और इस ग्रन्थ में पग-पग पर वृत्यानुप्रास की छटा दर्शनीय है। कवि

विषयानुसार भाषा का प्रयोग करने में सिद्धहस्त हैं। देखिए युद्ध वर्णन कितना प्रभावशाली और उचित है :—

हाँ हेहर हंकार कृस्न पर धाए। पर लै मेघ बान बरसाए।
धरि सर चाप कृस्न हंकारे। सिव के बान वृथा कररि मारें।

युद्ध भूमि के एक वीभत्स दृश्य का वर्णन सुनिए :

भूत प्रेत जोगिनि छतरावै। भरि भरि रुधिर ईस गुन गावै।
झूम मिलै करताल बजावैं। जोगिनि भरि भरि खःपर धावैं।
जाबुक गीध गीधनी गन लावै। भरि भरि उदर परम सुख पावै।

कवि की भाषा की विशेषता है सरल और मधुर शब्दों का चयन जो प्रतिध्वन्यात्मकता एवं चित्रात्मकता उपस्थित करने में सर्वथा समर्थ है। कवि की अवधी भाषा संस्कृत के शब्दों से प्रदीप्त में प्रभावित है। उपमा अलंकार का प्रयोग कवि ने बड़ी कुशलता के साथ किया है। उसकी उपमाएँ परम्परागत होते हुए भी हृदयग्राही हैं।

नलदमयन्ती चरित्र

'नलदमयन्ती चरित्र' की रचना संवत् १८५२ के पूर्व कवि सेवा राम ने की थी। इसका ठीक-ठीक रचना काल नहीं ज्ञात है। इस ग्रन्थ की रचना भी अवधी में हुई। प्रेम कथा के वर्णन के साथ ही कवि ने इसमें नीति और उपदेशों से सम्बन्धित छन्दों की भी पर्याप्त रचना की है। कवि की भाषा में अवधी के ग्रामीण और साहित्यिक रूपों का विचित्र समन्वय उपलब्ध होता है। उदाहरणार्थ :—

पीपर पूजन निसिदिन कीनौ। तुम्ह कंथ बताइ न दीनौ।
जौ असोक तुम नाम धराओ। करौ आज मेरौ मन भायौ॥

ग्रन्थ की भाषा में संस्कृत के शब्दों का प्रचुर मात्रा में प्रयोग हुआ है।

उषाहरण

उषाहरण के रचयिता का नाम जीवनलाल नागर था। इसकी रचना काल संवत् १८८६ है। प्रस्तुत ग्रन्थ की भाषा में ओज, प्रसाद के साथ ही स्वाभाविकता, सरलता एवं प्रतिध्वन्यात्मकता उपलब्ध होती है। कवि के शब्द-चित्र सुन्दर और

आकर्षक है। अलंकारों के प्रयोग से भाषा में प्रभावित करने की सराहनीय शक्ति का समावेश हो गया है। कवि ने प्रसंगानुसार भाषा और शब्दों का प्रयोग किया है। कवि की भाषा का एक उदाहरण निम्नलिखित है :

बरखत धरिनि धार धाराधर,
कबहुँक मंद कबहुँ बहुत जल धर।
गंधित सीत चलत पुरवाई,
छित छकि रति लै स्वास सुहाई।
खलखलात चहु दिस नद नारे,
निर्झर भरे ढरत जल धारे।

उपर्युक्त उदाहरण में भाषा कितनी प्रांजल और परिष्कृत है !

राजा चित्रमुकुट और रानी चन्द्रकिरण की कथा :—प्रस्तुत ग्रन्थ की भाषा चलती हुई अवधी है। कवि की भाषा में खड़ी बोली का विकासमान रूप भी परिलक्षित होता है। उदाहरणार्थ :—

जब फंदा राजा ने खोला।
हंस आसिरवाद दे बोला ॥

कवि की इस रचना में 'दे बोला' खड़ी बोली का क्रियापद है। इसके अतिरिक्त कवि की भाषा जायसी से बहुत कुछ मिलती है। कवि की रचना से दो-एक उद्धरण यहाँ दिये जाते हैं :

रैन भई अति ही अंधियारी। पिय बिन मानो नागिन कारी।
हाय हाय करि साँस लेवै। फिरि फिरि दोस दई को देवै ॥

भाव-व्यंजना को रसात्मक ढंग से व्यक्त करने में कवि कुशल और सफल है।

प्रेम-काव्य का सिंहावलोकन

हिन्दू और मुसलमान संस्कृतियों का प्रेमपूर्ण सम्मिलन ही प्रेम-काव्य की अभिव्यक्ति है।

वर्ण्य विषय

प्रेम-काव्य की समस्त कथा हिन्दू पात्रों के जीवन में घटित होती है जिसमें स्थान-स्थान पर हिन्दू देवी और देवताओं के लिये सम्मान की शब्दावलियाँ प्रयुक्त हैं। यद्यपि ऐसी प्रेम-कथाओं का निष्कर्ष एकमात्र सूफी मत का प्रतिपादन ही है, पर उसमें हिन्दू धर्म के लिये न तो अश्रद्धा है और न अपमान ही। हिन्दू धर्म और देवताओं का निर्देश अलौकिक घटनाओं और चमत्कार उत्पन्न करने में पाया जाता है। सारी कथावस्तु प्रेमाख्यान में ही विस्तार पाती है और उसमें किसी प्रकार की उपदेश देने की प्रवृति लक्षित नहीं होती। कथा समाप्ति पर संक्षेप में कथा के अंगों और पात्रों को सूफीमत पर घटित कर दिया जाता है और समस्त कथा में एक आध्यात्मिक अभिव्यंजना आ जाती है। उदाहरण के लिए जायसी का पद्मावत ही लिया जा सकता है। समस्त कथा रत्नसेन और पद्मावती के प्रेम और उसके विकास में समाप्त हो जाती है, अन्त में जायसी इस कथा में सूफी सिद्धांतों की रूप-रेखा निर्धारित करते हैं। अतः हिन्दू धर्म के वातावरण में सूफी सिद्धांतों का प्रचार करना इस प्रेम-काव्य की सबसे बड़ी विशेषता है।

यहाँ एक बात और ध्यान में रखनी चाहिए। सभी प्रेम-कथाएँ मुसलमानों के द्वारा नहीं लिखी गईं। बहुत से हिन्दू लेखकों ने भी प्रेम-कथाएँ लिखी हैं जिनमें प्रेम-काव्य की परम्परा का अनुसरण किया गया है। कथावस्तु भी हिन्दू पात्रों के जीवन को स्पर्श करती है, पर उसमें किसी सूफी सिद्धांत के निरूपण करने का प्रयत्न नहीं किया गया। उसमें केवल आख्यायिका और उससे उत्पन्न मनोरंजन की भावना ही प्रधान है। यह आख्यायिका कहीं-कहीं ऐतिहासिक हो जाती है, कहीं-कहीं काल्पनिक। हरराज की 'ढोला मारवणी चउपही', काशीराम की 'कनकमञ्जरी', हरसेवक की 'क़ामरूप की कथा' आदि ऐसी प्रेम कथाएँ हैं जिनमें केवल कथा का कौतूहल है, किसी सिद्धांत-विशेष का प्रतिपादन नहीं।

अतः निष्कर्ष यह निकलता है कि जब प्रेम-कथा किसी मुसलमान के द्वारा लिखी गई है तो उसमें कथा की गति में सूफी मत के सिद्धांतों की गति भी चलती रहती है, जब प्रेम-कथा किसी हिन्दू के द्वारा लिखी गई है तो उसमें

केवल प्रेम की रसमयी कहानी रहती है, किसी सिद्धांत के प्रतिपादन की चेष्टा नहीं।

इस प्रेम-काव्य की समस्त परम्परा में दोहा और चौपाई छन्द ही प्रयुक्त हुए हैं। वर्णनात्मकता में ये छन्द इतने उपयुक्त साबित हुए कि आगे चल कर तुलसीदास ने अपने मानस के लिए भी ये छन्द ही उपयुक्त समझे। अवधी भाषा के साहचर्य से दोहा और चौपाई छन्द इतने सफल हुए जितने वे ब्रजभाषा के सम्पर्क में आकर नहीं।

छन्द

प्रेम-काव्य की भाषा अवधी है। भाषा के प्रथम कवि खुसरो थे। उन्होंने सबसे पहले ब्रजभाषा के साथ ही साथ अवधी में भी काव्य रचना की, यद्यपि उनका दृष्टिकोण पहेलियों तक ही सीमित था। खुसरो के समय में काव्य की दो ही प्रधान भाषाएँ थीं, ब्रजभाषा और अवधी। दोनों के आदर्श भिन्न-भिन्न थे। कालक्रमानुसार अवधी कविता में ब्रजभाषा से पहले प्रयुक्त हुई। अवधी ने अपभ्रंश का लोकप्रिय विअक्खरी या दोहया छन्द ही प्रयोग के लिए स्वीकार किया। खुसरो ने एक सुन्दर दोहा लिखा है :—

भाषा

गोरी सोवे सेज पर, मुख पर डारे केश।
चल खुसरो घर आपने, साँझ भई चहुँ देश॥

दोहा छन्द अवधी में ऐसा फिट हुआ कि अन्य किसी भाषा में दोहे के साथ इतना न्याय नहीं हुआ। यही हाल चौपाई का रहा। अवधी में चौपाई का जो रूप निखरा वह ब्रजभाषा में भी नहीं। ब्रजभाषा का सौन्दर्य तो पद, सवैया और कवित्त में उद्‌भासित हुआ। यही कारण है कि तुलसी ने मानस को अवधी में लिख कर दोहे और चौपाइयों का प्रयोग किया और कवितावली ब्रजभाषा में लिख कर सवैयों और कवित्तों का प्रयोग किया। गीतावली और विनयपत्रिका में भी ब्रजभाषा की छटा पदों में प्रदर्शित की। अवधी भाषा ही चौपाई में सौन्दर्य ला सकी। सूरदास और बिहारी की ब्रजभाषा भी दोहों की रचना में अपेक्षाकृत असफल ही रही। बिहारी में पदलालित्य अवश्य है।

जो अवधी इस प्रेम-काव्य में प्रयुक्त है, वह अत्यन्त सरल और स्वाभाविक है। वह जन-समाज की बोली के रूप में है। उसमें संस्कृत के कठिन समास या दुरूह शब्दावलियाँ नहीं हैं। तुलसीदास ने अपनी अवधी को संस्कृतमय कर, अपने शब्द भांडार का अपरिमित परिचय दिया है; पर प्रेम-काव्य के कवियों ने अवधी में भाषा का अत्यन्त स्वाभाविक और यथातथ्य स्वरूप कविता में सुरक्षित रक्खा। साहित्य को प्रेम-काव्य की यह सब से बड़ी देन है।

प्रेम-काव्य में प्रधान रस शृङ्गार है। शृङ्गार के दो पक्ष हैं, संयोग और वियोग। प्रेम-काव्य में जहाँ सूफीमत का प्राधान्य है, वहाँ

रस

वियोग शृङ्गार का आधिक्य है, क्योंकि साधक का विरह ईश्वर से बहुत दिनों तक रहता है। अन्त में अनेक प्रकार की कठिनाइयों को पार कर संयोग की अवस्था आती है। इसलिये वियोग का अनुभव यथेष्ट समय तक रहता है। यह वियोग प्रेम-काव्य में प्रायः किसी राजकुमारी के सौन्दर्य की कहानी सुनकर अथवा चित्र देख कर जाग्रत हुआ करता है। पद्मावत में रत्नसेन को हीरामन तोते द्वारा कही हुई पद्मावती की प्रेम-कहानी सुन कर विरह का अनुभव होता है। चित्रावली में राजकुमार सुजान चित्रावली की चित्रसारी में उसका चित्र देखकर वियोग में दुःखी होता है। मान भी प्रेम-काव्य में मध्यम और गुरु हो जाता है। अधिकतर गुरु मान ही हुआ करता है, क्योंकि साधना में बड़ी कठिनाई से ईश्वर से सामीप्य प्राप्त होता है। प्रवास भूत और भविष्य दोनों प्रकार का होता है। नागमती का विलाप प्रवास के दृष्टिकोण से वियोग शृंगार का अच्छा उदाहरण है। प्रेम काव्य में शृङ्गार रस की सम्पूर्ण विवेचना है।

शृङ्गार रस के अतिरिक्त अन्य सभी रस कथावस्तु की मनोरंजकता बढ़ाने के लिए प्रयुक्त हुए हैं। हाँ, हास्य रस और रौद्र रस का अभाव अवश्य है। संभव है, प्रेम-काव्य में इनकी आवश्यकता न मानी गई हो। एक बात द्रष्टव्य है। प्रेम-काव्य के वियोग शृङ्गार में कहीं-कहीं वीभत्स चित्रावली के भी दर्शन हो जाते हैं। इसका कारण संभवतः यह हो कि मसनवी की प्रेम पद्धति में विरह वर्णन कोमल न होकर भीषण हुआ करता है। मांस और रक्त का

वर्णन तो विरह वर्णन में अवश्य ही रहता है। हिन्दू दृष्टिकोण से शृङ्गार रस के स्थायी भाव रति से मांस और रक्त की भावना का सामंजस्य हो ही नहीं सकता। अतः शास्त्रीय दृष्टिकोण से प्रेम-काव्य में रसदोष आ जाता है। शत्रु और मित्र रस समान रूप से साथ प्रस्तुत किये जाते हैं।

प्रेम-काव्य की परम्परा में आख्यायिका-साहित्य का यथेष्ट विकास हुआ। इस साहित्य का पोषण हिन्दू और मुसलमान जाति की दो विशेष भिन्न संस्कृतियों से हुआ। हिन्दू संस्कृति ने आचारगत आदर्शवाद और मुसलमान संस्कृति ने सूफ़ीमत के सिद्धान्तों से प्रेम-काव्य को पुष्ट किया। प्रेम-काव्य मसनवियों की शैली पर है और मसनवी सम्भवतः अलिफ लैला के घटना वैचित्र्य से निर्मित हुई।

छठा प्रकरण

राम-काव्य

उत्तरी भारत में राम-भक्ति का जो प्रचार हुआ उसका एकमात्र श्रेय रामानन्द को ही है। रामानन्द के पूर्व यद्यपि राम-भक्ति के अनेक वैष्णव आचार्य हो चुके थे तथापि इसके वास्तविक प्रचारक रामानन्द ही समझे जाते हैं। रामानन्द ने संस्कृत के साथ ही जन-समाज की बोली में वैष्णव धर्म का प्रचार किया। रामानन्द के शिष्य कबीर ने यद्यपि राम नाम का आश्रय लेकर हीं सन्तमत की रूपरेखा निर्धारित की तथापि राम-भक्ति का पूर्ण विकास तुलसीदास की रचनाओं में ही है। राम-काव्य के कवियों पर विचार करने के पूर्व राम-भक्ति के विकास पर दृष्टि डालना उचित है।

श्री राम का महत्त्व हमें सर्वप्रथम वाल्मीकीय रामायण में मिलता है। रामानन्द ने श्रीराम की दास्यभाव से उपासना की है।

राम-साहित्य की प्रगति

तुलसी ने रामानन्द के सिद्धान्तों को लेकर अपनी प्रतिभा से जो राम-भक्ति सम्बन्धी कविता लिखी उसका महत्त्व सर्वत्र सिद्ध हुआ। न केवल उनके काल में ही वरन् उनके परवर्ती काल में भी राम-भक्ति की धारा अबोध रूप से प्रवाहित होती रही। तुलसी के पश्चात् उनकी प्रतिभा की समता कोई न कर सका। कृष्ण-काव्य की लोकप्रियता किसी अंश तक राम-साहित्य के लिये बाधक मानी जा सकती है, पर तुलसी की काव्य-रचना की उत्कृष्टता आने वाले कवियों को प्रसिद्धि प्राप्ति का अवसर न दे सकी। मानस के सामने कोई प्रबन्ध काव्य आदर न पा सका। राम-साहित्य में तुलसी की रचना कवियों के लिए पथ-प्रदर्शन का कार्य अवश्य करती रही। संक्षेप में राम-साहित्य की विशेषताएँ इस प्रकार हैं :—

१—राम-साहित्य ने वैष्णव धर्म के आदर्शों को सामने रखकर सेवक-सेव्य भाव पर जोर दिया।

२—ज्ञान और कर्म से भक्ति श्रेष्ठ समझी गई।

३—इस साहित्य में विविध प्रकार की रचना-शैलियों का प्रयोग किया गया।

राम-काव्य के सब से प्रधान कवि तुलसीदास हैं। उन्होंने अपनी प्रतिभा से राम-काव्य को ही नहीं वरन् समस्त हिन्दी साहित्य को आलोकित कर दिया। तुलसीदास के पूर्व साहित्य में दो कवियों का नाम और मिलता है, जो किसी प्रकार तुलसीदास की काव्य-परम्परा से सम्बद्ध किये जा सकते हैं। प्रथम कवि थे भगवतदास और दूसरे थे चंद कवि जिनका आविर्भाव काल सं० १५३२ के लगभग मानना चाहिए।

गोस्वामी तुलसीदास

तुलसीदास राम साहित्य के सम्राट् हैं। उन्होंने राम के चरित्र का आधार लेकर मानव जीवन की जितनी व्यापक और सम्पूर्ण समीक्षा की है, उतनी हिन्दी साहित्य के किसी कवि ने नहीं की। इस समीक्षा के साथ ही उन्होंने लोक-शिक्षा का भी ध्यान रक्खा है और मानव जीवन में ऐसे आदर्शों की स्थापना की जो विश्वजनीन हैं और समय के प्रभाव से नहीं बदल सकते। उन्होंने आदर्शों की भित्ति पर अपनी भक्ति के स्वरूप की इतनी अच्छी विवेचना की कि वह तत्कालीन धार्मिक अव्यवस्था में पथ-प्रदर्शन का काम कर गई। इस भक्ति में नीति की धारा भी मिली है।

तुलसीदास का जीवन-चरित्र सम्पूर्ण रूप से हमारे सामने प्रमाणिक होकर अभी तक नहीं आया। स्वयं तुलसीदास ने अपना विस्तृत परिचय नहीं दिया। उनके ग्रंथों में यत्र-तत्र कुछ विवरण बिखरा हुआ मिलता है। वह भी उन्होंने अपने परिचय के रूप में नहीं दिया, वरन् अपने दैन्य और निराश हृदय के भावों को प्रकाशित करने के लिए ही दिया है। यदि तुलसीदास को आत्मग्लानि न होती तो शायद वे अपने विषय में इतना भी नहीं

लिखते। किन्तु जो कुछ भी हमारे सामने है वही प्रमाणिक है। संक्षेप में तुलसीदास द्वारा दिया हुआ आत्मचरित उन्हीं के शब्दों में घटना के क्रम से इस प्रकार रखा जा सकता है।

अन्तर्साक्ष्य के आधार पर तुलसीदास का जीवनवृत्त

१. जन्म तिथि

२. माता-पिता

रामहिं प्रिय पावन तुलसी सी।
तुलसीदास हित हिय हुलसी सी॥

३. नाम

(अ) राम को गुलाम नाम राम बोला राख्यो राम,
काम यहै नाम द्वै हौं कबहुँ कहत हौं।

(आ) केहि गिनती महँ गिनती जस बन घास।
नाम जपत भये तुलसी तुलसीदास॥

(इ) साहिब सुजान जिन स्वानहू को पच्छ कियो,
राम बोला नाम, हौं गुलाम राम साहि को।

४. बाल्यावस्था

(अ) मातु पिता जग जाय तज्यो,
विधिहू न लिखी कछु भाल भलाई।

(आ) जाति के सुजाति के कुजाति के पेटागि बस,
खाए टूक सब के विदित बात दुनी सो।

(इ) तनु तज्यो कुटिल कीट ज्यों तज्यो मातु पिता हूँ।

(ई) द्वार द्वार दीनता कही काढ़ि रद परि पाहूँ।

५. जाति और कुल

(अ) मेरे जाति पाँति न चहौं काहू की जाति पाँति,
मेरे कोऊ काम को न हौं काहू के काम को।

(आ) जायो कुल मङ्गन बधावनों सुनि,
भयो परिताप पाप जननी जनक को।

(इ) दियो सुकुल जनम शरीर सुन्दर हेतु जो फल चारि को ।

६. गुरु

(अ) बन्दौं गुरु पद कंज, कृपासिंधु नररूप हरि ।

(आ) मैं पुनि निज गुरु सन सुनी कथा सो सूकर खेत ।

(इ) मीजो गुरु पीठ अपनाइ गहि बाँह बोलि,
सेवक सुखद सदा विरद बहत हौं ।

७. गृहस्थ जीवन

(अ) लोग कहैं पोचु सो न सोचु न संकोचु,
मेरे ब्याह न बरेखी जाति पाँति न चहत हौं ।

(आ) काहू की बेटी सों बेटा न ब्याहब,
काहू की जाति बिगार न सोऊ ॥

(इ) लरिकाई बीती अचेत चित चंचलता चौगुनी चाय ।
जोबन जुर जुवती कुपथ्यकरि भयो त्रिदोष भरि मदन वाय ॥

८. वैराग्य और पर्यटन

(अ) मैं पुनि निज गुरु सन सुनी कथा सो सूकर खेत ।

(आ) अब चित चेतु चित्रकूटहिं चलु ।

(इ) सेइय सहित सनेह देह भर कामधेनु कलि कासी ।

(ई) मुक्ति जनम महि जानि, ज्ञान खानि अघ हानि कर ।
जहँ बस संभु भवानि, सो कासी सेइय कस न ॥

९. वृद्धावस्था

(अ) चेरो राम राय को सुजस सुनि तेरो,
पाई तर आइ रह्यौ सुरसरि तीर हौं ॥

(आ) राम की सपथ सरवस मेरे राम नाम
कामधेनु काम तरु मोसे छीन छाम को ॥

(इ) जरठाइ दिसा रविकाल उग्यो अजहूँ जड़ जीव न जागहि रे ।

१०. रोग

(अ) अविभूत, वेदन विपम होत भूतनाथ,

तुलसी विकल पाहि पचत कुपीर हौं।
मारिये तो अनायास कासीवास खास फल,
ज्याइये तो कृपा कर निरुज सरीर हौं।
(आ) रोग भयो भूत सो कुसूत भयो तुलसी को,
भूतनाथ पाहि पद पंकज गहतु हौं।

११. यशप्राप्ति

(अ) हौं तो सदा खर को असवार तिहारोई नाम गयंद चढ़ायो।
(आ) छार ते सँवारि के पहार हूँ तें भारी कियो।
गारो भयो पंच में पुनीत पच्छ पाइ कै।
(इ) पतित पावन राम नाम सों न दूसरो।
सुमिरि सुभूमि भयो तुलसी सो ऊसरो॥

१२. रचनाएँ

(अ) संवत सोरह सै इक्तीसा। करौं कथा हरिपद धरि सीसा॥
(आ) जय संवत फागुन सुदि पचै गुरु दिनु।
अस्विनि विरचेउँ मंगल सुनि सुख छिनु छिनु॥

१३. मरण-संकेत

(अ) पेखि सप्रेम पयान समै सब सोच विमोचन छेम करी है॥
(आ) राम नाम जस वरणि कै भयो चहत अब मौन।
तुलसी के मुख दीजिए अबही तुलसी सौन॥

तुलसीदास के ग्रन्थ—गोस्वामी जी के ग्रन्थों की सूची रचना-क्रम से इस प्रकार दी जाती है :—

	संवत्
१. रामगीतावली	१६२८
२. कृष्णगीतावली	१६२८
३. रामचरितमानस	१६३१
४. विनयपत्रिका	१६३६ (लगभग)
५. रामलला नहछू	१६३६ (लगभग)

६. पार्वती मंगल	१६३६ लगभग
७. जानकी मंगल	१६३६ लगभग
८. दोहावली	१६४०
९. सतसई	१६४२
१०. बाहुक	१६६९
११. वैराग्य सन्दीपिनी	१६६९
१२. रामाज्ञा प्रश्न	१६६९
१३. बरवै	१६६९

उपर्युक्त सूची वेणीमाधव दास के मूल गोसाईंचरित में दी हुई है।

शिवसिंह सरोज ने तुलसीदास के ग्रन्थों की संख्या १८ मानी है। मिश्र-बन्धु और ग्रियर्सन ने क्रमशः २५ तथा २१ ग्रन्थ माने हैं।

तुलसीदास और दर्शन

तुलसी के ग्रन्थों को देखने से पता चलता है कि उन्होंने संस्कृत के दर्शन-शास्त्र का बड़ा अध्ययन किया था। दर्शन की अत्यन्त कठिन और रहस्यपूर्ण बातों को उन्होंने बड़ी ही सरलता से अपनी भाषा में रख दिया है। तत्कालीन साहित्य में कोई भी ऐसा कवि नहीं है जिसने दर्शनशास्त्र का परिचय इतनी दक्षता से दिया हो। तुलसी के दो ग्रन्थ ऐसे हैं जिनमें उनके दर्शन-ज्ञान का दर्शन होता है। एक तो 'विनयपत्रिका' है और दूसरी पुस्तक 'रामचरितमानस'। विनय-पत्रिका में स्तुति, आत्म-बोध और आत्म-निवेदन का अंश अधिक हो जाने के कारण दर्शन का विशेष स्पष्टीकरण नहीं है। पर कुछ पद ऐसे अवश्य हैं जिनसे तुलसी का दर्शन-ज्ञान अवश्य लक्षित हो जाता है। शंकर के मायावाद के निरूपण में तो वे दक्ष हैं :--

"केसव कहि न जाइ का कहिए।
देखत तव रचना विचित्र अति समुझि मनहि मन रहिए॥
सून्य भीति पर चित्र रंग नहिं, तनु बिनु लिखा चितेरे।
धोये मिटै न मरै भीति दुख पाइय यहि तनु हेरे॥"

इस पद से ज्ञात होता है कि वे शंकर के अद्वैतवाद के प्रतिपादक होते हुए

भी उसे "भ्रम" मानते हैं। जो हो, विनयपत्रिका में दर्शन के कुछ सिद्धान्तों का निर्देश अवश्य है, पर उसमें विनय और प्रेम का अंश अधिकतर है।

"मानस" में तुलसीदास का दर्शन बहुत विस्तृत, व्यापक और परिमार्जित है। उन्होंने घटना प्रसङ्ग में भी दर्शन का पुट दे दिया है। जहाँ कहीं भी उन्हें भावनाओं के बीच में अवकाश मिला है, उन्होंने दर्शन की चर्चा छेड़ दी है। बालकाण्ड के आरम्भ में तो ईश्वरभक्ति का निरूपण करते हुए उन्होंने अपनी दार्शनिकता के अङ्ग-अङ्ग स्पष्ट किये हैं। इसी प्रकार अनेक संवादों में गोस्वामी जी ने अपनी दार्शनिकता का परिचय दिया है।

उनका दर्शन किस 'वाद' के अन्तर्गत आता है, यह विवादग्रस्त है। कुछ समालोचकों ने इधर सिद्ध कर दिया है कि तुलसी अद्वैतवाद के पोषक थे और कुछ कहते हैं कि वे विशिष्टाद्वैतवादी थे। किन्तु अभी तक कोई भी मत स्पष्ट नहीं हो पाया।

तुलसी के दर्शन सम्बन्धी अवतरणों को देखने से ज्ञात होता है कि वे राम को 'विधि हरि शम्भु नचावन हारे' के रूप में मानते थे। तुलसी वैष्णव थे, अतः अवतारवादी भी थे। इसका प्रमाण उन्होंने मानस में अनेक बार दिया है। वे अपने ब्रह्म को अद्वैत के शब्दों में तो व्यक्त करते हैं पर विशिष्टाद्वैत के गुण से युक्त कर देते हैं:—

"एक अनीह अरूप अनामा। अज सच्चिदानन्द पर धामा।
व्यापक विश्व रूप भगवाना। तेहि धरि देह चरित कृत नाना॥

यहाँ एक, अनीह और अरूप ब्रह्म भक्तों के लिये अवतार लेता है। अद्वैतवाद के रूप में उनका ब्रह्म इस प्रकार है:—

(क) "ईश्वर अंश जीव अविनासी।"

(ख) "गिरा अरथ जल बीचि सम कहियत भिन्न न भिन्न।"

इसी अद्वैत ब्रह्म को जब तुलसी विशिष्ट बनाते हैं तब सती से प्रश्न कराते हैं:—

"ब्रह्म जो व्यापक बिरज अज, सकल अनीह अभेद।
सो कि देह धरि होइ नर, जाहि न जानत वेद॥"

इसका उत्तर आगे इस प्रकार देते हैं :—

"सगुनहि अगुनहिं नहिं कछु भेदा ।"

इस प्रकार तुलसी ने अद्वैतवाद के अन्तर्गत विशिष्टाद्वैतवाद की सृष्टि कर दी है। मानस देखने से ज्ञात होता है कि गोस्वामीजी अद्वैतवाद को श्रद्धा की दृष्टि से देखते हुए भी रामानुजाचार्य के विशिष्टाद्वैत के अनुयायी थे।

तुलसी ने ब्रह्म की व्यापकता के लिये उसे अद्वैतवाद का रूप अवश्य दिया और उसे माया से समन्वित किया भी, पर उसे उस रूप में नहीं ग्रहण कर सके। वे भक्त थे अतः उन्हें भक्ति का सहारा लेकर ब्रह्म को विशिष्टाद्वैत में निरूपित करना पड़ा। इसलिए जहाँ कहीं भी उन्हें अद्वैतवाद से ब्रह्म-निरूपण की आवश्यकता पड़ी, वहीं उसके बाद उन्होंने उसे भक्ति-मार्ग का आराध्य भी मान लिया।

तुलसीदास और साहित्य

तुलसीदास ने जिस समय लेखनी उठाई थी उस समय उनके समक्ष चारणकाल के वीर गाथात्मक ग्रन्थ और प्रेम-काव्य तथा सन्त-काव्य के मुसलमानी प्रभाव से प्रभावित धार्मिक ग्रन्थ थे। चारणकाल में तो काव्य की परिभाषा ही स्थिर नहीं हुई थी। अतः उसमें साहित्यिक सौन्दर्य कम था। प्रेम-काव्य की दोहा और चौपाइयों की प्रबन्धात्मक रचना में शैली का सौन्दर्य अधिक था और भावों का कम। सन्त-साहित्य में तो एकमात्र एकेश्वरवाद और गुरु की वन्दना थी। उसमें धर्म-प्रचार की भावना अधिक थी, साहित्य-निर्माण की कम। कृष्णकाव्य के आदर्श भी बन रहे थे, पर वे अभी पूर्णता को प्राप्त नहीं हुए थे। अतः तुलसी के समय में साहित्य बहुत ही साधारण कोटि का था। उन्होंने उसे केवल अपनी प्रतिभा से उत्कृष्ट बना दिया था। यही तुलसीदास की अपरिमित शक्ति है।

भाषा

तुलसी के पूर्व अवधी में रचना पर्याप्त मात्रा में हो चुकी थी। सूफी कवियों ने अवधी में ही रचना की थी, पर उसमें साहित्यिक परिष्कार का अभाव था। रामचरितमानस की रचना करके गोस्वामी जी ने अवधी को सुसंस्कृत और मधुर बना दिया। गोस्वामी

जी ने शुद्ध और साहित्यिक व्रजभाषा में भी रचना की है। कवितावली और विनयपत्रिका की भाषा इतनी सुन्दर और मँजी हुई है कि वैसी परिष्कृत तथा सम्बद्ध कविता व्रजभाषा के कवियों में भी नहीं प्राप्त होती।

विनयपत्रिका में भोजपुरी का भी प्रयोग हुआ है, साथ ही बुन्देलखंडी के शब्द भी मिलते हैं।

इसके अतिरिक्त गोस्वामी जी ने फारसी तथा अरबी के शब्दों का भी प्रयोग किया है। अपनी रचना को जन-प्रिय बनाने के लिए गोस्वामी जी ने सरल शब्दों का ही प्रयोग किया है।

यहाँ पर गोस्वामी तुलसीदास की भाषा पर सविस्तार विचार कर लेना अपेक्षित प्रतीत होता है:

गोस्वामी जी की रचनाओं का भाषा की दृष्टि से दो वर्गों में विभाजन सरलता के साथ हो सकता है। प्रथम है अवधी की रचनाएँ। इस वर्ग में राम-चरितमानस का उल्लेख प्रधान रूप से होना आवश्यक है। इस अमर कृति के अनन्तर बरवै रामायण, पार्वती मंगल, जानकी मंगल, रामाज्ञा प्रश्न, राम-लला नहछू और वैराग्य संदीपिनी का उल्लेख अपेक्षित है। द्वितीय वर्ग है व्रज भाषा की रचनाओं का। इस वर्ग का प्रतिनिधित्व करने वाली रचना श्री कृष्ण गीतावली है। इसके अनन्तर गीतावली, विनयपत्रिका, कवितावली, दोहावली का स्थान है।

इन दो बड़े-बड़े प्रमुख वर्गों के अतिरिक्त कवि की भाषा में उर्दू, फारसी, अरबी, तुर्की, संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, बंगला, गुजराती और राजस्थानी आदि के शब्दों का भी समुचित प्रयोग हुआ है। तुलसी की समन्वयवादी प्रकृति का परिचय उनकी भाषा से भी प्रकट हो जाता है। परन्तु तुलसी का पूरा-पूरा मन या ध्यान अवधी पर ही केन्द्रित था। उनकी प्रमुख कृतियों, उनकी ख्याति और कला के मुख्याधार ग्रन्थों की रचना अवधी में ही हुई है। परन्तु इसका यह तात्पर्य कदापि नहीं है कि अन्य शेष (व्रजभाषा में रचित) ग्रन्थ किसी प्रकार से उपेक्षणीय है।

कवि की अवधी विषयक रचनाओं के भी तीन उपवर्ग स्थापित किये जा सकते हैं :

१. पूर्वी अवधी में विरचित ग्रन्थों का वर्ग।

२. पश्चिमी अवधी में लिखित ग्रन्थों का वर्ग।

३. वैसवाड़ी (अवधी) की कृतियों का वर्ग।

अब इन उपवर्गों की दृष्टि से कवि के ग्रन्थों का विभाजन और अध्ययन अपेक्षित है। पूर्वी अवधी में विरचित ग्रन्थों में रामलला नहछू एवं बरवै रामायण का उल्लेख आवश्यक है। पश्चिमी अवधी के वर्ग में रामाज्ञा प्रश्न एवं वैराग्य संदीपिनी तथा वैसवाड़ी में रामचरितमानस, पार्वती मंगल और जानकी मंगल का उल्लेख किया जाता है।

पूर्वी अवधी के मुख्यतया दो व्याकरण विषयक लक्षण हैं। ये लक्षण हैं संज्ञा शब्दों के साथ '*इया*' एवं '*वा*' का योग। इन उभय प्रत्ययों के प्रयोग करने से पूर्व शब्दों की ध्वनि को जिस पर बलाघात होता है, दीर्घ से ह्रस्व कर दिया जाता है। यह विशेषता न तो वैसवारी अवधी में है न पश्चिमी अवधी में। उदाहरणार्थ कतिपय उद्धरण पठनीय हैं :

१. चंपक हर*वा* अंग मिलि अधिक सोहाइ (बरवै रामायण)

२. कन *गुरिया* के मुंदरी ककन होइ (बरवै रामायण)

३. इहकु न है उजि*यरिया* निसि नहिं घाम (बरवै रामायण)

४. कटि है छीन *बरिनिया* छाता पानिहि हों। (रामलला नहछू)

इन उद्धरणों में हरवा, कनगुरिया, उजियरिया, बरिनिया, आदि शब्द उपर्युक्त कथन के समर्थक हैं।

पश्चिमी अवधी के कुछ अधिक निकट है। इसमें ओकारान्त संज्ञाओं, क्रियाओं एवं विशेषणों की प्रधानता है। रामाज्ञा प्रश्न और वैराग्य संदीपिनी से इसके कतिपय उदाहरण देना रोचक होगा :

१. सुदिन सोधि गुरु वेदविधि *कियो* राजअभिषेक। (रामाज्ञा प्रश्न)

२. *ऊँचो* कुल केहि काम को जपा न हरि को नाम। (वैराग्य संदीपिनी)

३. *दियो* तिलक लंकेस कहि राम गरीब नेवाज। (रामाज्ञा प्रश्न)

गोस्वामी जी की अवधी भाषा सामान्यतया पांच प्रकार की शब्दावली से प्रभावित है। हम इस व्यवहृत शब्दावली का विभाजन निम्नलिखित प्रकार से कर सकते हैं :

१. संस्कृत भाषा के शब्द तथा उसी के तत्सम शब्दों का समूह।
२. प्राकृत, पालि एवं अपभ्रंश आदि भाषाओं के शब्द।
३. विदेशी भाषाओं के तत्सम, अर्ध तत्सम एवं तद्भव शब्द।
४. देशज शब्द
५. हिन्दी की बोलियों और उपबोलियों के शब्द।

अब इन समस्त वर्गों की विवेचना अपेक्षित है। सबसे पहले हम संस्कृत भाषा तथा उसके तत्सम शब्दों के प्रयोग पर विचार करेंगे।

संस्कृत तथा उसके तत्सम शब्द

गोस्वामी जी के ग्रन्थों में संस्कृत तथा उसके तत्सम शब्दों का प्रयोग बाहुल्य के साथ हुआ है। इन प्रयोगों से स्पष्ट है कि गोस्वामी जी को संस्कृत भाषा का सम्यक् ज्ञान था। रामचरितमानस के प्रत्येक सोपान के प्रारम्भ में मङ्गलाचरणों, स्तुतियों तथा विनयपत्रिका के पूर्वार्द्ध में उल्लिखित श्लोकों में संस्कृत शब्दों का बाहुल्य दर्शनीय है। इनसे कवि के संस्कृत ज्ञान का समर्थन और पुष्टि होती है। उदाहरणार्थ :

मूलं धर्मतरोर्विवेकजलधेः पूर्णेन्दुमानन्ददं।
वैराग्याम्बुजभास्करं ह्यघघनध्वान्तापहं तापहम्।
मोहाम्भोधरपूगपाटन विधौ स्वःसम्भवं शंकरं।
वन्दे ब्रह्मकुलं कलंकशमनं श्रीरामभूपप्रियम्॥

मानस २।१

मानस में एक स्तुति की भाषा देखें :

नामामीशमीशान निर्वाणरूपं। विभुं व्यापकंब्रह्म वेद स्वरूपम्।
निजं निर्गुणं निर्विकल्पं निरीहं। चिदाकाशमाशवासं भजेहं॥

संस्कृत के शब्दों के प्रयोग का दूसरा रूप वह है जहाँ कवि ने संस्कृत के

सरल शब्दों का प्रयोग किया है। ऐसे स्थलों पर ये शब्द छन्द पूर्ति में सहायक प्रतीत होते हैं। छन्दों में ऐसे शब्दों की संख्या या प्रतिशत किसी प्रकार कम नहीं है, परन्तु फिर भी सरल होने के कारण वे हिन्दी के निकट और मिलते-जुलते हुए प्रतीत होते हैं। उदाहरणार्थ देखिए :

१. राम अनन्त अनंत *गुनानी*। जन्म कर्म अनन्त *नामानी*।
(रामचरितमानस ७।५२)

२. अनघ अविछिन्न सर्वज्ञ सर्वेस खलु सर्वतोभद्र दाता *समाकं*।
प्रणत जन खेद विच्छेद विद्या निपुन नौमि श्रीराम *सौमित्रिसाकं*।
युगल पद *पद्म सुखसद्म पद्मालय*, चिन्ह कुलिसादि सोभाति भारी।
हनुमंत हृदि विमल कृत परममन्दिर सदा दास तुलसी सरनसोकहारी।
(विनयपत्रिका)

इन दोनों उद्धरणों में हिन्दी संस्कृत के मिश्रित शब्दों का प्रयोग हुआ है। इनमें से अधिकांश शब्द ऐसे हैं जो सामान्य ज्ञान वाले व्यक्ति की समझ के बाहर हैं।

प्राकृत और अपभ्रंश के शब्दों का प्रयोग

कवि की भाषा में प्राकृत और अपभ्रंश के शब्दों का प्रयोग सीमित रूप में हुआ है। ये शब्द विशेष संज्ञाओं, क्रियापदों एवं विशेषणों तक ही सीमित हैं। इन भाषाओं के शब्दों के प्रयोग में तत्सम्बन्धी व्याकरणिक नियमों का परिपालन नहीं हुआ है। इन शब्दों के पीछे कवि की कोई विशेष अभिरुचि नहीं प्रतीत होती है, जैसा कि संस्कृत की शब्दावली के प्रति सर्वत्र प्रकट होता है। गोस्वामी जी की भाषा में प्राकृत एवं अपभ्रंशादि भाषाओं के रूप कई प्रकार से उपलब्ध होते हैं। इनमें से प्रथम वह स्थल है जहाँ पर ऐसे शब्दों का प्रयोग किसी विशेष रस अथवा भाव की वृद्धि में सहायक प्रतीत होते हैं। वीर, रौद्र, एवं भयानक रसों में इस प्रकार के शब्दों का विशेष प्रयोग हुआ है। उदाहरणार्थ :

१. जंबुक निकट कटक्कट *कट्टहिं*। *खाहिं हुवाहिं* अघाहिं *दपट्टहिं*॥

२. बोल्लहिं जो जय जय मुंड रुंड प्रचंड सिर बिनु धावहीं ।
खप्परिन्ह खग्ग अलुज्झि जुज्झहिं सुभट भटन्ह ढहावहीं ॥

दूसरे स्थल वे हैं जहाँ पर कवि ने इन शब्दों का प्रयोग छन्द शुद्धि और तुकांतता के लिए की है। तीसरे स्थल वे हैं जहाँ कवि ने इन भाषाओं के शब्दों का प्रयोग कूतूहल-सृष्टि के लिये की है। प्रस्तुत कथन का समर्थन निम्नलिखित पंक्तियों से होता है :

कोटिन रुंड मुंड बिनु डोल्लहिं। सीस परे महि जय जय बोल्लहि ॥

कवि की अवधी भाषा पर फारसी, अरबी, तुरकी आदि भाषाओं का

विदेशी भाषाओं के तत्सम, एवं तद्भव शब्दों का प्रयोग

व्यापक प्रभाव दिखाई देता है। ऐसे शब्दों का प्रयोग कवि ने बड़े स्वाभाविक ढंग से किया है। इनके प्रयोग से भाषा में सुन्दर प्रवाह आ गया है। रामचरित-मानस में ऐसे शब्दों का व्यापक प्रयोग हुआ है। गरीब, गनी, नेवाज, साहब, जहान, कागज, बखशीश, गरदन, शोर, गुमान, गरूर, हवाले, रुख, माफी, दिल आदि शब्दों का प्रयोग स्थान-स्थान पर मिलता है। इन विदेशी शब्दों का कवि ने हिन्दी के व्याकरिणिक नियमानुसार प्रयग किया है।

कवि ने प्रांतीय भाषाओं के अत्यन्त प्रचलित शब्दों का प्रयोग किया है।

प्रांतीय भाषाओं एवं देशज शब्दों का प्रयोग

गोस्वामी जी पर्यटनशील साथ ही व्यापक अध्ययनशील व्यक्ति थे। अतः प्रांतीय भाषाओं के शब्दों का प्रयोग स्वाभाविक ही प्रतीत होता है। उनकी अवधी भाषा में राजस्थानी, गुजराती, बंगला और मराठी के शब्दों का यत्र-तत्र प्रयोग हुआ है। यहाँ पर कतिपय उद्धरणों को उद्धृत करना असंगत न होगा :

(क) राजस्थानी १—दास तुलसी सभय वदति मयनन्दिनी
मंद मति कंत सुनु मंत म्हाको। (कवितावली)
२—जातहि राम तिलक तेहि सारा। (गीतावली)

(ख) गुजराती १—काहू न इन्ह समान फल लाधे

२—*पालो* तेरो टूक को, परेहुँ चूक मूकिए न

(ग) बंगला १—जाइ कपिन्ह सो देखा *वैसा*।

२—*सोक विवस* कछु कहै न पारा।

यहाँ पर स्थानाभाव के कारण केवल कतिपय उदाहरणों से सन्तोष करना पड़ता है। कवितावली, गीतावली, मानस आदि से इनके अनेक उदाहरण प्रस्तुत किये जा सकते हैं।

अवधी गोस्वामी जी की सर्वाधिक प्रिय भाषा थी। इसीलिए उन्होंने अपने अधिकांश ग्रंथों की रचना अवधी में ही की थी। अवधी में काव्य ग्रंथों की रचना करते समय कवि की दृष्टि अवधी के व्याकरणिक प्रयोगों और भाषा विषयक प्रमुख प्रवृत्तियों पर बराबर बना रहा है। व्याकरण की शुद्धता की दृष्टि से कवि ने अवधी की शब्दावली का बड़ी सतर्कता के साथ प्रयोग किया है। यहाँ पर अवधी की प्रयुक्त शब्दावली के विषय में विचार कर लेना अपेक्षित प्रतीत होता है :

१—अवधी में संज्ञा के दो रूप - ह्रस्व तथा दीर्घ रूप मिलते हैं। इनके अतिरिक्त संज्ञा का एक और रूप उपलब्ध होता है यथा—*घोड़ा*, *घोड़वा* और *घोड़ौना*। इनमें गोस्वामी जी के काव्य में संज्ञा का प्रथम रूप तो मिलता है, शेष दो का प्रयोग अल्प मात्रा में हुआ है। प्रथम प्रकार की संज्ञा के कतिपय उदाहरण निम्नलिखित हैं :—

१—गंग सकल मुद मंगल मूला।

२—*लसत* ललित कर कमल माल *पहिरावत*।

२—अवधी में 'न्ह' प्रत्यय के योग से विकारी बहुवचन रूपों का निर्माण होता है। इस प्रकार के उदाहरण गोस्वामी जी की रचना में प्रचुरता के साथ हुए हैं :

गावत चलीं भीर भइ *बीथिन्ह बदिन्ह* बाकुरे विरद बये।

३—अवधी में प्रायः संज्ञाओं एवं विशेषणों के अकारान्त रूपों का उकारान्त रूपों में प्रयोग होता है। इस प्रकार के प्रयोग गोस्वामी जी के साहित्य में बराबर हुए हैं :

प्रेरित राम चलेउ सो हरपु विरहु अति ताहु।

४—अवधी में कर्ता कारक 'ने' का प्रयोग सामान्यतया नहीं होता है। गोस्वामी जी की भाषा में भी इसका सर्वथा अभाव है :

राम कहा सबु कौसिक पाहीं। सरल सुभाउ छुअत छल नाहीं।

५—अवधी में के, कर, एवं केर आदि सम्बन्ध कारक का प्रयोग बहुलता के साथ होता है। गोस्वामी जी के काव्य में इसके अनेक उदाहरण उपलब्ध होंगे :

१—मातु बाप गुरु स्वामि राम कर नाम।
२—गंगा जल कर कलस तौ तुरित मगाइय हौ।

६—अवधी में सर्वनामों के संबंध कारक रूप तोर, मोर, तुम्हार, हमार, केहिकर, जाकर, ताकर आदि का प्रयोग होता है। गोस्वामी जी की भाषा में और विशेषकर मानस में इस प्रकार के प्रयोग निरन्तर हुए हैं।

७—अवधी में भूतकालिक सहायक क्रिया के रूपों में लिंग, वचन और पुरुष के कारण विभिन्नता रहती है। अवधी के व्याकरण के इन सामान्य नियमों का परिपालन मानस और कवि की अन्य रचनाओं में बराबर हुआ है। उदाहरणार्थ :

१—मंगल सिरोमन मे प्रहलादू।
२—सो कुचालि सब कहँ भइ नीकी।
३—तेहि के भये जुगल सुत बीरा।
४—अपनी समुझि साधु सुचि को भा।

८—अवधी में संयुक्त क्रियाओं की रचना का प्रचलन है। उदाहरणार्थ : कहै लाग, सुनै लाग, नहान लाग, रहै लाग। इस प्रकार की संयुक्त क्रियाओं का प्रयोग कवि की रचनाओं में भी हुआ है।

९—अवधी में भविष्य काल के अधिकांश रूप धातु के साथ 'ब' प्रत्यय के संयोग से बनाये जाते हैं। उदाहरणार्थ : कहब, जाब, देब आदि।

इस प्रकार के प्रयोग मानस में विशेषकर के हुए हैं।

१०—अवधी में मूल धातु के साथ अइया, का प्रयोग करके कर्तृ वाचक संज्ञाओं के रूपों की रचना होती है। कवि ने इस प्रकार के शब्दों—*लुटैया सुनैया, कहैया, बसैया, रहैया, जितैया* आदि—का प्रयोग कवितावली, गीतावली और मानस में बारम्बार किया है।

इन कतिपय उदाहरणों से प्रकट हो जाता है कि गोस्वामी जी की अवधी भाषा और शब्दावली व्याकरण-सम्मत है। अवधी भाषा और व्याकरण की प्रायः सभी विशेषताएँ कवि की भाषा में विद्यमान हैं। कवि ने अवधी के व्याकरण के अतिरिक्त अवधी की कहावतों, मुहावरों और लोकोक्तियों का भी बड़ी कुशलता के साथ भाषा में प्रयोग किया है।

अलंकार और गुण

तुलसी की रचनाओं में भावों का प्रकाशन जिस कौशल से होता है उसमें अलंकार की आवश्यकता नहीं है। सरलता, स्वभाविकता तथा वैदग्धपूर्णता ही तो तुलसी की शैली की विशेषता है। पर उनकी प्रतिभा इतनी असाधारण थी कि रचना में अलंकार स्वभाविक रूप से चले आते हैं। जहाँ अर्थालंकारों से भाव-व्यञ्जना में सहायता मिलती है, वहाँ शब्दालंकारों से भाषा के सौन्दर्य में भी वृद्धि होती है। गोस्वामीजी की कुशल लेखनी के द्वारा सभी प्रकार के अलंकारों का प्रयोग हुआ है। गोस्वामीजी का मानस माधुर्य, प्रसाद तथा ओज गुणों का जीता-जागता चित्र है।

मनोवैज्ञानिक तुलसी

तुलसी ने मानव हृदय की सूक्ष्मातिसूक्ष्म प्रवृत्तियों का कितना अधिक अन्वेषण किया था और वे उनका प्रकाशन कितनी कुशलता से कर सकते थे, यह उनके मानस के विद्यार्थी ही जानते हैं। रसों के अन्तर्गत स्थायी तथा संचारी भावों के भेदों में हृदय की न जाने कितनी भावनाएँ भरी हुई हैं। मानवी संसार की विभिन्न परिस्थितियों की मनोदशा का अधिकारपूर्ण ज्ञान तुलसी के कवित्व की सबसे बड़ी व्याख्या है।

तुलसीदास और राजनीति

तुलसीदास ने मानस में लोक-शिक्षा का बहुत व्यापक रूप रक्खा है। उन्होंने केवल व्यष्टि के लिये ही नहीं, समष्टि के लिए भी ऐसे नियमों की रूप-रेखा निर्मित की जो धर्म एवं समाज के लिए हितकर सिद्ध हों। वे एक महान् सुधारक थे। उन्होंने अपने आराध्य की महत्त्वपूर्ण कथा में जीवन के अंगों को घटित करते हुए आदर्श की ओर संकेत करने का स्थान निकाल ही लिया। उन्होंने जिस कुशलता से उपदेश का अंश कथा में मिलाया है उससे शिक्षा और कला ने एक ही रूप धारण कर लिया है, यही कवि की प्रतिभा का द्योतक है।

तुलसीदास ने राजनीति के सिद्धान्तों का निरूपण अधिकतर मानस ही में किया है। पहले तो उन्होंने समकालीन परिस्थितियों का चित्रण कर कलियुग के प्रभाव से राजनीति की दुरवस्था का रूप खड़ा किया है, बाद में रामराज्य वर्णन में राजनीति के आदर्श की ओर संकेत किया है। मानस में अनेक स्थानों पर राजनीति के सिद्धान्तों के दर्शन होते हैं। तत्कालीन राजनीति के चित्र चार स्थानों पर प्रधान रूप से मिलते हैं। दोहावली, कवितावली, विनय-पत्रिका और मानस में ये स्थल इस प्रकार हैं :—

(१) दोहावली

गोंड़ गँवार नृपाल महि, यमन महा महिपाल।
साम न दाम न भेद कलि, केवल दंड कराल॥

(२) कवितावली

एक तो कराल कलिकाल सूलमूल तामें
कोढ़ में की खाजु सी सनीचरी है मीन की।

रावण के शासन की अनीतियों से तुलसीदास ने अपने समय में यवनों की राजनीतिक अनीतियों का संकेत बड़े कौशल से किया है :—

भुज बल विश्व वस्य करि, राखेसि कोउ न स्वतन्त्र।
मंडलीक मीन रावन, राज करै निजमंत्र॥२१३॥

देव अच्छ गंधर्व नर, किन्नर नाग कुमारि।
जीति बरी निज बाहुबल; बहु सुन्दर वर नारि ॥२१४॥

... ...

जेहि विधि होइ धरम निर्मूला सो सब करहिं वेद प्रतिकूला।
जेहि जेहि देस धेनु द्विज पावहिं, नगर गाउँ पुर आग लगावहिं ॥

... ...

राजनीति की इन दुःखपूर्ण परिस्थितियों से ऊब कर तुलसीदास ने अनेक स्थलों पर राजनीति के आदर्शों का निरूपण किया है।

(१) राजा ईश्वर का अंश है :—
साधु सुजान सुसील नृपाला। ईस अंश भव परम कृपाला ॥

(२) राजा का धर्म प्रजा का सुख ही है :—
जासु राज प्रिय प्रजा दुखारी। सो नृपु अवसि नरक अधिकारी ॥

(३, राजा में समदृष्टि आवश्यक है :—
मुखिया मुख सो चाहिये खान पान कहुँ एक।
पाले पोषे सकल अँग तुलसी सहित विवेक ॥

(४) राजा के कार्यों के लिए प्रजाजन की सम्मति अपेक्षित है :—
मुदित महीपति मन्दिर आए। सेवक सचिव सुमंत्रु बोलाए।
कहि जय जीव सीस तिन्ह नाए। भूप सुमंगल वचन सुनाए ॥
प्रमुदित मोहि कहेउ गुरु आजू। रामहिं राय देहु जुवराजू।
जो पाँचहि मत लागइ नीका। करहु हरषि हिय रामहिं टीका ॥

(५) राजा में चार नीतियाँ होनी चाहिये :—
साम दाम अरु दंड विभेदा। नृप उर बसहिं नाथ कह वेदा ॥

(६) राजा का सत्यव्रत होना आवश्यक है :—
रघुकुल रीति सदा चलि आई। प्रान जाहु बरु वचनु न जाई ॥

(७) राजा को निर्भीक और स्वावलम्बी होना चाहिए :—

(अ) निज भुज बल मैं बैरु बढ़ावा। देइहौं उतरु जो रिपु चढ़ि आवा ॥
(आ) जौं रन हमहिं पचारै कोऊ। लरहिं सुखेन काल किन होऊ ॥

(८) राजधर्म में आलस्य और असावधानी अक्षम्य है :—

बोली बचन क्रोध करि भारी। देस कोस के सुरति बिसारी ॥
करसि पानसोवसि दिनु राती। सुधि नहिं तव सिर पर आराती ॥

(६) राज्य में प्रजा की समृद्धि आवश्यक है :—

(अ) विविध जन्तु संकुल महि भ्राजा। प्रजा बाढ़ जिमि पाई सुराज़ा।५
(आ) पंक न रेनु सोइ असि धरनी। नीति निपुन नृप के जसि करनी।६

(१०) रक्तपात यथासम्भव बचाया जावे :—

मंत्र कहौं निज मति अनुसारा। दूत पठाइअ बालि कुमारा ॥
काजु हमार तासु हित होई। रिपु सन करेहु बतकही सोई ॥७

(आ) नारि पाइ फिरि जाहिं जौं, तौ न बढ़ाइअ रारि।
नाहिं त सम्मुख समर महँ, तात करिअ हठि मारि ॥

(११) वैर उसी से हो जो बुद्धि बल से जीता जा सके :—

नाथ वैर कीजे ताही सो। बुद्धि बल सकिअ जीत जाही सों ॥

(१२) राजा को सभी कार्यों का श्रेय अपने सहायकों को देना चाहिये :—

(अ) सुनु कपि तोहि समान उपकारी। नहिं कोउ सुर नर मुनि तनुधारी ॥
प्रति उपकार करौं का तोरा। सनमुख होइ न सकत मन मोरा ॥
(आ) तुम्हरे बल में रावनु मारा। तिलकु विभीषन कहुँ पुनि सारा ॥

(१३) राजा को आश्रय धर्म का पूर्ण पालन करना चाहिए :

(अ) अन्तहु उचित नृपहिं बनबासू। वय विलोकि हिय होय हरासू ॥
(आ) संत कहहिं अस नीति दसासन। चौथे पन जाइहिं नृप कानन ॥

(१४) राजा को स्वदेश स्वर्ग से भी अधिक प्रिय होना चाहिए :—

जद्यपि सब बैकुण्ठ बखाना। वेद पुरान विदित जग जाना।
अवध सरिस प्रिय मोहि न सोऊ। यह प्रसंग जाने कोउ कोऊ ॥

इन उद्धरणों के अतिरिक्त मानस में ऐसे अनेक प्रसंग हैं, जहाँ राजनीति का वर्णन बड़े सरल शब्दों में घटनाओं के वर्णन में किया गया है। संक्षेप में

राजा को प्रजा का निष्पक्ष पालन और दुष्टों का नाश करना चाहिये। उसे सत्यव्रती, निर्भीक, स्वावलम्बी, मेधावी, पराक्रमी और स्वदेश प्रेमी होना चाहिए।

तुलसीदास और समाज

तुलसीदास ने समाज की मर्यादा पर विशेष लिखा है। धर्म का पालन बिना समाज के मर्यादा पालन के नहीं हो सकता। समाज के दो भाग हैं :—व्यक्तिगत और सार्वजनिक। इन दोनों क्षेत्रों में तुलसीदास ने अपनी असाधारण काव्यशक्ति से महान् संदेश दिया है। रामचरितमानस के पात्रों में लोक-शिक्षा का रूप प्रधान रूप से है। पारिवारिक जीवन का आचार मानस में यथास्थान सज्जित हैं। पिता, पुत्र, माता, पति, पत्नी, भाई, सखा, सेवक, पुरजन आदि का क्या पारस्परिक व्यवहार होना चाहिये, इन सब का उत्कृष्ट निरूपण तुलसीदास ने अपनी कुशल लेखनी से किया है। वाल्मीकि रामायण में मानवी भावनाओं के निरूपण के लिए आदि कवि ने अनेक प्रसंग लिखे हैं, जो स्वाभाविक होते हुए भी लोक-शिक्षा के प्रचारक नहीं हैं। लक्ष्मण का क्रोध, दशरथ के वचन आदि औचित्य का अतिक्रमण करते हैं। पर तुलसीदास ने ऐसे एक पात्र की भी कल्पना नहीं की, जिससे दुर्वासनाओं और अनाचारों की वृद्धि हो। उन्होंने तामसी पात्रों को भी सद्गुणों की वृद्धि करते हुये चित्रित किया है। सात्विक भावनाओं से भरे हुये पात्रों के तो उन्होंने मर्यादा का आधार ही अंकित कर दिया है। पारिवारिक जीवन के कुछ चित्र इस प्रकार हैं :—

(राम) बरष चारिदस बिपिन बसि, कर पितु बचन प्रमान।
आइ पाय पुनि देखिहौं, मन जनि करसि मलान॥

(लक्ष्मण) उतरु न आवत प्रेम बस, गहे चरन अकुलाइ।
नाथ दासु मैं स्वामि तुम्ह, तजहु त काह बसाइ॥

(सीता) खग मृग परिजन नगर बनु, बलकल विमल दुकूल।
नाथ साथ सुरसदन सम, परनसाल सुखमूल॥

(भरत) बैठे देखि कुसासन, जटामुकुट कृस गात।
राम राम रघुपति जपत, स्रवत नयन जल जात॥

(विभीषण) जिन्ह पायन्ह के पादुकहि, भरत रहे मन लाइ।
ते पद आज विलोकिहौं, इन्ह नयनन्हि अब जाइ ॥

इन पात्रों की चरित्ररेखा के साथ अन्य अनेक पात्रों में तुलसीदास ने जिस आदर्शवाद का अस्तर निर्धारित किया है, वह समाज को संयमशील बनाने में बहुत सहायक हुआ। यही कारण है कि हिन्दू जीवन में मानस के पात्र आज भी उत्साह और शक्ति की स्फूर्ति पहुँचा रहे हैं।

उत्तरकाण्ड में तुलसी ने रामराज्य में समाज का चित्र खींचा है, वह वर्णाश्रम धर्म से युक्त है। जब समाज में इस धर्म का पालन किया जावेगा, तभी उसमें सुख-समृद्धि होगी और वह रामराज्य के समान हो जायेगा।

बालकांड में भी समाज के प्रत्येक व्यक्ति के लिये आदरपूर्ण स्थान का निर्देश है। सीता के स्वयंवर में पुरजनों का यथास्थान बिठलाने का निर्देश करते समय तुलसीदास ने लिखा है।

तुलसी ने नारी जाति के प्रति बहुत आदर-भाव प्रकट किया है। पार्वती, अनुसुइया, कौशल्या, सीता, ग्राम वधू की चरित्ररेखा पवित्र और धर्मपूर्ण विचारों से निर्मित की गई है। कुछ आलोचकों का कथन है कि तुलसीदास ने नारी जाति की निन्दा की है और उन्हें ढोल, गँवार की श्रेणी में रखा है। किन्तु यदि मानस पर निष्पक्ष दृष्टि डाली जाय तो ज्ञात होगा कि नारी के प्रति भर्त्सना के ऐसे प्रमाण उसी समय उपस्थिति किये गये हैं, जब नारी ने धर्म के विपरीत आचरण किया है, अथवा निन्दात्मक वाक्य कहने वाले व्यक्ति वस्तु-स्थिति देखते हुए नीतिमय वाक्य कहते हैं। ऐसी स्थिति में वे कथन तुलसीदास के न होकर परिस्थिति-विशेष में पड़े हुये व्यक्तियों के समझने चाहिये।

पहली उक्ति सागर ने अपनी क्षुद्रता बतलाने के लिये राम से कही और दूसरी रावण ने अपनी महत्ता बतलाने के लिये मन्दोदरी से कही।

तुलसीदास ने समाज का आदर्श विस्तारपूर्वक लिखा, क्योंकि उन्होंने अपने समय के समाज की दुरवस्था देखी थी। समाज-सुधार के लिये ही उन्होंने रामायण की चरित्र रेखा को अपने मानस में परिष्कृत कर नवीनता के साथ

रख दिया। तुलसीदास की यही मौलिकता थी। उन्होंने अपने मानस में तत्कालीन समाज की दशा का चित्रण बहुत स्पष्टता के साथ किया है।

तुलसीदास ने मानस के उत्तरकांड में कलियुग का जो वर्णन किया है वह उन्हीं के समय की तत्कालीन परिस्थिति थी। उस अंश को पढ़ कर ज्ञात होता है कि कवि के मन में समाज की उच्छृङ्खलता के लिये कितना क्षोभ था। इसी क्षोभ की प्रतिक्रिया उनके लोक-शिक्षक समाज चित्रण के आदर्श में है।

राम काव्य के अन्य भक्त कवि

गोस्वामी तुलसीदास के अनन्तर अवधी में राम काव्य की रचना करने वाले कवियों में स्वामी अग्रदास का नाम उल्लेखनीय है। ये तुलसीदास के समकालीन भक्तमाल के लेखक नाभादास के गुरु थे। इनका आविर्भाव काल संवत् १६३२ माना गया है। अवधी में रामचरित से सम्बन्धित इनके दो ग्रन्थ उल्लेखनीय हैं। प्रथम है कुंडलिया रामायन और द्वितीय ध्यान मंजरी। दूसरे ग्रन्थ में राम और उनके अन्य भाइयों के रूप लावण्य, सरयू तथा अयोध्या के सौंदर्य का अच्छा वर्णन हुआ है। स्वामी अग्रदास के बाद भक्तमाल के प्रसिद्ध लेखक नाभादास का उल्लेख हुआ है। इनका समय संवत् १६५७ माना जाता है। इन्होंने रामभक्ति और रामोपासना से सम्बन्धित सुन्दर पदों की रचना की है।

अवधी के अन्य कवियों में लालदास, रामप्रिया शरण, जनकी रसिक शरण, रामचरणदास, मधुसूदनदास, कृपानिवास, ललकदास, जानकी चारण, शिवानन्द आदि उल्लेखनीय हैं। लालदास वरले के निवासी थे। इन्होंने अयोध्या में रहकर श्री सीताराम की लीलाओं का ललित वर्णन अवध विलास में किया है। इनका समय संवत् १७०० माना गया है। राम प्रिया शरण का समय १७६० विक्रमीय है। ये जनकपुर के महन्त थे। इनके ग्रन्थ सीतायन की रचना अवधी में हुई है। इस ग्रन्थ में सीता जी और उनकी सखियों के चरित्रों का वर्णन हुआ है। साथ ही राम का चरित्र भी वर्णित हो गया है। जानकी रसिक शरण का आविर्भाव काल संवत् १७६० है। अवधी सागर में कवि ने

श्री राम तथा सीता जी का चरित्र सरस और मनोहर ढङ्ग से वर्णन किया है। रामचरणदास जी अयोध्या के महन्त थे। राम चरित्र से सम्बन्धित इनके ग्रन्थ हैं—कवितावली, रामायण और रामचरित्र। इनमें रामनाम महिमा, राम चरित्र और माहात्म्य का वर्णन किया है। मधुसूदनदास का समय १८३९ है। कवि ने मानस के आदर्श पर दोहा चौपाई में राम के चरित्र का वर्णन रामाश्वमेध ग्रन्थ में किया है। रचना सुन्दर और भाषा परिमार्जित है। कृपानिवास जी का समय सं० १८४३ और निवास स्थान अयोध्या है। ये रामोपासक थे पर एक ग्रन्थ में राधाकृष्ण की लीलाओं का भी वर्णन किया है। भावना पचीसी, समय प्रबन्ध, माधुरी प्रकाश, जानकी सह नाम, लगन पचीसी, आदि राम चरित विषयक इनके ग्रन्थ हैं। ललकदास का अविर्भाव समय १८७० वि० है। ये लखनऊ के निवासी और अवधी में रामकाव्य के भले लेखक थे। जानकी चरण का समय सं० १८७७ माना गया है। प्रेम प्रधान और सियारामरस मंजरी इनके रामचरित्र पर दो काव्य ग्रन्थ हैं जिनकी रचना अवधी में हुई है।

कठिन काव्य के प्रणेता 'केशवदास'

केशवदास हिन्दी साहित्य के सर्वश्रेष्ठ कवियों में हैं। उन्होंने साहित्य की मीमांसा शास्त्रीय पद्धति पर करके काव्य-रचना का पांडित्यपूर्ण आदर्श रखा। उन्होंने जहाँ एक ओर राम-काव्य के अन्तर्गत रामचन्द्रिका की रचना की वहाँ रीति-काव्य के अन्तर्गत कविप्रिया इत्यादि की भी रचना की। साथ ही उन्होंने चारणकाल के आदर्शों को ध्यान में रख कर जहाँगीर-जसचन्द्रिका और वीरसिंह देव चरित भी लिखे। इस प्रकार केशव ने अपने काव्य के आदर्शों में चारणकाल, भक्तिकाल तथा रीतिकाल का समुच्चय उपस्थित किया। इसी दृष्टि से केशव के काव्य का महत्व है।

केशवदास सनाढ्य ब्राह्मण श्रीकृष्णदत्त के पौत्र और शीघ्रबोध बनाने वाले श्री काशीनाथ के पुत्र थे। नखशिख वाले प्रसिद्ध कवि बलभद्र उनके बड़े भाई थे। उनका जन्म सम्वत् १६१२ के लगभग टेहरी में हुआ था।

केशवदास संस्कृत के आचार्य थे। यद्यपि रीतिशास्त्र का प्रारम्भ मुनिलाल के

'रामप्रकाश' और कृपाराम की 'हिततरंगिनी' से हुआ था, पर उसे व्यवस्थित रूप देने का श्रेय केशव को ही है।

केशव के सात ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं :—विज्ञानगीता, रतनबावनी, जहाँगीर जस-चन्द्रिका, वीरसिंहचरित, रसिकप्रिया, कविप्रिया और रामचन्द्रिका।

केशव की भाषा बुन्देलखंडी मिश्रित ब्रजभाषा है। इस ब्रजभाषा में उच्चकोटि का स्वभाविक माधुर्य नहीं आ पाया, क्योंकि केशव ने पांडित्य प्रदर्शन की चेष्टा में भाषा का चमत्कार नष्ट कर दिया है।

केशव का प्रकृति-चित्रण बड़ा व्यापक है। उन्होंने अपने सूक्ष्म निरीक्षण तथा अलंकार के प्रयोग से प्रकृति के दृश्य बहुत सुन्दर रीति से प्रस्तुत किये हैं।

रचना-तिथि — अन्तर्साक्ष्य से ही ज्ञात होता है कि रामचन्द्रिका की रचना कार्तिक शुक्ल सम्वत् १६५८ में हुई थी।

विस्तार — रामचन्द्रिका में ३९ प्रकाश हैं। प्रत्येक प्रसङ्ग में कथा-भाग का नाम देकर उसका वर्णन किया गया है।

छंद — केशवदास ने रामचन्द्रिका में अनेक छन्दों का प्रयोग किया है। एक गुरु ॥ के श्री छन्द से लेकर केशवदास ने अनेक वर्णों और मात्राओं के छन्दों का प्रयोग किया है। ऐसा ज्ञात होता है कि केशवदास छन्दों के निरूपण के लिए ही रामचन्द्रिका लिख रहे हैं। छन्दों का परिवर्तन भी बहुत शीघ्र किया है। कथा का तारतम्य छन्द परिवर्तन से बहुत-कुछ भंग हो गया है।

वर्ण्य विषय — केशवदास ने रामचन्द्रिका में राम की समस्त कथा वाल्मीकि रामायण के आधार पर कही है, यद्यपि अनेक स्थलों पर अन्य संस्कृत ग्रन्थों का भी प्रभाव पड़ा है। इन ग्रन्थों में प्रसन्नराघव और हनुमन्नाटक मुख्य हैं। यह प्रभाव प्रकरी या पताका रूप ही में अधिक हुआ है, सामान्य रूप से कथा का विकास वाल्मीकि रामायण के आधार पर ही है। कथा का विभाजन कांडों में न होकर प्रकाशों में है, पर कथा का विस्तार अनियमित है। उसमें प्रबन्धात्मकता नहीं है। प्रारम्भ में न तो रामावतार के कारण ही दिए गए हैं और न राम के जन्म का ही विशेष

विवरण है। राजा दशरथ का परिचय देकर और रामादि चारों भाइयों के नाम गिना कर विश्वामित्र के आने का वर्णन कर दिया गया है। ताड़का और सुबाहु बध आदि का वर्णन संकेत रूप में है। हाँ, जनकपुर में धनुष यज्ञ का वर्णन सांगोपांग है। केशव का सम्बन्ध राजदरबार से होने के कारण, यह वर्णन स्वाभाविक और विस्तृत है। ऋतु वर्णन और नखशिख आदि ग्रन्थ में विस्तारपूर्वक दिए गए हैं, क्योंकि ये काव्यशास्त्र से सम्बन्ध रखते हैं और केशवदास काव्यशास्त्र के आचार्य हैं। शेष वर्णन कथा-भाग में आवश्यक होते हुए भी प्रायः छोड़ दिए गए हैं जिससे पात्रों की चरित्ररेखा स्पष्ट नहीं हो पाई। रामचरित्र में न तो कोई दार्शनिक और धार्मिक आदर्श है और न लोकशिक्षा का कोई रूप ही, जैसा मानस में है। इसी कारण रामचन्द्रिका मानस की भाँति लोकप्रिय नहीं हो सकी। मनोवैज्ञानिक चित्रण भी उतने विदग्धतापूर्ण नहीं जितने मानस में। मानस में कैकेई के हृदय का स्पष्ट निरूपण है, उस चरित्र में दैवी भाव रहते हुए भी एक प्रकार का मनोवैज्ञानिक सत्य है, पर रामचन्द्रिका में यह प्रकरण पूर्ण उपेक्षा से देखा गया है। समस्त प्रसङ्ग कितने क्षुद्र रूप में लिखा गया है :—

दिन एक कह्यो शुभ शोभ रयो। हम चाहत रामहिं राज दयो।
यह बात भरत्थ कि मात सुनी। पठऊँ बन रामहिं बुद्धि गुनी।
तेंहि मंदिर में नृप सो विनयो। वरु देहु हतो हमको जो दयो।
नृप बात कही हँसि हेरि हियो। वर माँगि सुलोचनि में जो दियो।

कैकेई— नृपता सुविशेषि भरत्थ लहैं।
बरषें बन चौदह राम रहैं॥
यह बात लगी उर वज्र तूल।
हिय फाट्यो ज्यों जीरण दुकूल॥
उठि चले विपिन कहँ सुनत राम।
तजि तात मात तिय बन्धु धाम॥

मानस में यह प्रकरण बहुत विस्तारपूर्वक और मनोवैज्ञानिक ढङ्ग से वर्णित है। यहाँ सात पंक्तियों में समस्त प्रकरण कह दिया गया है। कैकेई का चरित्र

कितना ओछा है। ऐसा ज्ञात होता है जैसे कैकेई यह अवसर ही खोज रही थी। कैकेई का चरित्र यहाँ मर्यादाहीन है।

केशव ने संवाद अवश्य बहुत लम्बे लिखे हैं, क्योंकि वे स्वयं संवाद का मर्म जानते थे। रामचन्द्रिका में निम्नलिखित संवाद बहुत बड़े हैं :—

१. सुमति विमति संवाद (पृष्ठ २६—३२)
२. रावण बाणासुर संवाद (पृष्ठ ३३—३८)
३. राम परशुराम संवाद (पृष्ठ ६६—७८)
४. रावण अंगद संवाद (पृष्ठ १६५—१७५)
५. लवकुश भरतादि संवाद (पृष्ठ ३४४—३४७)

कथा की दृष्टि से रामचन्द्रिका में प्रसङ्गों का नियमित विस्तार नहीं है। जहाँ अलंकार-कौशल का अवसर अथवा वाग्विलास का प्रसङ्ग मिला है, वहाँ तो केशवदास ने विस्तारपूर्वक वर्णन किया है और जहाँ कथा की घटनाओं की विचित्रता है वहाँ कवि मौन हो गया है। अतः रामचन्द्रिका की कथा-वस्तु में काव्यचातुर्य स्थान-स्थान पर देखने को तो अवश्य मिलता है, पर चरित्र-चित्रण या कथा की प्रबन्धात्मकता के दर्शन नहीं होते। भक्ति की जैसी भावना मानस में स्थान-स्थान पर मिलती है, वैसी रामचन्द्रिका के किसी भी स्थल पर नहीं है। फलतः रामचन्द्रिका में न तो कोई दार्शनिक सिद्धान्त निकलता है और न कोई धार्मिक ही।

रामकाव्य का सिंहावलोकन

राजनीति की जटिल परिस्थितियों में धर्म की भावना किस प्रकार अपना उत्थान कर सकती है, यह रामकाव्य ने स्पष्ट कर दिया है। अकबर का शासन मुगलकाल में धार्मिक सहिष्णुता का परिच्छेद अवश्य खोलता है, तथापि उसमें धार्मिक उत्थान की भावना नहीं है। उसमें हिन्दू धर्म का विरोध इसीलिए नहीं है कि उससे राजनीति की समस्या हल होती है और वह अन्य धर्मों की भाँति सत्य की ओर निर्देश करता है। रामानन्द के बढ़ते हुये प्रभाव ने और

कर्मकांड की उपेक्षा के साथ धर्म प्रचार में जनसमूह की भाषा की उपयोगिता ने रामसाहित्य को विकसित होने का यथेष्ट अवसर दिया। तुलसीदास ने अपने महान और असाधारण प्रतिभा के द्वारा रामकाव्य को धर्म और साहित्य के सर्वोत्कृष्ट शिखर पर पहुँचा दिया। उसी समय वल्लभाचार्य की कृष्ण-भक्ति भी सूरदास के स्वरों में गूँजकर साहित्य का निर्माण कर रही थी। अतः ऐसा ज्ञात होता है कि विक्रम की सत्रहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में धर्म क्षेत्र ही में नहीं प्रत्युत साहित्य के क्षेत्र में भी प्रतिद्वन्दिता चल रही थी। इसका संकेत चौरासी वैष्णव की वार्ता में भी मिलता है, जहाँ तुलसीदास नन्ददास की कृष्ण-भक्ति पर आक्षेप कर उन्हें राम की भक्ति करने के लिये प्रेरित करते हैं और नन्ददास कृष्ण-भक्ति की प्रशंसा कर राम-भक्ति की अवहेलना करते हैं।

दोनों काव्यों के दृष्टिकोण भी अलग हैं। रामकाव्य का दृष्टिकोण दास्य भक्ति है और कृष्णकाव्य का दृष्टिकोण है सख्य भक्ति। दोनों की अलग-अलग दो भाषाएँ भी हो जाती हैं। रामकाव्य की भाषा है अवधी और कृष्णकाव्य की व्रजभाषा। किसी भी कृष्णभक्त ने अवधी में कृष्णकथा नहीं लिखी, किन्तु तुलसी ने अपनी धार्मिक सहिष्णुता से प्रेरित होकर व्रजभाषा में भी राम ही की नहीं वरन् कृष्ण की कथा भी लिखी। अतः तुलसीदास ने रामसाहित्य को ऐसा रूप दिया कि वह सच्चे वैष्णव साहित्य का प्रतिनिधि होकर धर्म और साहित्य के इतिहास में अमर हो गया।

वर्ण्य विषय

रामकाव्य का वर्ण्य विषय विष्णु के राम रूप की भक्ति ही है। इस भक्ति के निरूपण में जहाँ दार्शनिक और धार्मिक सिद्धान्तों की विवेचना की गई है, वहाँ राम की विस्तृत कथा भी अनेक रूपों में कही गई है। राम की कथा का स्वरूप अधिकतर वाल्मीकि रामायण और अध्यात्म रामायण के द्वारा निर्धारित किया गया है। रामानन्द के द्वारा प्रचारित विशिष्टाद्वैत की परिभाषा में रामकथा का विकास हुआ है, यद्यपि तत्कालीन प्रचलित धार्मिक सिद्धान्तों का भी निर्देश यथास्थान कर दिया गया है। इस काव्य के सर्वोत्कृष्ट कवि तुलसीदास हुए जिन्होंने राम-चरित का दृष्टिकोण अध्यात्म रामायण से लेकर राम को पूर्ण ब्रह्म घोषित

किया। रामकाव्य के अन्य परवर्ती कवियों ने तुलसीदास को ही अपना पथ-प्रदर्शक मान कर रामकाव्य की रचना की।

छन्द

रामकाव्य की रचना दोहा-चौपाई ही में अधिक हुई। जो छन्द परम्परा सूफी कवियों ने सन्तकाव्य लिखने में प्रसिद्ध की थी, उसी छन्द परम्परा को रामकाव्य के कवियों ने भी स्वीकार किया, क्योंकि दोहा-चौपाई में प्रवन्धात्मकता का अच्छा निर्वाह होता है और राम की कथा प्रवन्धात्मक ही है। दोहा-चौपाई के अतिरिक्त अन्य छन्द भी प्रयुक्त हुए हैं, जिनमें प्रधानतः कुन्डलिया, छप्पय, सोरठा, सवैया, घनाक्षरी, तोमर, त्रिभंगी आदि छन्द हैं। केशवदास ने तो रामचन्द्रिका लिखने में छन्द-शास्त्र का मंथन कर प्रस्तार के अनुसार अनेक छन्दों में रामकथा लिखी। ऐसे छन्द राम की कथा की उतनी अभिव्यक्ति नहीं करते जितनी केशव की काव्यकला की। रामचरितमानस में जहाँ श्लोक लिखे गये हैं वहाँ वर्णवृत्त छन्दों में भी रचना है, पर वे छन्द एक ही दो बार प्रयुक्त हुए हैं। परवर्ती कृष्णकाव्य के कवियों ने अधिकतर मात्रिक छन्दों का ही प्रयोग किया है।

भाषा

रामकाव्य की भाषा प्रधानतः अवधी है क्योंकि उसमें रामकाव्य का आदर्श ग्रन्थ रामचरितमानस लिखा गया। तुलसी ने अवधी के अतिरिक्त व्रजभाषा का प्रयोग भी अपने अन्य ग्रन्थों में किया है। केशवदास ने तो व्रजभाषा ही में रामचन्द्रिका लिखी है। अतः रामकाव्य की दो भाषाएँ माननी चाहिए—अवधी और व्रज-भाषा। इन दोनों भाषाओं के प्रवाह में अन्य भाषाओं की शब्दावली, वाग्धाराएँ और क्रियाएँ आदि प्रयुक्त हुई हैं। ऐसी भाषाओं में बुन्देली, भोज-पुरी और फारसी तथा अरबी भाषाएँ हैं। इन भिन्न भाषाओं की सहायता से अवधी या व्रजभाषा का रूप अधिक व्यापक हो गया है। उनमें सरलता के साथ भावाभिव्यंजना भी हुई है।

रामकाव्य में नव रसों का प्रयोग है। राम का जीवन ही इतने भागों में विभाजित है कि उससे सम्पूर्ण रसों की अभिव्यक्ति होती है।

वाल्मीकि रामायण महाकाव्य है। राम की समस्त कथा महाकाव्य के रूप ही में मानस में वर्णित है, अतः महाकाव्य के लक्षण के अनुसार सभी रसों का निरूपण होना चाहिये। इसीलिए मानस में सभी रसों का समावेश है। रामचन्द्रिका में भी नवरस वर्णन है। रामकाव्य के अन्य ग्रंथों में भी विविध रसों का निरूपण है। दास्य भक्ति की प्रधानता होने के कारण संतकाव्य की भाँति रामकाव्य में भी शान्त रस का प्राधान्य है। राम विष्णु के अवतार हैं। वे राजकुमार हैं। उनका सीता से विवाह होता है, अतः उनमें सौन्दर्य और माधुर्य की भावना है। इसीलिए रामकाव्य में शृङ्गार रस भी प्रधान है। शान्त और शृङ्गार इन दो प्रधान रसों से रामकाव्य लिखा गया है। अन्य रस गौण रूप से प्रयुक्त हुए हैं।

रस

सातवाँ प्रकरण

कृष्ण-काव्य

कृष्ण-काव्य का प्रारम्भ विद्यापति से माना जाता है। किन्तु विद्यापति पर गीतगोविन्द के रचयिता जयदेव का विशेष प्रभाव है। अतः कृष्ण-काव्य के विवेचन में जयदेव पर प्रकाश डालना आवश्यक है।

जयदेव

जयदेव का जीवन-वृत्त अधिकतर नाभादास के भक्तमाल और प्रियादास द्वारा उसकी टीका से ज्ञात होता है। नाभादास के भक्तमाल में जयदेव का परिचय मात्र है। प्रियादास की टीका में जयदेव के जीवन पर कुछ अधिक प्रकाश डाला गया है। इनके जीवन के विषय में प्रामाणिक रूप से यही कहा जा सकता है कि इनका जन्म किंदुगिल्व (बङ्गाल) में हुआ था। इनके पिता का नाम भोजदेव था। बङ्गाल के राजा लक्ष्मणसेन के दरबार में इन्होंने बड़ी प्रसिद्धि पाई। लक्ष्मण-सेन का समय सन् ११७० (सं० १२२७) है। अतः यही समय जयदेव का मानना चाहिये। सीताराम शरण, भगवान प्रसाद ने जयदेव का समय सन् १०२५ से १२५० के मध्य माना है और मेकालिफ ने बारहवीं शताब्दी माना है। परन्तु वास्तव में जयदेव का समय तेरहवीं शताब्दी मानना चाहिए।

'गीतगोविन्द' की रचना लक्ष्मणसेन के ही राजत्व काल में हुई थी। 'गीतगोविन्द' में जयदेव ने राधा और कृष्ण का मिलन, कृष्ण की मधुर लीलायें और प्रेम की मादक अनुभूति सरस और मधुर शब्दावली में लिखी है। 'गीतगोविन्द' के द्वारा राधा का व्यक्तित्व पहलीबार मधुर और प्रेमपूर्ण बनाकर साहित्य में प्रस्तुत किया गया है। 'गीतगोविन्द' की पदावली कोमल और मधुर

है। उसमें कामदेव के बाणों की मीठी पीड़ा है। कीथ 'गीतगोविन्द' की प्रशंसा करते हुए कहते हैं कि उसकी शब्दावली इतनी मधुर और भावों के अनुकूल है कि उसका अनुवाद किसी अन्य भाषा में ठीक तरह से हो ही नहीं सकता है।

जयदेव ने संस्कृत में 'गीतगोविन्द' की रचना करके अपने भाषाधिकार और भाव-प्रदर्शन की कुशलता का सुन्दर परिचय अवश्य दिया, पर हिन्दी में उन्होंने अपनी यह कुशलता नहीं दिखलाई। अपने अनुपम वाग्विलास से उन्होंने विद्यापति और सूरदास जैसे महान कवियों को प्रभावित किया। पर वे स्वयं हिन्दी में उत्कृष्ट कोटि की रचना नहीं कर सके।

'गीतगोविन्द' पर आध्यात्मिकता की विशेष छाप नहीं है, लौकिक शृङ्गार में चाहे आध्यात्मिकता का संकेत भले ही मान लिया जाय।

विद्यापति

विद्यापति बङ्गाली कवि नहीं थे। वे मिथिला के निवासी थे और मैथिली में उन्होंने अपनी कविता लिखी। लगभग चालीस वर्ष पूर्व बंगाली विद्यापति को अपना कवि समझते थे पर जब से उनके जीवन की घटनाओं की जाँच-पड़ताल बाबू राजकृष्ण मुकर्जी और डा० ग्रियर्सन ने की तब से बंगाली अपने अधिकार को अव्यवस्थित पाते हैं।

विद्यापति एक विद्वान् वंश के वंशज थे। उनके पिता गणपति ठाकुर अपनी विद्वत्ता के लिये प्रसिद्ध थे। विद्यापति विसपी के रहने वाले थे। यह गाँव दरभंगे जिले में है और विद्यापति ने इसे राजा शिवसिंह से उपहार-स्वरूप पाया था। विद्यापति के आविर्भाव के सम्बन्ध में डा० उमेश मिश्र लिखते हैं :—"इनके पिता गणपति महाराज गणेश्वर के राजसभासद थे और राजसभा में अपने पुत्र विद्यापति को ले जाया करते थे। महाराज गणेश्वर की मृत्यु २५२ ल० सं० में हुई थी। अतः विद्यापति उस समय १०, ११ वर्ष की अवस्था के अवश्य रहे होंगे। इन सभी बातों से अनुमान होता है कि विद्यापति २५२ ल० सं० में लगभग १०, ११ वर्ष के थे।"

विद्यापति की मृत्यु के विषय में डा० मिश्र का अनुमान है कि ३५६ ल० सं० तक वे अवश्य जीवित रहे हैं। इस प्रकार विद्यापति ने १०० वर्ष से अधिक आयु पाई।

विद्यापति की पदावली संगीत के स्वरों में गूँजती हुई राधाकृष्ण के चरणों में समर्पित की गई है। उन्होंने प्रेम के साम्राज्य में अपने हृदय के सभी विचारों को अन्तर्हित कर दिया है। उन्होंने शृङ्गार पर ऐसी लेखनी उठाई है जिससे राधाकृष्ण के जीवन का तत्व प्रेम के सिवाय कुछ भी नहीं रह गया है।

विद्यापति की कविता गीतिकाव्य के स्वरों में है। गीतिकाव्य का यह लक्षण है कि उसमें व्यक्तिगत विचार, भावोन्माद, आशा-निराशा की धारा अबाध रूप से बहती है। कवि के अन्तर्जगत के सभी विचार-व्यापार और उसके सूक्ष्म हृदयोद्गार उस काव्य में संगीत के साथ व्यक्त रहते हैं। विद्यापति की कविता में यद्यपि अधिक व्यक्तिगत विचार नहीं हैं पर उसमें भावोन्माद की प्रचंड धारा वर्षाकालीन नदी के वेग से किसी प्रकार भी कम नहीं है। वयःसन्धि, नख-शिख, अभिसार, मानविरह आदि से कवि की भावना इस प्रकार सम्बद्ध हो गई है मानो नायक-नायिका के कार्य व्यापार कवि की वासनामयी प्रवृत्ति के अनुसार हो रहे हों। विचार इतने तीव्र हो गये हैं कि उनके सामने राधा और कृष्ण अपना सिर झुकाकर उन्हीं विचारों के अनुसार कार्य करते हैं।

विद्यापति की कविता में शृंगार का प्रस्फुटन स्पष्ट रूप से मिलता है। भाव, विभाव, अनुभाव, आलम्बन, उद्दीपन इत्यादि उनकी पदावली में सुचारु रूप से चित्रित किये गये हैं। उनके सामने विश्व के शृंगार में राधा और कृष्ण ही की मूर्त्तियाँ हैं। स्थायीभाव रति तो पदावली में आदि से अन्त तक है। इसके बीच में ईश्वरीय अनुभूति की भावना नहीं मिलती। एक ओर नवयुवक चंचल नायक है और दूसरी ओर यौवन और सौन्दर्य की अपरिमित सम्पत्ति लिये राधा।

विद्यापति ने राधा कृष्ण का जो चित्र खींचा है उसमें वासना का रंग बहुत प्रखर है। आराध्यदेव के प्रति भक्ति की भावना इसमें लेशमात्र नहीं है।

सख्य भाव से जो उपासना की गई है उसमें कृष्ण तो यौवन में उन्मत्त नायक की भाँति हैं और राधा यौवन की मदिरा में मतवाली एक मुग्धा नायिका की भाँति। राधा का प्रेम भौतिक और वासनामय है। आनन्द ही उसका उद्देश्य और सौन्दर्य ही उसका कार्य है।

विद्यापति ने जीवन में शृंगार की प्रधानता मानी है। विद्यापति ने अन्तर्जगत का उतना हृदयग्राही वर्णन नहीं किया, जितना बहिर्जगत का। विद्यापति का संसार ही दूसरा है। वहाँ सदैव कोकिलाएँ कूजन करती हैं, फूल फूला करते हैं पर उनमें काँटे नहीं हैं। राधा के नेत्रों में रात समा जाती है और उसमें सौन्दर्य के अतिरिक्त कुछ है ही नहीं। विद्यापति के इस बाह्य संसार में भगवत भजन कहाँ, इस वयःसन्धि में ईश्वर की सन्धि कहाँ, सद्यःस्नाता में ईश्वर से नाता कहाँ और अभिसार में भक्ति का सार कहाँ? उनकी कविता विलास की सामग्री है, उपासना की साधना नहीं।

विद्यापति के भक्त हृदय का रूप उनकी वासनामयी कल्पना के आवरण में छिप जाता है। वे एक कल्पित राज्य में विहार करते हैं। वे अपनी कल्पना के सौन्दर्य में ऐसे डूब गये हैं कि किसी दूसरी ओर उनकी दृष्टि भी नहीं जाती। यहाँ कवि की कला मात्र है, उसका भक्ति-भावमय व्यक्तित्व नहीं। विद्यापति की राधा प्रेम करती है, इसलिए कि वह स्त्री है और स्त्रियाँ प्रेम करना जानती हैं। राधा प्रेम करती है, इसलिये कि कृष्ण सुन्दर हैं और सुन्दरता से प्रेम होना स्वाभाविक है, पर ऐसे प्रेम में एक दोष आ गया है और वह यह कि इस प्रेम में सदाचार की मात्रा कम है। विद्यापति की राधा सदाचार करना जानती ही नहीं। कवि भक्ति भावना से उत्तेजित होकर नहीं वरन् आनन्द में आकर कहता है :

अधर मंगइते अओध कर माथ। सइए न पार पयोधर हाथ॥

इसका एक कारण है, विद्यापति राजदरबार के बीच कविता पढ़ा करते थे। उन्हें राजसभा और अपनी कला का ही अधिक ध्यान था। उनका तो 'राजासिवसिंह रूप नरायन लखिमा देइ रमाने' की ओर विशेष आकर्षण था। इसीलिये कदाचित् उन्हें अपने संरक्षकों के मनोविनोद का ही अधिक ध्यान

था। रूपक, उपमा, उत्प्रेक्षादि अलंकारों और भाव, विभाव, अनुभावादि पर उन्होंने अपनी कविता की नींव खड़ी की। यही कारण है कि उन्होंने अपने कला नैपुण्य प्रदर्शन के लिए साहित्यशास्त्र का मन्थन तो कर डाला, पर जीवन का रहस्य जानने के लिये मनुष्य समाज के अन्तर्रहस्यों की पर्यालोचना नहीं की। विद्यापति की कविता में स्त्रीत्व और पुरुषत्व की भावना जिस प्रबल वेग से बहती है, वैसी हम हिन्दी साहित्य के किसी भी स्थल पर नहीं पा सकते।

शृंगारिक कविताओं के अतिरिक्त विद्यापति के भक्ति सम्बन्धी पद बहुत कम हैं। ये पद शिव, दुर्गा और गंगा की भक्ति में लिखे गए हैं। इनमें नचारी पद भी हैं जो शिवजी की भक्ति में नृत्य के साथ गाए जाते हैं। काल सम्बन्धी पद शिवसिंह के राज्याभिषेक और युद्ध आदि पर लिखे गये हैं। इन दोनों वर्गों की कविता में विद्यापति की वर्णनात्मकता ही है कोई विशेष भावविन्यास नहीं। कवि ने अपनी विशेष प्रतिभा राधा कृष्ण सम्बन्धी पदों में ही प्रदर्शित की है।

हिन्दी साहित्य में काव्य का अथाह सागर भरने वाले महाकवि सूरदास का काल-निर्णय अभी तक अन्धकार में है। उनके काल-निर्णय के लिए अन्तर्साक्ष्य पर ही विचार करना चाहिये। सूर के दृष्टिकूट सम्बन्धी कुछ पद भी उनकी जीवनी पर प्रकाश डालते हैं। सूर ने अपने को 'चन्द' का वंशज माना है। उनके छः भाई थे जो युद्ध में मारे गये थे। एक बार वे कुएँ में गिर पड़े थे। श्रीकृष्ण ने उन्हें निकाला था।

मुन्शी देवीप्रसाद सूर को ब्राह्मण न मान कर भाट मानते हैं।

यदि दृष्टिकूट सम्बन्धी पद प्रामाणिक हैं तो स्पष्ट होता है कि सूर भाट कुल में उत्पन्न हुए थे।

'सूरसागर' के अतिरिक्त सूर के दो और ग्रन्थ उपलब्ध हैं—'सूरसारावली' और 'साहित्य लहरी'। ये दोनों ग्रंथ 'सूरसागर' के बाद बने होंगे क्योंकि उनके पद 'सूरसागर' में नहीं मिलते। 'साहित्य लहरी' में उन्होंने रचना-समय इस प्रकार लिखा है :—

"मुनि पुनि रसन के रस लेख।
दसन गौरीनन्द को लिखि सुवल संवत पेख॥

[मुनि = ७, रसन = ०, रस = ६, दसन गौरीनन्द = १ = १६०७ संवत्]

अतः स्पष्ट है कि 'सारावली' का रचना-काल सं० १६०७ है। 'सूरसारावली लिखते समय सूरदास की अवस्था ६७ वर्ष की थी। यदि हम 'सूरसारावली' और साहित्य लहरी' का रचना-काल एक ही मानें, तो सं० १६०७ में सूर की अवस्था ६७ वर्ष की रही होगी। अर्थात् उनका जन्म सं० १५४० रहा होगा।

१—मनोवैज्ञानिक चित्रण

सूर ने शिशु और बालजीवन की प्रत्येक भावना का इतना गम्भीर अध्ययन किया है कि वे प्रत्येक परिस्थिति के चित्र बड़ी कुशलता और स्वाभाविकता से उतार सके हैं। उन्होंने बालक कृष्ण और माँ यशोदा के हृदयों की भावनाओं को इतने सार्वजनिक रूप से प्रस्तुत किया है कि वे चिरन्तन और सत्य हैं। विविध मानसिक अवस्थाओं के जो चित्र खींचे गये हैं वे मानवी भावनाओं के इतिहास में कभी पुराने न होंगे। बालक के सरल से सरल कार्य को वे बालक बनकर ही वर्णन करते हैं और उसका अपार सौन्दर्य पाठकों के समक्ष बिखेर देते हैं।

२—लौकिक आचार

ग्राम वातावरण में लौकिक आचारों के निरूपण से पालक के जीवन में कितनी स्वाभाविकता और सरसता छा जाती है यह 'सूरसागर' के स्थलों से स्पष्ट हो जाता है। जन्म उत्सव, छठी आदि अनेक लौकिक आचारों में जहाँ कहीं मनोवैज्ञानिक चित्रण की सामग्री है वहाँ ग्राम्य वातावरण की स्वाभाविकता भी वर्णन को उत्कृष्ट बना देती है।

३—साहित्यिक परम्परा

सूर के आराध्य का चित्रण जयदेव तथा विद्यापति कर चुके थे। इन दोनों कवियों ने कृष्ण का चित्रण शृङ्गार की दृष्टि से किया परन्तु सूर का लक्ष्य ही और था। साहित्य परम्परा का प्रभाव सूर पर भी पड़ा। इन्होंने नायक-नायिका के आलम्बन विभाव में श्रीकृष्ण और राधा को खड़ा किया। श्रीमद्भागवत में राधा नहीं हैं सूर ने शृंगार के आलम्बन में राधा को प्रेम के उत्कर्ष में उपस्थित किया

है, पर उसमें धार्मिक भावना का प्रधान स्थान है। सूर ने धार्मिक भावना के साथ-साथ साहित्यिक आदर्श की रक्षा के लिए राधा को भी कृष्ण के साथ प्रमुख स्थान दिया है।

सूर का कवित्व

सूरदास हिन्दी साहित्य के महाकवि हैं; उन्होंने न केवल भाव और भाषा के दृष्टिकोण से साहित्य को सुसज्जित किया वरन् धार्मिक क्षेत्र में ब्रजभाषा के सहारे कृष्ण-काव्य की एक विशिष्ट परम्परा को जन्म दिया। अतः वे केवल व्यक्तिगत काव्य को लेकर ही कवि नहीं हैं वरन् साहित्य क्षेत्र में प्रवृत्तियों को नवीन रूप देने वाले कलाकार भी हैं। उनकी प्रतिभा यद्यपि सर्वतोमुखी नहीं है तथापि जिस विषय पर वे लिखते हैं उसके वे एकमात्र अधिपति हैं। यदि जीवन की गंभीर विवेचना में सूर तुलसी से आगे नहीं बढ़ सके तो बाल-जीवन के चित्रण में तुलसी से सूर कहीं अधिक सिद्धहस्त हैं।

भाषा की दृष्टि से सूर प्रथम कवि हैं जिन्होंने भाषा को साहित्यिक रूप दिया है। उस समय की ब्रजभाषा केवल विचार के पारस्परिक आदान-प्रदान ही में व्यवहृत हुआ करती थी पर सौष्ठव की दृष्टि से सम्भवतः भाषा पर किसी ने ध्यान ही नहीं दिया था। सूर के पहले ब्रजभाषा का बड़ा ही साधारण रूप व्यवहार में आया था। पर सूर की भाषा संस्कृत मिश्रित साहित्यिक ब्रजभाषा है।

सूर ने विशेषतः शृंगार और शान्त रसों को अपनाया। शान्त रस का वर्णन तो वे उस समय तक विशेष रूप से करते रहे जब तक कि वल्लभाचार्य ने सूर का भजन सुनकर यह नहीं कहा था कि "जो सूर है के ऐसे घिघियात काहे को है, कछू भगवल्लीला वर्णन करि।" वल्लभाचार्य से दीक्षित होकर सूर ने 'भगवल्लीला' का गान किया।

सूर ने शृङ्गार रस के वियोग पक्ष पर अधिक दृष्टि डाली और उसी भावोन्माद में गोपियों का विरह-वर्णन साहित्य में उत्कृष्टता को पहुँचा दिया। संयोग शृङ्गार में भी सूर ने हृदय के भावों को मादकता से भर दिया है। कृष्ण

के प्रति माता यशोदा की प्रेम-भावना का मन मोहक चित्र खींचा है। बालक कृष्ण का पालने में झुलाया जाना, चन्द खिलौने के लिए उसका रोना और इसी प्रकार के सैकड़ों बाल-चित्र सूर ने सफलता से अंकित किये हैं।

कृष्ण और राधा का सहारा लेकर सूर ने शृङ्गार रस पर अपनी शक्तिशाली लेखनी उठाई है। इस शृंगार में रस का पूर्ण परिपाक होते हुए भी अश्लीलता का अंश नहीं आने पाया। राधा और कृष्ण का शृंगार पढ़ते हुए हमें यह ध्यान रहता है कि वे हमारे आराध्य हैं।

सूर की कविता का प्रथम गुण है, माधुर्य। एक तो ब्रजभाषा स्वयं ही मधुर होती है पर सूर की शब्द-योजना ने उसे और भी मधुर और परिष्कृत बना दिया है। सङ्गीत की धारा इतनी सुकुमार चाल से चलती है कि हमें यह ज्ञात होने लगता है कि हम स्वर्ग के पवित्र भाग में मंदाकिनी की हिलती हुई लहरों का स्पर्शानुभव कर रहे हैं।

सूर की कविता में महत्व की एक और बात है। उसमें हमें विश्वव्यापी राग सुनाई देती है। वह राग मानव-हृदय का सूक्ष्म उद्गार है; उसी राग में मनुष्य जाति की सभी वृत्तियाँ अन्तर्हित हैं। उनकी कविता से मानव के सुख-दुख का तार सदैव हिला करता है। उनकी कविता मनुष्य जाति के स्वरों में हँसती है और उसी में रोती है।

सूर के कहने का ढंग भी बहुत सुन्दर है। जो बात ये कहते हैं वह इतनी सुन्दरता के साथ कि उसके आगे कुछ कहने को रह ही नहीं जाता।

सूर का काव्य ज्ञान बहुत ऊँचा था। इतने सुन्दर अलंकारों का प्रयोग साहित्य में बहुत कम हुआ है।

सूर की विशेषता यह है कि उन्होंने मनोवैज्ञानिकता के साथ रस का पूर्ण सामंजस्य स्थापित किया है।

सूर की भक्ति भावना

सूरदास ने शुद्धाद्वैती दर्शन और पुष्टि मार्गी आकारों का आधार लिया है। व्यावहारिक दृष्टिकोण से उनकी भक्ति का आधार भी पुष्टि-मार्ग है। परन्तु उन्होंने भक्ति के विभिन्न रूप 'सूर सागर' में उपस्थित किए हैं। ये भक्ति के रूप तीन प्रकार के हैं :—दास्य भक्ति, सख्य भक्ति, और माधुर्य भक्ति।

वल्लभाचार्य के प्रभाव में आने के पूर्व सूर दास्य भाव की भक्ति करते थे।

दास्य भक्ति

प्रथम स्कन्ध में इस प्रकार के अनेक पद संग्रहीत हैं जिनसे स्पष्ट है कि सूर पहले अपने आराध्य की उपासना स्वामी के रूप में करते थे। उनकी यह भक्ति भावना तुलसी की भक्ति भावना के सदृश्य ही है। सूर इसी अवस्था में अपने आराध्य के 'चरण कमल अविनासी' का ध्यान करते हैं। वे अपने पापों का उल्लेख करते भी नहीं थकते। फिर उनको अपने आराध्य के 'भक्तन हितकारी' होने पर भी विश्वास है। जिसने अजामिल, गनिका आदि अनेक पापियों को 'तार' दिया है। वे अपने को 'सब पतितन को टीको' कहकर अपने पापों की असीमता का उल्लेख करते हैं। साथ ही सूर अपने आराध्य को 'विरुद सँभालने' की चेतावनी भी देते हैं। अंत में आत्म विश्वास के मनोभाव में विचरण करते हुए वे अपने स्वामी का सामीप्य अनुभव करते हैं। इस भक्ति में दास अपने व्यक्तित्व को स्वामी के ही व्यक्तित्व में मिला कर उसी पर पूर्ण निर्भर हो जाता है।

सख्य भक्ति

सूर ने कृष्ण की समस्त लीलाओं का वर्णन पर आत्मीयता के ढंग से किया है। सूर स्वयं इन लीलाओं में भाग नहीं लेते, केवल दर्शक के रूप में उपस्थित रहकर देखने का आनन्द लेते हैं। 'सूर सागर' के विस्तार में यह बात सदा विद्यमान रही है कि जैसे कृष्ण सूर के सखा हों और उनका आनन्द विहार सूर के लिए सुख की बात है। सूर ने विनय के पदों के अतिरिक्त आत्म-व्यञ्जना कभी नहीं की है। सूर कृष्णलीलाओं के अवसर पर जैसे उपस्थित रहते हैं और उन्हीं लीलाओं का चित्रण करते हैं। केवल पद के अंतिम चरण में वे अपने आनन्दोल्लास को प्रकट करते हैं।

माधुर्य भाव की भक्ति

'सूर सागर' में भक्ति का प्रमुख रूप माधुर्य भाव है। गोपियों के प्रेम के संयोग वियोग पक्षों ने इस भक्ति भावना में पूर्ण विस्तार पाया है। परन्तु भ्रमर गीत की विरह भावना में भक्ति का पूरा विकास उपस्थित हुआ है। इसमें भक्ति की भावना आत्मनिवेदना-सक्ति से आरम्भ होती है, तन्मयासक्ति में विकास को प्राप्त करती है और परमविहासक्ति की स्थिति में चरम स्थल पर पहुँच जाती

है। सूर ने इन समस्त भावों को इस प्रकार प्रस्तुत किया है कि मानो समस्त संसार इस सौंदर्य को अनिमेष नेत्रों से देख रहा है। सूर की अन्तर्दृष्टि जीवन और कला दोनों ही क्षेत्रों में सर्वग्राहिणी है।

नन्ददास विट्ठलनाथ द्वारा स्थापित 'अष्टछाप' के प्रसिद्ध कवियों में से थे।

नन्ददास

साहित्यिक महत्व के दृष्टिकोण से सूर के बाद कृष्ण-काव्य में इन्हीं का स्थान है। इनका जीवनचरित्र प्रामाणिक रूप से अभी तक ज्ञात नहीं हो सका। बाह्य साक्ष्य से केवल परिचयात्मक विवरण ही मिलता है।

नन्ददास के ग्रन्थ

नागरी प्रचारिणी सभा की खोज से नन्ददास के निम्नलिखित ग्रन्थों का पता चला है :—१. अनेकार्थ भाषामाला, २. अनेकार्थ मञ्जरी, ३. जोगलीला, ४. दशमस्कन्ध भागवत, ५. नाममाला, ६. नामचिन्तामणिमाला, ७. नाम-मंजरी, ८. नासिकेत पुराण भाषा, ६. पंचाध्यायी, १०. भँवरगीत ११. विरह-मंजरी १२. रसमंजरी, १३. श्यामसगाई, १४. रुक्मिणी मंगल, १५. राजनीति हितोपदेश, १६. मंजरी नाम माला।

नन्ददास के ग्रन्थों को देखने से ज्ञात होता है कि वे भक्ति के साथ कवित्व में पारंगत भी थे। काव्यशास्त्र में उनकी प्रतिभा सर्वतोन्मुखी है। उन्होंने काव्य की अनेक शैलियों में रचना कर अपनी बहुज्ञता और काव्य-ज्ञान का प्रमाण दिया है। रासपंचाध्यायी में उन्होंने भक्तिमय रहस्यवाद का परिचय देते हुए रीतिशास्त्र का पांडित्य भी प्रदर्शित किया। कृष्ण-गोपी-चित्रण में आध्यात्मिक संकेत के साथ शृङ्गार रस के लिए नायक-नायिका का आलम्बन अनेक गुणों के साथ प्रस्तुत किया गया है। उद्दीपन में ऋतु वर्णन है। शैली की दृष्टि से पंचाध्यायी खंड काव्य की कथावस्तु लिये हुये है। अलंकार और छन्द का उपयुक्त प्रयोग, भावों की अनुगामिनी भाषा का महत्व नन्ददास के कवित्व का गौरव है। अतः ज्ञात होता है कि वे श्रेष्ठ भक्त के साथ ही साथ रीति शास्त्र के भी आचार्य थे। रस मञ्जरी में उन्होंने नायिका भेद ही लिखा है। उन्होंने

केशव की भाँति अपनी प्रतिभा को पांडित्य के कठिन पाश में नहीं जकड़ दिया। नन्ददास पर रीतिशास्त्र का उतना ही प्रभाव है जहाँ तक कि उनकी भक्ति-भावना को अनियंत्रित रूप में प्रकट करने की आवश्यकता है। इसके लिए उनका शब्द-चयन और अलंकार प्रयोग भी सुरुचिपूर्ण है। नन्ददास यमक और अनुप्रास के पंडित हैं, पर उनका अनुप्रास पद्माकर के 'मल्लिकान मंजुल मलिन्द मतवारे मिले मंद मंद मारुत मुहीम मनसा की है' के समान नहीं है। अनुप्रास प्रवाह का सहायक है बाधक नहीं। कहीं-कही शब्दों का स्वरूप अवश्य विकृत हो गया है। दुराय (तिनके भूत भविष्य कौं जानत कौन दुराय) 'दूसरे' के अर्थ में, बेकारी (लिये फिरत मुख जोग गाँठ काटत बेकारी) 'व्यर्थ' के अर्थ में तथा हमरो के लिए 'हमार' 'हम्हारो' आदि अप्रयुक्त शब्द देखे जाते हैं।

नन्ददास ने जिस प्रकार काव्य-रचना की है, उससे ज्ञात होता है कि वे गीतगोविन्द के रचयिता जयदेव और पदावली के रचयिता विद्यापति से अधिक प्रभावित थे।

शृंगार के दोनों पक्षों सयोग और वियोग का चित्र नन्ददास ने सफलता के साथ उपस्थित किया है। 'रासपचाध्यायी' में दोनों ही पक्ष कलात्मक ढंग से व्यक्त हुए हैं। इसमें प्रकृति चित्रण के स्थलों पर शांत रस की उद्भावना भी अच्छी हुई है। 'भ्रमर गीत' में वियोग शृंगार के अन्तर्गत उपालम्भ की सरस व्यंजना मिलती है। नन्ददास में माधुर्य गुण की प्रधानता है। शब्दों के चयन में नन्ददास अप्रतिम हैं। शब्दों की ध्वन्यात्मकता के साथ ही छंद का गति प्रवाह और उसके साथ क्रियात्मक व्यंजना का सामंजस्य 'रास पंचाध्यायी' में बड़ी सफलता के साथ हुआ है। शब्द अपने ध्वन्यात्मक प्रवाह में छन्द की गति के साथ ही थिरकते चलते हैं। 'अनेकार्थमजंरी और अनेकार्थनाम माला' से उनके शब्द ज्ञान के विस्तार का पता चलता है। नन्ददास का भाषा पर इतना अधिकार है कि अनुप्रास युक्त शब्द स्वाभाविक रूप से निकलते हैं। शब्दालंकारों के प्रयोग में नन्ददास कलाकार हैं परन्तु कलाकार होकर भी इन्होंने

का प्रसंग कह दिया है। उन्होंने माधुर्य भाव से अपनी भक्ति-भावना का स्वरूप निर्धारित किया और स्वयं विरहिणी बन कर अपने आराध्य श्रीकृष्ण से प्रणय भिक्षा माँगी। यही कारण है कि मीरां की कविता में गीतकाव्य की उत्कृष्ट अभिव्यक्ति है।

मीरां का जीवनवृत्त सम्पूर्ण रूप से विश्वस्त नहीं है। स्त्री होने के कारण उत्तर की राजनीति की रंगभूमि से दूर रहने के कारण आईना अकबरी जैसे ऐतिहासिक ग्रन्थों में वे स्थान नहीं पा सकीं। मीरां स्वयं राजस्थान की राजनीति से सम्बन्ध रखती हैं, अतः राजस्थान के इतिहास में उनका किसी प्रकार उल्लेख है। किन्तु राजस्थान के इन ऐतिहासिक उल्लेखों में भी कहीं कहीं भूल है। अतः मीरां की रचनाओं में जो व्यक्तिगत निर्देश हैं, उन्हें ही प्रामाणिक मानना ठीक है। इस क्षेत्र में एक कठिनाई है। मीरां की रचनाओं की प्रामाणिकता बहुत सन्दिग्ध है। जो रचनाएँ मीरां के नाम से मिलती हैं, उनमें बहुत सी प्रक्षिप्त हैं। अतः जब तक मीरां की रचनाओं का कोई प्रामाणिक संस्करण प्रकाशित न हो जावे तब तक मीरां की रचनाओं का अन्तर्साक्ष्य भी संदिग्ध ही रहेगा। मीरां की अभी तक की प्रकाशित रचनाओं में बेलवेडियर प्रेस प्रयाग की मीरांबाई की शब्दावली सबसे अधिक मान्य है अतः उसी के आधार पर मीरां के जीवन सम्बन्धी अन्तर्साक्ष्य पर विचार होगा :

जन्म तिथि

कुल

(अ) राठौड़ा की धीयड़ी जी सीसोद्या के साथ।
ले जाती वैकुण्ठ को म्हारी नेक न मानी बात ॥

(आ) थे बेटी राठौर की थांने राज़ दियो भगवान ॥

(इ) बड़ा घरा का छोरु कहावो नाचो दै दै तारी ॥

नाम

(अ) मेड़तियाँ घर जनम लियो है मीरां नाम कहायो ॥

(आ) सब ही लाजै मेड़तियाँ जी थांसू बुरा कहे संसार ॥

जन्मस्थान

(अ) मेड़तिया घर जन्म लियो है मीरां नाम कहायो ।

(आ) पीहर मेड़ता छोड़ा अपना, सुरत निरत दोउ चटकी ।

(इ) पीहर लाजै जी थांरों मेड़तो ।

(ई) मारू घर मेवाड़ मेरतो त्याग दियो थांरो सहर ।

माता-पिता

(अ) माता-पिता तुमको दियो तुमहीं भल जानो हो ।

पति-गृह

(अ) बर पायो हिंदुवाणी सूरज, अब दिल में कहा धारी ।

(आ) सीसोद्यो रूठ्यो तो म्हांरीकांई कर लेसीं ।

गुरु

(अ) गुरु मिलया रैदास जी दीन्हीं ज्ञान की गुटकी ।

(आ) सतगुरु मिलिया सुंज पिछाणी ऐसा ब्रह्म में पाती ॥

(इ) रैदास संत मिले मोहिं सतगुरु दीन्हा सुरत सहदानी ॥

✓भक्ति में कठिनाइयाँ

(अ) साँप पिटारो राणा जी भेज्यो दयो मेड़तणी गलडार ।
हँस-हँस मीरा कंठ लगायो यो तो म्हारे नौसर हार ॥
विष को प्याली राणा जी मेल्यो द्या मेड़तणी ने प्याय ।
कर चरणामृत पी गई रे गुण गोविंदरा गाय ॥

(अ) राणाजी भेजा विष का प्याला सो अमृत कर दीज्यो जी ॥

(ई) (ऊदा) भाभी राणा जो कियो छै थां पर कोप,
रतन कचीले विष घोलियो,

पूर्व भक्तों का निर्देश

(अ) धना भगत पीपा पुन सेवरी मीरां की हू करो गनना ।

(आ) पीपा कूँ प्रभु परच्यो दीन्हों दिया रे खजीना पूर ।

इ) दास कबीर घर बालद जो लाया नामदेव की छान सुबन्द ।

स्वाभाविक चित्रों की ही उद्भावना की है। भक्त कवियों में कला और परिष्कार की दृष्टि से नन्ददास प्रमुख कवि हैं। उन्होंने भक्ति भावना के साथ ही काव्य गुणों का विशेष ध्यान रखा है और साथ ही साम्प्रदायिक सिद्धान्तों को भी इन्होंने स्पष्ट किया है। भाषा के सामंजस्य के दृष्टि कोण से नन्ददास वास्तव में 'जडिया' ही थे।

सूरदास और नन्ददास गोसाईं विट्ठलनाथ द्वारा स्थापित अष्टछाप के प्रधान कवि थे। इनके अतिरिक्त अष्टछाप के शेष छः कवि निम्नलिखित थे :—

कृष्णदास

इनका समय संवत् १६०० माना जाता है। ८४ वैष्णवन की वार्ता में इनका चरित्र विस्तारपूर्वक वर्णित है। ये वल्लभाचार्य के शिष्य थे। शूद्र होते हुये भी ये कृष्णभक्ति के कारण वल्लभाचार्य जी के द्वारा बहुत सम्मानित हुये। ये भक्त प्रथम थे और कवि बाद में। इनकी कविता सूरदास अथवा नन्ददास की कविता से हीन है। इन्होंने अधिकतर पद ही लिखे हैं जिनमें अधिकतर संयोग शृंगार वर्णित है। इनकी दो पुस्तकें प्रसिद्ध हैं :—'भ्रमर गीत' और 'प्रेम-तत्व निरूपण'। इनकी 'जुगल मान चरित्र' रचना भक्तों को अधिक मान्य है।

परमानन्ददास

इनका समय सम्वत् १६०७ के आस-पास है। ये श्री वल्लभाचार्य के प्रिय शिष्यों में से थे। इनकी रचना बड़ी मधुर और सरस हुआ करती थी। इनकी कविता का विशेष गुण तन्मयता है। इनकी दो पुस्तकें प्रसिद्ध हैं : 'ध्रुव चरित्र' और 'दान-लीला'। इनके अतिरिक्त इनके पदों का भी एक संग्रह पाया जाता है।

कुम्भनदास

इनका कविता काल भी सवत् १६०७ के लगभग माना जाता है। ससार के गौरव और सम्मान से ये बहुत दूर थे। दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता के अनुसार एक बार इन्हें अकबर ने फतहपुर सीकरी बुलाया। लाचार होकर इन्हें जाना पड़ा। किन्तु उन्हें अपनी इस यात्रा का बड़ा खेद रहा। उन्होंने एक पद में लिखा है।

जिनको मुख देखे दुख उपजत, तिनको करिबे परी सलाम।
कुंभनदास लाल गिरधर बिनु और सबै बेकाम ॥

इनका कोई विशेष ग्रन्थ नहीं मिलता। फुटकर पद अवश्य काव्य संग्रह में पाये जाते हैं।

चतुर्भुजदास

ये कुम्भनदास के पुत्र और विट्ठलनाथ के शिष्य थे। कृष्ण लीला का वर्णन ये सूरदास के समान ही करते थे। इनके पद अधिकतर कृष्ण के क्रिया कलापों से ही सम्बन्ध रखते हैं। इनकी भाषा बहुत स्वाभाविक और सरस है। इनके तीन ग्रन्थ प्राप्त हुये हैं :—

१. द्वादश यश, २. भक्तिप्रताप और ३. हितजू को मंगल।

इनके पदों के अनेक संग्रह हैं, जिनमें भक्ति और प्रेम के सुथरे चित्र मिलते हैं।

छीत स्वामी

इनका कविता-काल संवत् १६१२ माना गया है। पहले ये राजा बीरबल के पंडा थे, बाद में पुष्टिमार्ग में दीक्षित हो गये। ये ब्रजभूमि के बड़े प्रेमी थे और जन्मजन्मान्तर उसी में बसना चाहते थे। इनकी कविता बहुत सरस होती थी। इनके स्फुट पद ही प्राप्त होते हैं, कोई सम्पूर्ण रचना नहीं। अष्टछाप के कवियों में इनका आदरणीय स्थान है।

गोविन्द स्वामी

इनका कविता-काल भी संवत् १६१२ माना जाता है। विट्ठलनाथ के शिष्यों में थे और गोवर्द्धन पर्वत पर निवास करते थे। इनके भी स्फुट पद प्राप्त होते हैं।

मीरांबाई

मीरांबाई राजस्थान की कवियित्री थीं। कृष्ण-काव्य में उनकी रचनाओं का विशेष स्थान है। उन्होंने क्रमानुसार कृष्ण की लीलाओं का वर्णन नहीं किया, वरन् दीनता से अपने हृदय की समस्त भावनाओं को भक्ति के सूत्र में बाँध कर कृष्ण की आराधना की। बीच-बीच में कभी उद्धव और राधा आदि

का प्रसंग कह दिया है। उन्होंने माधुर्य भाव से अपनी भक्ति-भावना का स्वरूप निर्धारित किया और स्वयं विरहिणी बन कर अपने आराध्य श्रीकृष्ण से प्रणय भिक्षा माँगी। यही कारण है कि मीरां की कविता में गीतिकाव्य की उत्कृष्ट अभिव्यक्ति है।

मीरां का जीवनवृत्त सम्पूर्ण रूप से विश्वस्त नहीं है। स्त्री होने के कारण उत्तर की राजनीति की रंगभूमि से दूर रहने के कारण आईना अकबरी जैसे ऐतिहासिक ग्रन्थों में वे स्थान नहीं पा सकीं। मीरां स्वयं राजस्थान की राजनीति से सम्बन्ध रखती हैं, अतः राजस्थान के इतिहास में उनका किसी प्रकार उल्लेख है। किन्तु राजस्थान के इन ऐतिहासिक उल्लेखों में भी कहीं कहीं भूल है। अतः मीरां की रचनाओं में जो व्यक्तिगत निर्देश हैं, उन्हें ही प्रामाणिक मानना ठीक है। इस क्षेत्र में एक कठिनाई है। मीरां की रचनाओं की प्रामाणिकता बहुत सन्दिग्ध है। जो रचनाएँ मीरां के नाम से मिलती हैं, उनमें बहुत सी प्रक्षिप्त हैं। अतः जब तक मीरां की रचनाओं का कोई प्रामाणिक संस्करण प्रकाशित न हो जावे तब तक मीरां की रचनाओं का अन्तर्साक्ष्य भी संदिग्ध ही रहेगा। मीरां की अभी तक की प्रकाशित रचनाओं में बेलवेडियर प्रेस प्रयाग की मीरांबाई की शब्दावली सबसे अधिक मान्य है अतः उसी के आधार पर मीरां के जीवन सम्बन्धी अन्तर्साक्ष्य पर विचार होगा :

जन्म तिथि

कुल

(अ) राठौड़ा की धीयड़ी जी सीसोद्या के साथ।
ले जाती वैकुण्ठ को म्हारी नेक न मानी बात ॥

(आ) थे बेटी राठौर की थांने राज दियो भगवान ॥

(इ) बड़ा घरा का छोरु कहावो नाचो दै दै तारी ॥

नाम

(अ) मेड़तियाँ घर जनम लियो है मीरां नाम कहायो ॥

(आ) सब ही लाजै मेड़तियाँ जी थांसू बुरा कहै संसार ॥

जन्मस्थान

(अ) मेड़तिया घर जन्म लियो है मीरां नाम कहायो ।

(आ) पीहर मेढ़ता छोड़ा अपना, सुरत निरत दोउ चटकी ।

(इ) पीहर लाजै जी थांरों मेड़तो ।

(ई) मारू घर मेवाड़ मेरतो त्याग दियो थांरो सहर ।

माता-पिता

(अ) माता-पिता तुमको दियो तुमहीं भल जानो हो ।

पति-गृह

(अ) बर पायो हिंदुवाणी सूरज, अब दिल में कहाधारी ।

(आ) सीसोद्यो रूठ्यो तो म्हांरीकांई कर लेसीं ।

गुरु

(अ) गुरु मिलया रैदास जी दीन्हीं ज्ञान की गुटकी ।

(आ) सतगुरु मिलिया सुंज पिछाणी ऐसा ब्रह्म में पाती ॥

(इ) रैदास संत मिले मोहिं सतगुरु दीन्हा सुरत सहदानी ॥

✓भक्ति में कठिनाइयाँ

(अ) साँप पिटारो राणा जी भेज्यो दयो मेड़तणी गलडार ।
हँस-हँस मीरा कंठ लगायो यो तो म्हारे नौसर हार ॥
विष को प्यालो राणा जी मेल्यो द्यो मेड़तणी ने प्याय ।
कर चरणामृत पी गई रे गुण गोविंदरा गाय ॥

(अ) राणाजी भेजा विष का प्याला सो अमृत कर दीज्यो जी ॥

(ई) (ऊदा) भाभी राणा जो कियो छै थां पर कोप,
रतन कचीले विष घोलियो,

पूर्व भक्तों का निर्देश

(अ) धना भगत पीपा पुन सेवरी मीरां की हू करो गनना ।

(आ) पीपा कूँ प्रभु परच्यो दीन्हों दिया रे खजीना पूर ।

इ) दास कबीर घर बालद जो लाया नामदेव की छान सुबन्द ।

दास धना को खेत निपजायो, गज की टेर सुनन्द ॥
(ई) धना भक्त का खेत जमाया कबिरा बैल चराया ।
(उ) सदना और सेना नाई को, तुम लीन्हा अपनाई ॥

वैराग्य

(अ) माता पिता परिवार सूं रे रही तिनका तोड़ ।
(आ) तुम तजि और भतार को मन में नहिं आनौ हो ।
(इ) पीहर बसूं न बसूं सास सतगुरु शब्द संगाती ।
ना घर मेरा ना घर तेरा मीरां हरि रंग राती ।
(ई) तेरी सुरत के कारणे धर लिया भंगवा भेस ॥

अन्तर्साक्ष्य के इन प्रमाणों से मीरां की जीवनी के सम्बन्ध में निम्नलिखित बातें ज्ञात होती हैं :—

मीरांबाई राजस्थान के गौरवपूर्ण राठौरवंश में उत्पन्न हुई थीं। इनकी जन्मभूमि मेड़ता थी, इसलिये इनका नाम मेड़तणीजी भी था। माता-पिता का वियोग अंतरकाल ही में इन्हें सहन करना पड़ा। इनका विवाह सीसोदिया वंश में हुआ था और इनके पति हिन्दू जाति के सूर्य (हिन्दु वाणी सूरज) थे। इनके हृदय में श्रीकृष्ण की भक्ति स्थान पा गई थी। यही भक्ति रैदास जैसे सतगुरु मिलने से और भी बढ़ गई थी। भक्तिमार्ग में इन्हें अनेक कठिनाइयाँ झेलनी पड़ीं। इनकी ननद ऊदाबाई तथा सास ने इन्हें भक्ति मार्ग छोड़ने के लिये बहुत कहा सुना पर इन्होंने उससे मुख न मोड़ा। ये साधु सत्संग करती ही रहीं। राणा ने राज्य वंश की मर्यादा रखने के लिये मीरां से वैरागियों का साथ छोड़ने के लिये बहुत कहा, पर यह मीरां ने अस्वीकार किया। क्रुद्ध होकर मीरां को मारने के लिये राणा ने विष का प्याला भेजा, मीरां ने उसे चरणामृत मान कर पी लिया। उस विष का प्रभाव मीरां पर कुछ भी नहीं हुआ। राणा ने फिर मीरां के मारने को एक पिटारे में सांप भेजा, पर मीरां ने ज्योंही पिटारा खोला, उन्हें उसमें फूल की एक माला मिली। मीरां ने कुल, लज्जा और वंश की मर्यादा भूल कर श्रीकृष्ण की भक्ति में वैराग्य धारण कर लिया।

अंतर्साक्ष्य में मीरां ने अपने वैधव्य का वर्णन नहीं किया। उन्होंने जब श्रीकृष्ण को अपना पति मान लिया था, फिर वैधव्य कैसा। इसी प्रकार उन्होंने अत्याचार करने वाले राणा का नाम भी नहीं लिखा। केवल सीसोद्यो ही कह कर उन्होंने राणा का संकेत कर दिया है।

बाह्यसाक्ष्य के अनुसार मीरां का जीवन वृत्त अनेक अलौकिक घटनाओं से पूर्ण है। कहीं-कहीं वह केवल परिचयात्मक है, उसमें तिथि आदि का कोई निर्देश नहीं है।

मीरांबाई के ग्रन्थ

मीरांबाई के ग्रन्थों की प्रामाणिकता संदिग्ध है। मीरांबाई के समकालीन और परवर्ती सन्तों ने मीरां के नाम से पद रचना कर मीरां की कविता दूषित कर दी है। आवश्यकता इस बात की है कि मीरां के समय में प्रचलित भाषा के व्याकरण के आधार पर मीरां के उन पदों का संग्रह किया जावे जिनमें मीरां का दृष्टिकोण है। अभी तक की खोज से मीरांबाई के निम्नलिखित ग्रन्थ प्रकाश में आए हैं।

१. गीतगोविन्द की टीका
२. नरसी जी का माहरा
३. फुटकर पद
४. रागसोरठ पद संग्रह

गीति काव्य के अनुसार मीरां की कविता आदर्श है। मीरां ने न तो रीति शास्त्र की गवेषणा की और न अलंकार शास्त्र की। उनके हृदय में निर्झर की भाँति भाव आए और अनुकूल स्थल पाकर प्रकट हो गए। भाव, अनुभाव, संचारी भावों के बादलों में उनकी कविता-चन्द्रिका नहीं छिपी, वरन् निरभ्र हृदयाकाश से बरस पड़ी। हृदय की भावना मन्दाकिनी की भांति कल-कल करती हुई आई और मीरां के कंठस्थ सरस्वती के सङ्गीत धारा में मिल गई। वह भावना सङ्गीत का सार बनी और इसी में मीरां के हृदय की अनुभूति मिली।

मीरां ने गिरधर गोपाल को रिझाया है, उन्हें अपना लिया है। वे गिरधर गोपाल को अपने पति के रूप में देखती हैं :

जाके सिर मोर मुकुट मेरो पति सोई।

माधुर्य भाव की उपासना के कारण उन्हें महाप्रभु चैतन्य से प्रभावित कहा जाता है, यद्यपि मीरां की व्यक्तिगत भावना अत्यन्त स्वतन्त्र है।

मीरां ने शृङ्गार रस में अपनी लेखनी डुबा कर अपने भावों का प्रकाशन किया है, पर इस शृङ्गार में वासना की दुर्गन्धि भी नहीं आने पाई। कविता में आत्म-निवेदन है, विरह है, पर वह आध्यात्मिक, सांसारिक नहीं।

रैन अँधेरी विरह घेरी, तारा गिणत निस जात।
ले कटारी कंठ चीरूँ करूँगी अपघात॥
पाट न खोल्या, मुख न बोल्या, साँझ लाग परभात॥
अबोलना में अवध बीती, काहे की कुशलात॥

यह विरह की सच्ची कहानी है। अन्धकारमय रजनी है। प्रियतम मौन है, हृदय में विरह ज्वाला है। बेचारी विरहिणी आकाश के तारों में दृष्टि डाल कर उन्हें गिन रही है। संध्या से प्रभात तक न तो प्रियतम ने द्वार ही खोला है और न मुख से एक शब्द ही कहा। सारा समय मौन ही में व्यतीत हो गया।

यह एक विरहिणी की स्वाभाविक उक्ति है, पर इसमें आध्यात्मिक तत्व की व्यथा भी सन्निहित है। पाट का अर्थ यदि माया के परदे से ले लिया जावे तो सारे पट पर आध्यात्मिक सत्य का प्रकाश पड़ जाता है और भौतिकता में अलौकिकता आ जाती है। यही मीरां की करुणा है, यही उसकी वेदना है और इसी वेदना के हटाने का उपाय मीरां स्वयं करती हैं :—

मीरां की प्रभु पीर मिटैगी जब वैद समलिया होय।

बात यह है कि मीरां अन्तस्तल से गाती हैं, उन्हें बाह्य शृंगार की परवाह नहीं है। वह प्रेम की योगिनी हैं। उनकी कविता प्रकृति के झरने के समान उमड़ पड़ती है।

मीरां एक कोकिला सी बैठ कर अपने गिरधर गोपाल के गीत गाती हैं। वह पृथ्वी पर नहीं हैं, वृक्ष की सबसे ऊँची डाल पर स्वर्ग के कुछ पास हैं।

मीरांबाई की रचनाओं में दो प्रकार के दृष्टिकोण पाये जाते हैं। पहला दृष्टिकोण तो वह है जिसमें मीरांबाई कृष्ण की भक्ति माधुर्य रूप में करती हैं। वे श्रीकृष्ण को पति मानकर उनसे प्रणय भिक्षा माँगती हैं। 'जाके सिर मोर मुकुट मेरो पति सोई' की भावना से प्रेरित होकर उन्होंने कुल की कान छोड़ दी है। यह भावना संभव है चैतन्य महाप्रभु के माधुर्य भाव से ली गई हो। किन्तु मीरां का व्यक्तित्व उनकी रचनाओं में इतना स्पष्ट है कि वे अपनी भक्ति भावना में किसी से प्रभावित हुई नहीं ज्ञात होतीं। श्रीकृष्ण से होली खेलने की आकांक्षा उन्हें व्याकुल कर रही है। ऐसी स्थिति में उनकी भावना रहस्यवाद से बहुत मिलती है जिसमें विरहिणी आत्मा प्रियतम ईश्वर के वियोग में दुःखी है।

दूसरा दृष्टिकोण वह है जिसमें उन्होंने सन्त मत के अनुसार ईश्वर की भक्ति की है। सम्भव है संतों की भक्ति भावना का प्रभाव उन पर पड़ा हो। ऐसे पदों में सन्त मत में प्रयुक्त रूपक और शब्दावली का ही प्रयोग अधिक पाया जाता है, मीरां की रचना में ऐसे कम पद हैं।

कृष्ण-काव्य का सिंहावलोकन

राम-काव्य के समानान्तर प्रवाहित होते हुए भी कृष्ण-काव्य की धारा राम-काव्य से प्रभावित न हो सकी। राम-काव्य का मर्यादावाद केवल अपने में ही सीमित होकर रह गया। राम-काव्य के दास्य भाव ने भी कृष्ण-काव्य को प्रभावित नहीं किया। कृष्ण चरित्र का रूप इतना अधिक आकर्षक हो गया कि जीवन की पूर्णता केवल कृष्ण के बाल और किशोर जीवन ही में केन्द्रीभूत हो गई।

धार्मिक काल का ह्रास

विक्रम की सत्रहवीं शताब्दी के लगभग धार्मिक काल की पवित्रता नष्ट

होने लगी थी। उसमें शृंगार के अत्यधिक प्राधान्य ने वासना के बीज बो दिए थे। राधा और कृष्ण की विनय अब कवित्त और सवैयों में प्रकट होकर नायिका और नायक के भेदों की कौतूहलवर्धक पहेलियाँ सुलझाने लगी थी। उसके कारण निम्नलिखित थे :—

१. राजनीतिक सन्तोष

जहाँगीर और शाहजहाँ के राज्यकाल ने प्रजा की सुख-शान्ति की समृद्धि की। उसमें युद्ध प्रियता की ओर शासकों का विशेष आकर्षण था। शाहजहाँ हिन्दुस्तान के बड़े वैभवशाली शासकों में था। उसका साम्राज्य विस्तार में अपने सभी पूर्वजों के साम्राज्य से बड़ा था और उसमें तीस वर्ष तक अखंड शान्ति स्थापित रही। साम्राज्य की आमदनी पहले से अधिक थी और खजाना माला माल था।

इस भाँति राजनीतिक वातावरण की शांति ने साहित्य में भी कला की सृष्टि की। मुसलमानी अत्याचार अब सीमित थे। हिन्दू हृदय भी मुसलमानी आतंक से स्वतन्त्र हो गए थे। मुसलमान भी अपने को इस देश का निवासी समझने लगे थे। अब हिन्दू इस्लाम से त्रस्त नहीं थे। अब हिन्दू और मुसलमानों की रक्त से परितृप्त दो तलवारें देश के एक ही स्थान में रक्खी हुई थीं। इस अवकाश काल में भक्ति की अपेक्षा शृंगार की मतवाली भावना अपना विकास कर रही थी।

२. राज्य संरक्षण
३. कला का विकास

राजनीतिक शांति के कारण कला की उन्नति तो हो ही रही थी, साथ ही साथ भिन्न-भिन्न राज्यवंश भी स्थापित हो चले थे। राजनीतिक संतोष के साथ राज्य वैभवशाली हुआ और राज्य के वैभव ने कला को जन्म दिया। शाहजहाँ के गौरवपूर्ण शासन के स्वर्णकाल में कला बहुमुखी होकर विकसित हुई। यह कला केवल साहित्य ही में सीमित होकर नहीं रही वरन् चित्रकला और वस्तुकला में भी प्रकट हुई। जहाँगीर ने अकबर की ललित कला देखी थी और जहाँगीर के आदर्शों ने शाहजहाँ को प्रभावित किया था।

जहाँगीर ने चित्रकारों को पुरस्कृत ही नहीं किया, वरन् चित्रकला के अंगों का अध्ययन भी किया। शाहजहाँ ने तो ताजमहल में कला की चरम सीमा उपस्थित की। समय के कपोल पर रक्खा हुआ वह उज्ज्वल अश्रु-बिन्दु शाहजहाँ के कलापूर्ण हृदय की चित्रशाला है। सम्राट् ने अपनी शृंगार-प्रियता और प्रणय चिन्ह के रूप में ताजमहल की साकार विभूति बाइस वर्षों में निर्मित की, जिसकी नींव विरह के आँसुओं में भरी गई थी। जब राजनीति में कला इतनी व्यापक हो रही थी तो साहित्य में उसका प्रादुर्भाव अनिवार्य था और इसी कला की व्यापकता ने हिन्दी कविता का भक्तिमय दृष्टिकोण भी बदल दिया।

४. कृष्ण-भक्ति का स्वरूप

महाप्रभु वल्लभाचार्य और चैतन्य महाप्रभु ने कृष्ण-पूजा का जो रूप निर्धारित किया था, वह अत्यन्त आकर्षक था। वात्सल्य और माधुर्य भाव की उपासना में श्रीकृष्ण के शृंगारिक पक्ष ही की प्रधानता थी। कृष्ण का सौन्दर्य, गोपियों का प्रेम, कृष्ण और गोपियों का विहार, ये विषय बड़ी कुशलता के साथ प्रतिपादित हुए। किन्तु इन सभी वर्णनों के प्रारम्भ में अलौकिक और आध्यात्मिक तत्व सन्निहित थे। शारीरिक आकर्षण के साथ आध्यात्मिक आकर्षण भी इंगित था, किन्तु यह रूप आगे चल कर स्थिर न रह सका। चैतन्य महाप्रभु ने माधुर्य भाव से श्रीकृष्ण की उपासना कर कृष्ण के दांपत्य प्रेम के चित्रण की सामग्री प्रस्तुत की। इस प्रेम के अलौकिक रहस्य की धारा अपने वास्तविक रूप में अधिक दूर तक प्रवाहित न हो सकी। उसके आध्यात्मिक स्वरूप का ग्रहण सभी भक्तों और कवियों से एक ही रूप में नहीं हो सका। प्रेम के क्षेत्र में प्रेम ही का पतन हुआ और उसमें सांसारिक और पार्थिव आकर्षण की दूषित गन्ध आ गई। फल यह हुआ कि श्रीकृष्ण, सूरदास के प्रभु बाल सँघाती न रह कर गोपियों द्वारा होली खेलने के लिए बार-बार निमंत्रित किए जाने वाले लला, फिर 'आइयो खेलन होरी' वाले श्रीकृष्ण हो गए।

५. भाषा का परिमार्जन

कृष्ण-काव्य की ब्रजभाषा परिमार्जित होकर इतनी मँज चुकी थी कि प्रत्येक प्रकार के भावों का प्रकाशन सरल और अलंकारमय हो गया था। भक्तिकाल के पूर्ववर्ती कवियों ने भाषा में इतनी अधिक भावव्यंजना की थी कि भाषा उनके हाथ में करतलगत आमलक के समान थी। इसी भाषा के परिष्करण ने कवियों को कला-चातुर्य-प्रदर्शन के लिए आकर्षित किया। कविगण इस लोभ का संवरण नहीं कर सके और उन्होंने भाव की अपेक्षा कला के सौन्दर्य की ओर अधिक ध्यान रक्खा। शब्दालंकार और अर्थालंकार लाने के लिए उन्हें यदि भावों की अवहेलना भी करनी पड़ी तो उन्होंने संकोच नहीं किया। उन्होंने शृंगार की भावना को उलट-पुलट कर भाषा के पाश में अपनी कविता को कस दिया। अब कविता जीवन की सन्देश वाहिनी न होकर केवल भाषा सौन्दर्य की परिधि ही में केन्द्रीभूत हो गई। जीवन की स्वतन्त्र भावना प्रत्येक नायिका के साथ शब्दों की शृङ्खला से बाँध दी गई।

६. रीतिकाल की परम्परा

हिन्दी कविता में रीतिकाल की परम्परा जयदेव के गीतगोविन्द से होकर विद्यापति की कविता में आई थी। विद्यापति की पदावली में नायिका-भेद, नखशिख, ऋतु-वर्णन, दूती-शिक्षा, अभिसार आदि बड़े आकर्षक ढंग में वर्णित हैं। कृष्ण-काव्य की यह धारा वास्तव में रीतिशास्त्र से पूर्ण है। पर भक्तिकाल में भावना की अनुभूति इतनी तीव्र थी कि सूर और मीरा ने राधाकृष्ण के शृंगारमय गीत गाकर भी उन्हें मर्यादाविहीन नहीं किया। भक्तिकाल की यही मर्यादा है कि विद्यापति की मधुर पदावली सामने रहते हुए भी किसी कवि ने उसका अनुकरण नहीं किया और विद्यापति की रीतिकालीन शृंगार भावना लगभग तीन सौ वर्षों तक निश्चेष्ट पड़ी रही। भक्तिकाल की भाव तीव्रता में कमी आते ही रीतिशास्त्र अपने लौकिक शृंगार से सज्जित हो हिन्दी के काव्य-क्षेत्र में स्वाभाविक रूप से आ गया।

इन सभी कारण से भक्तिकाल की कविता का उच्च आदर्श सुरक्षित नहीं रह सका। मुगल कालीन वैभव और राजाओं की सुखसाधना ने उसे काव्य के ऊँचे गौरव से गिरा दिया।

आठवाँ प्रकरण

रीति काल

[सं० १७०० से सं० १६००]

सन्धि काल के धूमिल प्रकाश में हिन्दी साहित्य की जो धाराएँ फूटती दिखाई पड़ती थीं उन में एक राष्ट्रीय साहित्य की धारा भी थी जो चारण-काव्य के रूप में आगे चल कर विकसित हुई और जिसका विस्तृत परिचय उपर दिया जा चुका है। चारण-काव्य में पार्थिव आदर्शों के लिए प्राणोत्सर्ग की भावना थी। सामाजिक-मर्यादा, आर्य-आदर्श, सुन्दरी नारी और भूमि के लिए युद्ध होते थे। सैनिक अत्यन्त श्रद्धा एवं विश्वास के साथ इनके लिए लड़ते थे और इन के लिए मर मिटना गौरव की बात समझते थे।

राजनैतिक परिस्थिति

परन्तु कालांतर में राजनीतिक परिस्थितियों ने इन में परिवर्तन ला दिया। मुसलमानों का राजनीतिक आधिपत्य उत्तरी भारत पर हो चुका था। भारतवर्ष का प्रधान राज्य दिल्ली उनकी ही साम्राज्य-सीमा में सदा रहता था। दिल्लीपति के मुसलमान होने के कारण भारतवर्ष के हिन्दू राजाओं की शान कम हो गई थी। फलतः दरबारों के आदर्श बदले। अपना गुण-गान सुनने की इच्छा का यद्यपि अभाव तो न था तथापि उन में अधिक साहस नहीं रह गया था। सामाजिक मर्यादा के लिए युद्ध होने बन्द हो चुके थे क्योंकि मुसलमानों ने कभी मैत्री से और कभी हठपूर्वक हिन्दू राजकुमारियों से विवाह कर लिए थे। इस कारण राजाओं को इस बात पर अभिमान नहीं था कि उनकी कुलीनता अक्षुण्ण है। मुसलमानों की लोलुप दृष्टि ने जैसे उनके

वंश की समस्त पवित्रता एक क्षण में कलुषित कर दी हो। इसलिए सामान्यतः राजाओं की दृष्टि अब वंशाभिमान की ओर नहीं थी। अपने मुसलमान शासकों की प्रवृत्तियों का अनुसरण करते हुए उनकी दृष्टि भी नारी-सौन्दर्य की ओर बढ़ी। ये भी नारी के नेत्रों से अपने जीवन की परिधि खींचने लगे। इस भाँति 'नारी' अपना समस्त सौन्दर्य लेकर उनके सामने कामिनी के रूप में उपस्थित हुई।

वर्ण्य-विषय

हिन्दी चारण-काव्य में दो बातें प्रमुख थीं—युद्ध और शृङ्गार। शृङ्गार में नारी-सौंदर्य की भावना ही थी। कालांतर में ये दोनों बातें अलग हुईं। एक ने कला-कालीन वीरगाथा-साहित्य को जन्म दिया और दूसरी ने रीति-काव्य को। कला-कालीन वीरगाथा-साहित्य में नारी का सर्वथा अभाव था और रीति-काव्य में युद्ध का। राजदरबारी वातावरण में शृङ्गार-चेष्टाएँ एवं युद्ध दोनों ही एक प्रकार से आवश्यक बातें थीं। जब तक उन दोनों का कार्य-क्षेत्र एक ही रहा, नारी के लिए युद्ध होते रहे; उस समय तक दोनों प्रवृत्तियों का इतिहास एक ही रहा, परन्तु जब दोनों अलग-अलग हो गईं तब नारी के कारण युद्ध बन्द होने लगे। इस प्रकार युद्ध का कारण ही बदल गया। अतः साहित्य में यह स्वाभाविक ही था कि शृङ्गार चेष्टाएँ साहित्य का एक अलग माध्यम ढूँढ़तीं। और वह माध्यम हिन्दी का रीति-काव्य है।

हिन्दी भक्ति-काल में पुष्टिमार्गी धारा के अन्तर्गत सूर, नन्ददास आदि का परिचय हम ऊपर दे चुके हैं। सूरदास के सूरसागर में नायिका-भेद के चिह्न अवश्य मिलते हैं। उस के पश्चात् नन्ददास ने 'रसमंजरी' नामक एक रीति-ग्रन्थ भी लिखा था। इधर कालांतर में कृष्णभक्ति-धारा में वह पवित्रता नहीं रही, इस कारण लोगों के हृदय में कृष्ण-राधा की प्रेम-क्रीड़ा में वह श्रद्धा भी नहीं रह गई। वे अपने मनोभावों को राधा-कृष्ण में प्रतिबिम्बित होता हुआ देखने लगे और नारी के प्रति अपनी वासना की अभिव्यक्ति के लिए राधा-कृष्ण विषयक छन्द रचने लगे। नन्ददास द्वारा इंगित रीति-परम्परा

का विकास हुआ और रीति-काव्य को दरबारी वातावरण में बहुत अनुकूल स्थान मिला। वहीं उसका शोषण होने लगा।

दरबारी वातावरण में बाल की खाल निकालने की एक साधारण प्रवृत्ति होती है। उस प्रवृत्ति ने भी रीति-काव्य के विकास में सहयोग दिया। राज-कवि तो पहले भी हुआ करते थे, परन्तु वे काव्य-रचना मात्र करते थे। कालांतर में काव्यशास्त्र की रचना में यदि सूक्ष्म से सूक्ष्म चमत्कार प्रस्तुत किये जाने लगे हों तो इसमें आश्चर्य और अस्वाभाविकता क्या हो सकती है?

'भक्ति-काव्य ने हमारी रूढ़िवादी दृष्टि संस्कृत-साहित्य की ओर फेर दी थी। तुलसी का 'मानस' वास्तव में 'वाल्मीकि रामायण', 'प्रसन्न राघव', 'हनुमन्नाटक', 'अध्यात्म रामायण', 'श्रीमद्भगवत्गीता' के संकेत पर निर्मित था। 'सूरसागर' का आधार 'श्रीमद्भागवत्' ही था। इस प्रकार धार्मिक-साहित्य की ओर तो कवियों का ध्यान गया था किंतु उस समय लौकिक-साहित्य की ओर नहीं जा सका था। राजनीतिक शांति और दरबारी वातावरण में कवियों का ध्यान लौकिक-साहित्य की ओर गया और जब गया तो उसने जीवन का दृष्टिकोण ही बदल दिया।

हमारा देश अपना अत्यन्त प्राचीन इतिहास रखता है। धार्मिक एवं दार्शनिक शास्त्रों का अध्ययन तथा उसका लोक-सुलभरूप में प्रतिपादन भक्ति-काव्य के द्वारा हो चुका था। भक्ति के उन्मेष में शास्त्र का अध्ययन नहीं हो सका था। उसका होना आवश्यक था। इधर हिन्दी भक्ति-काव्य साहित्य के अत्यन्त ऊँचे स्तर की रचनाएँ हमारे सामने रख चुका था। साहित्य के इस युग के पश्चात्—साहित्य के इतने विकास के पश्चात्—एक ऐसे युग की आवश्यकता थी जो हमारे सामने अत्यन्त सुसंगत रूप में साहित्य-शास्त्र रख सके—साहित्य के सौंदर्य की अनुभूति करवा सके। राज दरबारों के वातावरण में कलात्मकता को अधिक प्रश्रय मिलता ही है। इस परिस्थिति ने हिन्दी-साहित्य को कलापूर्ण रचनाओं के निर्माण की ओर प्रेरित किया।

इस रीतिकाल में जनता एवं राजदरबार दोनों केन्द्रों में लिखा हुआ साहित्य उपलब्ध है। परन्तु साहित्य का प्रमुख केन्द्र राजदरबार ही था। राजदरबारों के साहित्य में ही हमें कला-काव्य मिलता है। कलापूर्ण साहित्य में जीवनगत दृष्टिकोण चारण-साहित्य तथा भक्ति-साहित्य से भिन्न है। चारण-साहित्य में जीवन का लक्ष्य औदार्यपूर्ण जीवन के साथ ही साथ विलास था। भक्ति-काव्य में उस सर्वव्यापी, सर्वशक्तिमान 'कारण-करण' से प्रेम और उसी में लय हो जाने की भावना थी। नारी के प्रति एक तीव्र विराग भक्ति-साहित्य में था। कबीर ने इस वैराग्य-भावना से प्रेरित हो कर कहा :—

रहना नहिं देश बिराना है।
यह संसार कागद की पुड़िया,
बूँद परे घुल जाना है॥
यह संसार झाड़ औ झांखर,
आग लगे जर जाना है॥

जायसी का कथन था :—

जो रे उआ सो अथवा।
रहा न यहि संसार।

तुलसीदास ने चेतावनी देते हुए लिखा :—

मन पछतैहै अवसर बीते।
दुर्लभ देह पाइ हरिपद भजु करम बचन अरु ही ते।

मीरा अपनी अनुभूति में कह उठीं :—

भज मन, चरन कमल अविनासी।
यह संसार चहर की बाजी,
सांझ पड़्या उठि जासी।

सूरदास ने आत्म-समर्पण करते हुए लिखा :—

मेरो मन अनत कहां सुख पावै।
जैसे उड़ि जहाज को पंछी
फिरि जहाज पै आवै॥
कमल नयन को छांड़ि महातम
और देव को ध्यावै॥

हिन्दी-रीति-काव्य इन विचारों को अवज्ञा की दृष्टि से देखता है। वसंत ऋतु के वर्णन में कवि अनुप्रास की दीपावली सजाकर हमारे नेत्रों में चकाचौंध ला देता है :—

कूलन में केलि में कछारन में कुंजन में
क्यारिन में कलिन कलीन किलकंत है।
कहै पद्माकर परागन में पौन हूँ में
पानन में पीक में पलासन पगंत है।
द्वार में दिसान में दुनी में देस देसन में
देखौ दीप दीपन में दीपत दिगंत है।
बीथिन में, ब्रज में, नवेलिन में बेलिन में,
बनन में, बागन में, बगरो बसंत है।

शिशिर के सम्बन्ध में कवि-कथन है :—

गुलगुली गिलमै गलीचा हैं गुनी जन हैं
चाँदनी है चिके हैं चिरागन की माला हैं।
कहै पद्माकर त्यों गजक गिजा हैं सजी
सेज हैं सुराही हैं सुरा हैं और प्याला हैं।
सिसिर के पाला को न व्यापत कसाला तिन्हें,
जिनके अधीन एते उदित मसाला हैं।
तान तुकताला हैं, विनोद के रसाला हैं,
सुबाला हैं, दुसाला हैं, विसाला चित्रसाला हैं।

वर्षा की दामिनी उसे खल की प्रीति की अस्थिरता की याद नहीं दिलाती, वरन् :—

चंचला चमंकैं चहूँ ओरन तै चाह भरी,
चरज गई थी फेरि चरजन लागी री।
कहै 'पद्माकर' लवंगन की लोनी लता
लरजि गई ती फेरि लरजन लागी री।
कैसे धरौं धीर वीर त्रिविध समीरैं तन
तरजि गई ती फेरि तरजन लागी री।
घुमड़ि घमण्ड घटा घन की घनेरी अबै,
गरजि गई ती फेरि गरजन लागी री।

नायिका-भेद

हिन्दी-रीति-काव्य का संदेश ही दूसरा है। वह जीवन की क्षणभंगुरता को सौंदर्य-प्रेरणा के आगे उभरने नहीं देता। वहाँ न तो शैशव है और न वृद्धावस्था। वयःसन्धि से लेकर प्रौढ़ावस्था तक सौन्दर्य और आनन्द की प्रदर्शनी ही है। सांसारिक वैभवों के बीच कामिनी की कमनीयता ही उनके नयनों का अमृत है। वहाँ गुलाब के फूलों में कांटे नहीं हैं, जीवन अपने समस्त पार्थिव सौंदर्य को नारी के साहचर्य में केन्द्रित किये हुये है। उसमें जैसे हिन्दी-भक्ति-काव्य की गहरी प्रतिक्रिया सी हो रही हो।

कबीर ने नारी के विषय में कहा था :—

नारी विष की बेलरी

× × ×

नारी की झाँई पड़े अन्धा होत भुजंग ॥
कबीर तिनकी कौन गति जे नित नारी के संग ॥

तुलसी कहते थे :—

प्रमदा सब दुख खानि।

भक्तिकाल की इस उपेक्षा और अपमान का बदला रीतिकाव्य में कामिनी

ने लिया। मनुष्य का सारा जीवन ही जैसे कामिनी के संकेत पर चल रहा था। उसकी वयःसंधि को देखकर कवि कहता है :—

छुटी न सिसुता की झलक झलक्यौ यौवन रंग।
दीपति देह दुहून मिलि मनहु ताफता रंग॥

वय और अवस्था-भेद से भी नारी का वर्गीकरण किया गया और नायिका-भेद का निर्माण हुआ। इसी प्रकार कुछ सीमा तक पुरुष का भी विश्लेषण हुआ और नायक-भेद बना। इसके अतिरिक्त इस विवेचन में शृङ्गार को प्रमुख रखकर सौंदर्य-साहित्य की रचना हुई।

अलंकार

अलंकार के जो ग्रंथ लिखे गये उनमें भी शृङ्गार एवं काम की ही प्रमुखता है। उपमालंकार का उदाहरण कवि देता है :—

चञ्चल हैं ज्यों मीन, अरुणारे पंकज सरसि।
निरखि न होय अधीन ऐसो नर नागर कवन॥

अपन्हुति का उदाहरण भी शृङ्गाररस-मूलक है :—

वेसर मोती दुति झलक परी अधर पर आय।
चूनो होय न चतुर तिय क्यों पट पोंछो जाय॥

प्रतीप की भी वही कहानी है :—

का घूंघट पट मूँदौ अबला नारि।
चंद सरग पै सोहत यहि अनुहारि॥

श्लेष भी शृङ्गार से बाहर नहीं है :—

अजौं तर्यौना ही रह्यौ श्रुति सेवत इक अंग।
नाक बास बेसरि लह्यौ बसि मुकुतन के संग॥

इस प्रकार किसी भी अलंकार को लिया जा सकता है। उसके उदाहरण भी शृङ्गार-परक ही अधिकतर मिलेंगे। काव्य-शास्त्र के अन्य अंगों के विवेचन में भी यही प्रवृत्ति दृष्टिगोचर होती है।

हिन्दी के रीति कवि

केशवदास

टेहरी के एक सनाढ्य परिवार में महाकवि केशवदास का जन्म सं० १६०० वि० के लगभग हुआ था। ये ओरछा नरेश के दरबारी कवि, गुरु एवं मन्त्री थे। इन्होंने महाराजा रामसिंह और वीरसिंह देव के छोटे भाई इन्द्रजीतसिंह के दरबार की शोभा बढ़ाई थी। इनकी रचनाओं की सूची निम्नलिखित है :—

(१) कविप्रिया, (२) रसिक प्रिया, (३) रामचन्द्रिका, (४) वीर सिंहदेव चरित, (५) विज्ञान गीता, (६) रतनबावनी, (७) जहाँगीर-जस-चन्द्रिका और (८) नखशिख।

'कविप्रिया' में काव्य के विविध अंगों का विधिपूर्वक वर्णन है और 'रसिकप्रिया' में शृंगार रस का विस्तृत निरूपण है। केशव के ये ग्रन्थ उन्हें रीति-कवियों की श्रेणी में लाकर बिठला देते हैं। एक बार स्वप्न में केशव को वाल्मीकि जी के दर्शन हुये। केशव ने वाल्मीकि जी से पूछा कि मैं सुख कैसे प्रात कर सकता हूँ ? वाल्मीकि जी ने उत्तर दिया—

भलो बुरो न तू गुनै,
वृथा कथा कहै सुनै।
न राम देव गाइ है,
न देव लोक पाइ है॥

जब यह स्वप्न टूट गया, कवि ने अपनी शक्तिशाली लेखनी से 'रामचन्द्रिका' की रचना की जो उनकी अक्षयकीर्ति की चन्द्रिका है। 'वीरसिंहदेवचरित' में वीरसिंह बुन्देला की यशोगाथा है। 'जहाँगीर-जस-चन्द्रिका' में जहाँगीर की प्रशंसा है। 'रतनबावनी' और 'विज्ञानगीता' अत्यन्त साधारण कृतियाँ हैं। 'नखशिख' की विषय-वस्तु उसके शीर्षक से ही स्पष्ट है। केशव को प्रबन्ध-कवि की प्रतिभा प्राप्त न थी। जहाँ तक स्फुट

उक्तियों एवं सूक्तियों का प्रश्न है, केशव के काव्य में वे पर्याप्त मात्रा में प्राप्त हैं। परन्तु प्रबन्धात्मकता के दर्शन केशव में नहीं होते। 'रामचन्द्रिका' में छन्द-परिवर्तन इतना अधिक हुआ है कि प्रवाह और प्रबन्धात्मकता एक दम नष्ट हो गई है और ऐसा प्रतीत होता है मानों केशव छन्दों की एक प्रदर्शनी हमारे सामने लगा रहे हैं। प्रतिपग नूतन छन्दावली में घटनाएँ भी अत्यधिक अस्तव्यस्त हैं। अधिकतर कवि ने घटना-स्थलों में से कथोपकथन चुन लिये हैं और उन्हें ही सजाकर हमारे सामने रक्खा है। किंतु ऐसे स्थलों पर नाटकीय चित्र बड़ी सजीवता के साथ चित्रित हुए हैं। इस नाटकीय सौंदर्य के अतिरिक्त 'रामचन्द्रिका' में अन्य गुण भी हैं। काव्य में सुन्दर सूक्तियाँ हैं और उपमाएँ मौलिक एवं सजीव हैं। कथोपकथन स्वाभाविक, मार्मिक, शिष्ट एवं सरस हैं जो कि एक दरबारी कवि के सर्वथा योग्य हैं। परन्तु कवि ने कहीं कहीं पर अत्यधिक क्लिष्ट कल्पनाएँ की हैं जो 'रामचन्द्रिका' की स्निग्ध छटा में व्याघात उत्पन्न करती हैं। इस भाँति 'रामचन्द्रिका' रीति-काव्य ज्ञात होता है भक्ति-काव्य और प्रबन्ध-काव्य नहीं। इस 'रामचन्द्रिका' की कलाओं का प्रकाश कवि की रुचि के अनुसार कहीं घटा है और कहीं बढ़ा है। ज्ञात होता है कवि ने राम-कथा के रुचिकर प्रसंगों का संकलन सा करते हुये उनमें इतिवृत्ति की महीन रेखा जोड़ दी है। जहाँ भी कवि को आवश्यकता ज्ञात होती है वहाँ वह अपने आचार्यत्व का प्रदर्शन करने लगता है। श्रीरामचन्द्र की सेना का वर्णन देखिए :—

कुंतल ललित नील, भृकुटी धनुष, नैन
कुमुद कटाच्छ बान सबल सदाई है।
सुग्रीव सहित तार अंगदादि भूषनन,
मध्य देश केसरी सु गज गति भाई है॥
विग्रहानुकूल सब लच्छ लच्छ ऋच्छ बल,
ऋच्छराज-मुखी मुख केसौदास गाई है।
रामचन्द्र जू की चमू, राज्यश्री विभीषण की,
रावण की मीचु दर कूच चली आई है॥

रस :—

इस युग के सभी कवियों ने श्रृङ्गार रस को ही रस-राज माना है :—

तीनि मुख्य नौहू रसनि द्वै-द्वै प्रथमनि लीन ।
प्रथम मुख्य तिन तिहू मैं दोऊ तिहि आधीन ॥
हास्य रु भय सिङ्गार सँग रुद्र करुन सँग वीर ।
अद्भुत रस वीभत्स सँग वरनत सांत सुधीर ॥
ते दोऊ तिन दुहू जुत वीर सांत में आय ।
संग होत सिङ्गार के ताते सो रसराय ॥

कामिनी के अंग-अंग पर रीझ जाने वाला यह साहित्य भक्ति का पल्ला पकड़ने का प्रयत्न सर्वदा करता रहा । इस साहित्य के आलंबन नायक कृष्ण तथा नायिका राधिका हैं । भिखारी दास ने इसका कारण बतलाया है :—

आगे के सुकवि रीझि हैं तौ कविताई
न तो राधिका कन्हाई सुमिरन को वहानो है ।

परन्तु इस साहित्य के पाठक पर इस साहित्य का प्रभाव भक्ति का नहीं वरन् ऐन्द्रिकमूलक श्रृङ्गार का ही पड़ता है । रीतिकाल के कुछ पंडित इसके एक बड़े भाग में आध्यात्मिकता खोज निकालते हैं । हो सकता है कुछ हद तक उनके विचार सही हों, परन्तु सामूहिक रूप से यह सारा साहित्य लौकिक ही प्रतीत होता है ।

रीति-काव्य-रचना के समानान्तर कला कालीन वीर-काव्य की रचना भी होती रही । ऐसे काव्य में अधिकतर इतिवृत्तात्मक निरूपण मिलते हैं । इस इतिवृत्तात्मक निरुपणमें प्रबन्ध-काव्य तथा मुक्तक काव्य दोनों हैं, ये प्रबन्ध काव्य अधिकतर ऐतिहासिक कथानकों को लेकर लिखे गए है । ये ऐतिहासिक प्रबन्ध-काव्य सामान्यतः आश्रित कवियों द्वारा लिखे गये । इन काव्यों की परम्परा हिन्दी में चारण काल से चली आ रही थी । कला-काल के इस साहित्य में प्रक्षिप्तांशों की बहुत कमी है ।

इस कारण इस साहित्य का ऐतिहासिक महत्व पर्याप्त है। इन प्रबन्ध काव्यों में वर्णन प्रायः लम्बे-लम्बे और सूचियों के रूप में हैं। यदि बारात का वर्णन है तो घोड़ों की सैकड़ों जातियों के नाम हैं। यदि भोजन का प्रसंग है तो सैकड़ों मिठाइयों पकवानों और मेवों के नाम हैं और यदि वस्त्रों की बात है तो पचासों प्रकार के कपड़ों के नाम इन कवियों ने गिनाये हैं। इन सूचियों का साहित्यिक महत्व भले ही न हो परन्तु यह सूचियाँ अपने समय की सभ्यता और संस्कृति पर विशेष प्रकाश डालती हैं।

मुक्तक काव्य में शृङ्गारिक, धार्मिक, नैतिक तीन प्रकार के काव्य मिलते हैं। शृङ्गारिक काव्य में संयोग की माधुरी से भरे छंद हैं और धार्मिक काव्य में ब्रह्मज्ञान तथा वैराग्य की बातें कही गयी हैं। कुछ कवियों ने भक्ति और प्रेमपूर्ण विषय के पद पुराने भक्तों की शैली पर लिखे हैं। नीति के फुटकर पद्य लिखने की शैली भी प्रचलित रही है। इसमें कभी-कभी बात कहने के ढंग में चतुरता दिखाई पड़ती है परन्तु काव्यात्मक सरसता का अपेक्षाकृत अभाव ही दृष्टिगत होता है।

छंद :—

रीति-काव्य में अधिकतर तीन प्रकार के छन्दों का प्रयोग होता था :—

(१) कवित्त

(२) सवैया

(३) दोहा

ये तीनों छन्द रीतिकाल से पहले हिन्दी में प्रयुक्त हो चुके थे। शृङ्गार-काल में विभिन्न साहित्यिक धाराओं में रचना करने वाले कवि हुए हैं। आगे के पृष्ठों में उन्हें दो वर्गों में विभक्त किया गया है :—

पहला वर्ग रीति-कवियों का है जिन्होंने काव्य के लक्षण और उदाहरण प्रदर्शन में ही अपनी प्रतिभा प्रदर्शित की है और दूसरा वर्ग अन्य कवियों का है जो नीति आदि विषयों पर रचना करते हैं।

हिन्दी के रीति कवि

केशवदास

टेहरी के एक सनाढ्य परिवार में महाकवि केशवदास का जन्म सं० १६०० वि० के लगभग हुआ था। ये ओरछा नरेश के दरबारी कवि, गुरु एवं मन्त्री थे। इन्होंने महाराजा रामसिंह और वीरसिंह देव के छोटे भाई इन्द्रजीतसिंह के दरबार की शोभा बढ़ाई थी। इनकी रचनाओं की सूची निम्नलिखित है :—

(१) कविप्रिया, (२) रसिक प्रिया, (३) रामचन्द्रिका, (४) वीर सिंहदेव चरित, (५) विज्ञान गीता, (६) रतनबावनी, (७) जहाँगीर-जस-चन्द्रिका और (८) नखशिख।

'कविप्रिया' में काव्य के विविध अंगों का विधिपूर्वक वर्णन है और 'रसिकप्रिया' में शृंगार रस का विस्तृत निरूपण है। केशव के ये ग्रन्थ उन्हें रीति-कवियों की श्रेणी में लाकर बिठला देते हैं। एक बार स्वप्न में केशव को वाल्मीकि जी के दर्शन हुये। केशव ने वाल्मीकि जी से पूछा कि मैं सुख कैसे प्राप्त कर सकता हूँ? वाल्मीकि जी ने उत्तर दिया—

भलो बुरो न तू गुनै,
वृथा कथा कहै सुनै।
न राम देव गाइ है,
न देव लोक पाइ है॥

जब यह स्वप्न टूट गया, कवि ने अपनी शक्तिशाली लेखनी से 'रामचन्द्रिका' की रचना की जो उनकी अक्षयकीर्ति की चन्द्रिका है। 'वीरसिंहदेवचरित' में वीरसिंह बुन्देला की यशोगाथा है। 'जहाँगीर-जस-चन्द्रिका' में जहाँगीर की प्रशंसा है। 'रतनबावनी' और 'विज्ञानगीता' अत्यन्त साधारण कृतियाँ हैं। 'नखशिख' की विषय-वस्तु उसके शीर्षक से ही स्पष्ट है। केशव को प्रबन्ध-कवि की प्रतिभा प्राप्त न थी। जहाँ तक स्फुट

उक्तियों एवं सूक्तियों का प्रश्न है, केशव के काव्य में वे पर्याप्त मात्रा में प्राप्त हैं। परन्तु प्रबन्धात्मकता के दर्शन केशव में नहीं होते। 'रामचन्द्रिका' में छन्द-परिवर्तन इतना अधिक हुआ है कि प्रवाह और प्रबन्धात्मकता एक दम नष्ट हो गई है और ऐसा प्रतीत होता है मानों केशव छन्दों की एक प्रदर्शनी हमारे सामने लगा रहे हैं। प्रतिपग नूतन छन्दावली में घटनाएँ भी अत्यधिक अस्तव्यस्त हैं। अधिकतर कवि ने घटना-स्थलों में से कथोपकथन चुन लिये हैं और उन्हें ही सजाकर हमारे सामने रक्खा है। किंतु ऐसे स्थलों पर नाटकीय चित्र बड़ी सजीवता के साथ चित्रित हुए हैं। इस नाटकीय सौंदर्य के अतिरिक्त 'रामचन्द्रिका' में अन्य गुण भी हैं। काव्य में सुन्दर सूक्तियाँ हैं और उपमाएँ मौलिक एवं सजीव हैं। कथोपकथन स्वाभाविक, मार्मिक, शिष्ट एवं सरस हैं जो कि एक दरबारी कवि के सर्वथा योग्य हैं। परन्तु कवि ने कहीं कहीं पर अत्यधिक क्लिष्ट कल्पनाएँ की हैं जो 'रामचन्द्रिका' की स्निग्ध छटा में व्याघात उत्पन्न करती हैं। इस भाँति 'रामचन्द्रिका' रीति-काव्य ज्ञात होता है भक्ति-काव्य और प्रबन्ध-काव्य नहीं। इस 'रामचन्द्रिका' की कलाओं का प्रकाश कवि की रुचि के अनुसार कहीं घटा है और कहीं बढ़ा है। ज्ञात होता है कवि ने राम-कथा के रुचिकर प्रसंगों का संकलन सा करते हुये उनमें इतिवृत्ति की महीन रेखा जोड़ दी है। जहाँ भी कवि को आवश्यकता ज्ञात होती है वहाँ वह अपने आचार्यत्व का प्रदर्शन करने लगता है। श्रीरामचन्द्र की सेना का वर्णन देखिए :—

कुंतल ललित नील, भृकुटी धनुष, नैन
कुमुद कटाच्छ बान सबल सदाई है।
सुग्रीव सहित तार अंगदादि भूषनन,
मध्य देश केसरी सु गज गति भाई है॥
विग्रहानुकूल सब लच्छ लच्छ ऋच्छ बल,
ऋच्छराज-मुखी मुख केसौदास गाई है।
रामचन्द्र जू की चमू, राज्यश्री विभीषण की,
रावण की मीचु दर कूच चली आई है॥

इस छन्द में श्लेष के सहारे एक ही संदर्भ में श्रीराम की सेना, विभीषण की राज्यश्री और रावण की मृत्यु का वर्णन कर दिया है। कवि के आचार्यत्व में राम की सेना का वर्णन ओज की समस्त श्री खो बैठा है। इस प्रकार केशव ने कथा के काव्यस्थलों को ठीक ठीक नहीं पहिचाना। कहीं कहीं केशव के पांडित्य-प्रदर्शन की यह प्रवृत्ति हमें उस नारी की याद दिलाती है जो अपने शरीर के अंग प्रत्यंग को आभूषणों से लाद लेना चाहती है और उन की उपयुक्तता तथा अनुपयुक्तता पर विचार नहीं करती। केशव के इस काव्य में कुछ स्थल तो वास्तव में उत्कृष्ट हैं; जहाँ केशव ने अलंकार के द्वारा भाव-व्यंजना और चित्र की स्पष्टता सही ढंग से प्रदर्शित की है उन स्थलों पर ऐसा ज्ञात होता है कि कवि अलंकारों का पूर्ण शासक है और वह आवश्यकतानुसार चाहे जिस भाव का स्पष्टीकरण चाहे जिस अलंकार से कर सकता है। बादलों के समूह और उन के गर्जन का चित्रण कितना स्पष्ट है:—

घन घोर घने दशहू दिशि छाए।
मघवा जनु सूरज पै चढ़ि आए॥
अपराध बिना छिति के तन ताए।
तिन पीड़त पीड़ित ह्वै उठि धाए॥

कहीं कही पर केशव की उक्तियाँ बड़ी ही मार्मिक हैं। राम के विश्वामित्र के साथ वन चले जाने पर दशरथ की मनोदशा का वर्णन है—

राम चलत नृप के जुग लोचन
बारि भरित भये वारिद रोचन
पायन परि ऋषि के सजि मौनहि
केशव उठ गये भीतर भौनहिं

चित्रकूट में रामचंद्र जी द्वारा पिता की कुशलता पूछने पर उनकी माताओं का कितना करुणचित्रण है।

तब पूछियौ रघुराई, सुख हैं पिता तन भाइ
तब पुत्र को मुख जोइ, क्रम ते उठीं सब रोइ।

सीता की दशा कितनी स्पष्ट और करुणा व्यंजक है :—

धरे एक वेनी मिली मैल सारी।
मृणाली मनो पंक सों काढ़ि डारी॥

मृणाली पंक के संसर्ग जैसी मैली है वैसी ही उखड़ जाने से कान्तिहीन हो रही है और क्षण क्षण सूखती जाती है। इन दो पंक्तियों में कवि ने सीता के बाह्य और आंतरिक दोनों प्रकार के सुन्दर और सप्राण चित्र दिये हैं।

यद्यपि केशव ने भाषा में कविता की और जिसका दुःख उनको यह था कि उनके कुल के दास लोग भी भाषा नहीं बोलते थे।

भाषा बोलि न जानहीं जिनके कुल के दास।
भाषा कवि भो मंदमति, तेहि कुल केशवदास॥

परन्तु काव्य-शास्त्र के क्षेत्र में केशव ने दंडी के काव्यादर्श से लक्षण लिए हैं। केशव के बाद जो लक्षण-ग्रंथों की परंपरा हिन्दी में चली वह साहित्य-दर्पण, चन्द्रालोक और कुवलयानन्द द्वारा निर्देशित पथ पर आरूढ़ रही। इसी कारण केशव अन्य हिन्दी रीति-काव्यकारों से काव्य-शास्त्र-विवेचना-प्रणाली में भिन्न हैं।

हिन्दी के सर्वप्रथम महत्त्वपूर्ण रीति-काव्यकार केशव अपनी 'रामचन्द्रिका के कारण हिन्दी-साहित्य में सर्वमान्य हैं, रीति-ग्रंथों के कारण नहीं। परन्तु प्रारंभिक हिंदी रीति-काव्यकार होने के नाते उनका महत्त्व हिंदी-रीति-काव्य के क्षेत्र में भी है।

रहीम

रहीम मुग़ल सम्राट् अकबर के वैभवशाली दरबार के एक रत्न थे। इनके पिता बैरमखां खानखाना अकबर के अभिभावक थे। राजनीतिक परिस्थितियों के कारण उन्होंने अकबर का विरोध किया और अपना राजनीतिक जीवन समाप्त किया। अकबर ने रहीम को अपने संरक्षण में ले लिया। सं० १६३३ वि० में ये गुजरात के सूबेदार नियुक्त किए गए। उस समय इनकी अवस्था केवल १६

वर्ष की थी। तीन वर्ष पश्चात् ये फिर दरबार में लौट आए और सुलतान सलीम के शिक्षक नियुक्त किए गए। युद्ध के अति भयंकर क्षेत्रों में इन्होंने अपनी सामरिक प्रतिभा का परिचय दिया। रहीम ने अकबर के विद्रोहियों को कई बार पराजित किया। उन्होंने अकबर की सेवा कई प्रकार से की; कभी किसी प्रान्त के अधिपति रह कर, कभी विद्रोहियों को परास्त कर और कभी नवीन प्रान्त पर विजय प्राप्त करके। इतने अधिक राजनीतिक प्रभुत्व का व्यक्तित्व हिन्दी-साहित्य में अद्वितीय है। अकबर की मृत्यु के बाद जहाँगीर के राज्यकाल में रहीम के सौभाग्य का सितारा अस्त हो चला। प्रारम्भ में तो जहाँगीर ने इनका पर्याप्त सम्मान किया, परन्तु जहाँगीर के पराभव काल में विषम राजनीतिक परिस्थितियों के कारण इन्हें अनेक कष्ट सहन करने पड़े। कालान्तर में ये मुग़ल दरबार छोड़कर जहाँ तहाँ भटकने लगे।

इनकी निम्नलिखित रचनाएँ प्राप्त हैं—

(१) दोहावली, (२) नगर-शोभा, (३) बरवै नायिका भेद, (४) बरवै नायिका, (५) शृंगार-सोरठ, (६) मदनाष्टक, (७) फुटकर पद, (८) रहीम काव्य, (९) खेट कौतुक जातकम्, (१०) वाकेआत बाबरी, (११) फारसी दीवान।

'दोहावली' में लगभग २८७ दोहे हैं। ये फुटकर दोहे विविध उपदेशों की सजीवता से अनुरंजित हैं। 'नगर-शोभा' में १४२ दोहों का संग्रह है। इसमें अनेक जाति तथा पेशेवाली स्त्रियों पर उनकी जाति, कर्म या व्यापार के शब्दों को लेकर शृंगारिक भाव बड़ी सुन्दरता से व्यक्त किए गए हैं। 'बरवै नायिका-भेद' विशुद्ध अवधी भाषा में नायिका-भेद संबन्धी ग्रन्थ है। इसमें लक्षण नहीं कहे गए, उदाहरणमात्र दिए गए हैं। 'बरवै नायिका' ग्रन्थ में १०१ छन्द हैं। इन छन्दों में कोई क्रम नहीं है। ये शृंगार विषयक स्फुट रचनाएँ हैं। इस ग्रन्थ के प्रारम्भ में तो यह मालूम पड़ता है कि कवि किसी बारहमासे की रचना कर रहा है। परन्तु आगे के बरवै इस बात की साक्षी नहीं देते। 'शृंगार-सोरठ' का कोई भी अंश अभी तक उपलब्ध नहीं हुआ। संभवतः शृंगार विषयक सोरठे ही इस ग्रन्थ में होंगे।

संस्कृत के वर्णवृत्त मालिनी छंद में संस्कृत और खड़ी बोली हिन्दी का सम्मिश्रण कर कुछ छन्द भी रहीम ने लिखे हैं। ये छन्द शृङ्गार के हैं और मदनाष्टक कहलाते हैं। कहा जाता है कि रहीम ने फुटकर पदों में एक 'रासपंचाध्यायी' लिखी थी। इसके विशृङ्खलित संग्रह प्राप्त हुए हैं और वे फुटकर पद कहलाते हैं। रहीम के काव्य में कुछ संस्कृत-श्लोक और कुछ संस्कृत-हिन्दी श्लोक भी हैं। 'खेट कौतुक जातकम्' में कवि ने संस्कृत भाषा में ज्योतिष के नवग्रहों के बारहों स्थानों के फल एक एक श्लोक में दिये हैं। 'वाके-आत बाबरी' बाबर की तुर्की भाषा में लिखी हुई आत्म-जीवनी का फ़ारसी अनुवाद है। 'फारसी दीवान' में इनकी फ़ारसी भाषा में लिखी हुई कविताएँ संग्रहीत हैं। रहीम के विषय में बहुत सी किंवदन्तियाँ प्रसिद्ध हैं जिनसे पता चलता है कि ये अत्यन्त चरित्रवान, निष्कपट, सच्चे, भावुक, हाज़िरजवाब और कला का सम्मान करने वाले थे। इनके आश्रय में अनीसी, शमलू, मीर मुगरिस गाहवी, मुल्ला मुहम्मद रज़ा नबी आदि कवि थे। कवियों के गुणों का रहीम विशेष सम्मान करते थे। हिन्दी के अनेक कवियों को इन्होंने प्रचुर धन देकर उनका सम्मान किया। हिन्दी के उन कलाकारों ने रहीम की प्रशंसा भी की है। केशवदास, गंग, हरनाथ, मण्डन, प्रसिद्ध अलीकुली, तारा, होलराय, मुकुन्द आदि कवियों की लिखी हुई रहीम की प्रशंसा-विषयक पंक्तियाँ हमें आज भी प्राप्त हैं।

रहीम के धार्मिक विचार अत्यन्त सहिष्णु थे। ये थे तो मुसलमान परन्तु इनकी नीति थी :

"करूँ मैं सिज्दः बुतों के आगे,
तू ऐ ब्रिरहमन ख़ुदा ख़ुदा कर।"

ये संसार का स्रष्टा एक ही मानते थे और उसे राम-रहीम दोनों नामों से संबोधित करते थे। हृदय को विस्मय-विमुग्ध कर देने वाले कृष्ण के रूप का चित्रण इन्होंने इस प्रकार किया है:—

कमल दल नैननि की उनमानि ।
बिसरत नाहिं सखी मो मन तें मंद मंद मुसुकानि ॥
यह दसननि दुति चपलाहू ते महा चपल चमकानि ।
वसुधा की बस करी मधुरता, सुधा पगी बतरानि ॥
चढ़ी रही चित उन विसाल की मुकुतमाल थहरानि ।
नृत्य समय पीतांबर हू की फहरि फहरि फहरानि ॥
अनुदिन श्री वृन्दाबन वन ते आवन आवन जानि ।
अब रहीम चित ते न टरति है सकल स्याम की बानि ॥

एक मुसलमान की लेखनी से हिन्दुओं के आराध्य श्री कृष्ण के लिए ये पंक्तियाँ उसके अत्यन्त गहरे कृष्ण-प्रेम की परिचायिका हैं। मदनाष्टक में जिस श्याम का वर्णन है उसकी छरी तथा मुँदरी तक का अनन्य प्रेम के साथ चित्रण किया गया है। हिन्दू भक्तों की भाँति इन्हें भी कृष्ण पर विश्वास था :—

'रहिमन' कोऊ का करै ज्वारी चोर लबार ।
जो पति राखन हार है माखन चाखन हार ॥

प्रेम का वर्णन भी कवि ने अत्यन्त व्यापक आत्मानुभूति से किया है। वे प्रेम-पथिक को सचेत करते हुए कहते हैं :—

रहिमन मैन तुरंग चढ़ि, चलियो पावक माँहिं ।
प्रेम पंथ ऐसो कठिन, सब कोउ निबहत नाहिं ॥

वे प्रेम का आदर्श बतलाते हैं :—

अन्तर दाव लगी रहै, धुवाँ न प्रकटै सोइ ।
कै जिय जानै आपना जा सिर बीती होइ ॥

एक अत्यन्त आत्मीय मित्र की भाँति जैसे हमारे कंधे पर हाथ रख कर वे हमें उपदेश देते हैं :—

मान सहित विष खाइ कै शंभु भये जगदीश ।
बिना मान अमृत पिये राहु कटायौ शीश ॥

रहिमन मोहि न सुहाय अमी पिआवत मान बिनु ।
बरु विष देइ बुलाइ मान सहित मरिबो भलो ॥

इसी प्रकार उन्होंने हमें सैकड़ों उपदेश दिये हैं। रहीम ने विविध भाषाओं में सच्ची अनुभूति की मार्मिकता लेकर जो कविता लिखी है, वह भारती के समुज्ज्वल कण्ठ में पड़ी हुई माला की एक अत्यन्त सुन्दर मणि है।

चिन्तामणि त्रिपाठी

ये तिकवांपुर (जि० कानपुर) के रहने वाले थे। ये चार भाई थे— चिन्तामणि, भूषण, मतिराम और जटाशंकर। चारों ही हिन्दी के कवि थे। भूषण और मतिराम का परिचय आगे दिया जायेगा। चिन्तामणि ने निम्नलिखित ग्रन्थों की रचना की—

(१) कवि-कुल-कल्पतरु, (२) काव्य-विवेक, (३) काव्य-प्रकाश, (४) रामायण, (५) पिंगल।

इन ग्रंथों में कवि ने काव्य-शास्त्र के विविध अंगों पर प्रकाश डाला है और साथ ही साथ शृङ्गार विषयक उत्कृष्ट छंद लिखे हैं। काव्यगत-दृष्टिकोण में बिस्तार लाने का प्रयत्न किया है। उनकी शृङ्गारिक रचनाओं के उदाहरण तो बहुत हैं, एक भक्ति-विषयक उदाहरण लीजिये :—

येई उधारत हैं तिन्हैं जे परे मोह-महोदधि के जल-फेरे।
जे इनको पल ध्यान धरैं मन ते न परैं कबहूँ जम-घेरे ॥
राजै रमा-रमनी उपधान अभै वरदान रहै जन नेरे।
हैं बलभार उदण्ड भरे हरि के भुजदण्ड सहायक मेरे ॥

बेनी

रीति काल के प्रारम्भिक कवियों में बेनी का नाम उल्लेखनीय है। यद्यपि इनके काव्य और जीवन के सम्बन्ध में अधिक सामग्री नहीं मिलती तथापि विषय-वर्णन अर्थात् नख-शिख और ऋतु-वर्णन तथा भाषा सौष्ठव अर्थात् व्रजभाषा के लालित्य के दृष्टिकोण से इनका विशिष्ट स्थान है। इनके केवल मात्र अनुप्रासयुक्त सुन्दर पद मिलते हैं।

मारवाड़ के महाराज जसवन्तसिंह का जन्म सं० १६८३ में हुआ था। ये सं० १६९५ में गद्दी पर बैठे। अपने समय के ये प्रतापी हिन्दू राजा थे। साहित्य से इन्हें विशेष रुचि थी और इनके दरबार में कवियों और विद्वानों का अत्यधिक सम्मान होता था। इस प्रकार इन्होंने हिन्दी साहित्य की द्विविध सेवा की—कवि रूप में और आश्रयदाता के रूप में। इनके लिखे हुये निम्न-लिखित ग्रंथ मिलते हैं :—

महाराज जसवन्त सिंह

(१) भाषा भूषण, (२) अपरोक्ष-सिद्धान्त, (३) अनुभव प्रकाश, (४) आनन्द-विलास, (५) सिद्धान्त-बोध, (६) सिद्धान्तसार, (७) प्रबोध-चन्द्रोदय नाटक।

इन रचनाओं में भाषा-भूषण सबसे अधिक प्रसिद्ध ग्रंथ है। इसे चन्द्रोदय का छायानुवाद भी कहा जा सकता है। इस ग्रंथ में छन्द की एक पंक्ति में लक्षण दिया गया है और दूसरी में उदाहरण। भाषा-भूषण पर ३ टीकाएँ रची गईं और आज भी यह ग्रंथ अलंकार विषय पर अपना महत्व रखता है।

बिहारीलाल का जन्म ग्वालियर के पास गोविंदपुर नामक गाँव में सं० १६६० वि० के लगभग माना जाता है। इनकी बाल्यावस्था बुन्देलखंड में व्यतीत हुई और तरुणावस्था अपनी ससुराल मथुरा में। अपनी प्रतिभा के प्रति सजग होकर ये किसी आश्रयदाता की खोज में निकले और जयपुर के मिर्जा राजा जयसिंह के दरबार में पहुँचे। उस समय महाराज अपनी छोटी रानी के प्रेम में इतने लीन रहते थे कि राजकाज देखने का भी उन्हें अवकाश नहीं था। सरदारों की सलाह से बिहारी ने यह दोहा महाराजा के पास भीतर भिजवाया :—

बिहारीलाल

नहिं पराग नहिं मधुर मधु, नहिं विकास यहि काल।
अली कली ही सों बँध्यो, आगे कवन हवाल॥

कहते हैं, इस पर महाराज बाहर निकले और उन्होंने बिहारी की प्रतिभा को स्वीकार किया। महाराज की आज्ञा से बिहारी ने इसी प्रकार दोहे बनाना आरम्भ किया और प्रत्येक दोहे पर उन्हें एक एक अशरफी पुरस्कारस्वरूप प्राप्त हुई। इस प्रकार बनाये गये दोहों की संख्या ७०० से कुछ अधिक है। इनके दोहों का संग्रह 'बिहारी सतसई' के नाम से प्रसिद्ध हुआ। यही ग्रन्थ बिहारी की अमर कीर्ति का स्तंभ है। शृङ्गार रस की ग्रंथमाला में यह सुमेरु माना जाता है। विद्वानों और कवियों ने इनकी दर्जनों टीकाएँ लिखी हैं। पद्य में बिहारी सतसई की टीका लिखने की यह परंपरा भारतेन्दु हरिश्चन्द्र तक मिलती है और गद्य में आधुनिक कवि जगन्नाथदास रत्नाकर तक।

छोटे-छोटे दोहों में बड़े-बड़े भाव व्यंजित कर बिहारी ने गागर में सागर भरने की प्रतिभा का परिचय दिया है। दोहों के संबंध में बिहारी की यह उक्ति सत्य है, गर्वोक्ति नहीं—

सतसैया के दोहरे ज्यों नावक के तीर।
देखन में छोटे लगें घाव करें गम्भीर॥

बिहारी ने काव्य-शास्त्र का कोई लक्षण ग्रंथ नहीं लिखा परन्तु उनके इस ग्रंथ को पढ़कर यह स्पष्ट हो जाता है कि यह रीतिकाव्य-परंपरा में केवल उदाहरणों वाला ग्रंथ है और इसे रीतिकाव्य की परंपरा से अलग नहीं किया जा सकता। कवि अनुभावों और विभावों की अत्यन्त मार्मिक दशाओं का चित्रण करता है। दशाओं के चुनाव और व्यंजना दोनों में कवि ने अत्यन्त सूक्ष्म दृष्टि से काम लिया है :—

बतरस लालच लाल की, मुरली धरी लुकाय।
सौंह करै, भौंहनि हँसै, देन कहै, नटि जाय॥

इस दोहे में बिहारी ने पहले तो गोपिका का आन्तरिक परिचय दिया है और फिर इतने गहरे रंगों से उसके अनुभावों का अंकन किया है कि पाठक का हृदय श्रीकृष्ण के साथ ही उसकी ओर आकर्षित होता है। फिर कवि ने

दूसरी पंक्ति में जो छोटे-छोटे उपवाक्य रखे हैं वे उनकी नाटकीयता का भी चित्रण अत्यन्त सजीवता के साथ उपस्थित करते हैं।

नासा मोरि, नचाइ दृग, करी कका की सौंह।
कांटे सी कसकैं हिये, गड़ी, कँटीली भौंह॥

इस दोहे में भी पहली पंक्ति में छोटे-छोटे उपवाक्य अपनी अभिव्यक्ति में मार्मिकता ला देते हैं और चित्र की विशदता चिरस्मरणीय हो जाती है।

असंगति और विरोधाभास के सुन्दरतम प्रयोगों के साथ-साथ छोटे-छोटे उपवाक्यों की सरस शैली में निम्नलिखित छन्द कितना सजीव है :—

दृग अरुझत, टूटत कुटुम, जुरत चतुर चित प्रीति।
परति गांठ दुरजन हिए, दई नई यह रीति॥

कहीं-कहीं पर कवि शब्दों से भी क्रीड़ा करता है :—

कनक कनक तें सौगुनी, मादकता अधिकाय।
यह खाये बौरात है, वह पाये बौराए॥

इसमें 'कनक' शब्द के दो अर्थ दोहे में चमत्कार उत्पन्न कर रहे हैं।

तो पर वारौं उरबसी सुनु राधिके सुजान।
तू मोहन के उर बसी ह्वै उरबसी समान॥

इस दोहे में सारा चमत्कार 'उरबसी' शब्द के यमक का है।

सघन कुञ्ज, छाया सुखद, शीतल मन्द समीर।
मन ह्वै जात अजौं वहै, वा जमुना के तीर॥

इसमें 'वहै' और 'वा' शब्द इतने सजीव हैं कि सारा दोहा सार्थक हो उठा है। इन दो शब्दों में जो अर्थ छिपा है उसकी अभिधात्मक अभिव्यक्ति के लिए कई वाक्यों की आवश्यकता है। बिहारी ने जिस छोटे से छन्द दोहे का सहारा लिया है उसके भावों को स्पष्ट करने के लिये बड़े से बड़े छन्द भी असमर्थ हो जावेंगे।

इन गुणों के साथ ही साथ कवि ने अतिशयोक्ति के जो चित्र दिये हैं वे भी अपनी कल्पना में चमत्कारपूर्ण बन गए हैं :—

पत्रा ही तिथि पाइये, वा घर के चहुँ पास।
नित प्रति पून्यो ही रहै, आनन ओप-उजास ॥

मुख की गोराई का यह चित्र यद्यपि एकदम काल्पनिक है तथापि पहली पंक्ति में जो उक्ति कही गई है वह इस छन्द को मनोरमता प्रदान करती है।

शृङ्गारिक दोहों के अतिरिक्त बिहारी ने कुछ नीति सम्बन्धी दोहे भी लिखे हैं। पता नहीं बिहारी ने उसकी रचना क्या सोच कर की है। उन दोहों में बिहारी की उच्च प्रतिभा का परिचय तो नहीं मिलता किन्तु उससे उनका चिन्तन-पक्ष अधिक स्पष्ट होता है। शायद इतने शृङ्गारिक दोहों की रचना करने के बाद कवि इन दोहों में प्रायश्चित्त सा कर रहा है। मध्ययुग का अति नैतिक एवं धार्मिक वातावरण भी इन दोहों की रचना के मूल में हो सकता है।

हिन्दी काव्य के अनन्त सुनील नभ में बिहारी एक जाज्वल्यमान नक्षत्र हैं। बिहारी की प्रतिभा हिन्दी के कवियों को सदा प्रेरणा देती रही है और हिन्दी में उनके अनुकरण पर विविध सतसैयाँ लिखी जाती रही हैं।

मतिराम ने तिकवांपुर (जि० कानपुर) में सं० १६६० वि० के लगभग जन्म लिया। चिन्तामणि और भूषण इनके भाई थे। हिन्दी के अन्य रीति-कालीन कवियों की भाँति आश्रय-दाताओं की खोज में इनको भी भटकना पड़ा था। इनकी आठ रचनाओं का पता अब तक लग चुका है।

मतिराम

(१) फूल-मंजरी, (२) रस-राज, (३) छन्द-सार पिंगल, (४) ललित-ललाम, (५) मतिराम सतसई, (६) साहित्य-सार, (७) लक्षण शृङ्गार, (८) अलंकार पंचाशिका।

'फूल मंजरी' में ६० दोहे हैं। एक दोहे को छोड़कर अन्य सब दोहों में ५६ फूलों का वर्णन है। इसकी रचना सं० १६७८ के लगभग जहाँगीर की आज्ञा से आगरे में हुई। 'रसराज' में शृंगार रसान्तर्गत नायक-नायिका भेद तथा अनुभाव आदि का वर्णन है। इसका रचना काल लगभग १६६५ वि० माना गया है। यह ग्रन्थ मतिराम की प्रसिद्धि का आधार है। मतिराम इसकी रचना के लिए किसी नरेश के कृतज्ञ नहीं थे। 'छन्द सार पिंगल' में पिंगल

शास्त्र की विवेचना लगभग १७०५ वि० में श्रीनगर के फतेहशाह बुन्देला के लिये की गई थी। मतिराम की अक्षय कीर्ति का दूसरा आधार 'ललित ललाम' है जो बूँदी के महाराज भावसिंह के आश्रय में सं० १७१६ वि० में लिखा गया था। इसमें कवि ने अलंकारों की विवेचना की है। 'मतिराम सतसई' में शृंगार और शांत के ७०० दोहों का संग्रह है। इसकी रचना स्फुट रूप में समय-समय पर होती रही। इसका संकलन सं० १७३५ के लगभग हुआ। सं० १६४० वि० के लगभग कवि ने 'साहित्य सार' नामक एक छोटा सा नायिका-भेद सम्बन्धी ग्रन्थ लिखा। संवत् १७४५ में 'लक्षण शृङ्गार' की रचना भावों और विभावों का वर्णन करने के लिये हुई। १७४७ वि० में कुमायूँ के राजकुमार ज्ञानचन्द के लिये कवि ने अपना 'अलंकार पंचाशिका' नामक अन्तिम ग्रन्थ लिखा। इसमें अलङ्कारों का वर्णन है। यह संस्कृत के ग्रंथों के आधार पर लिखा गया ज्ञात होता है।

परवर्ती कवियों ने मतिराम के 'रसराज' और 'ललित-ललाम' का पर्याप्त सम्मान किया। कई कवियों ने इन ग्रन्थों की टीकाएँ लिखीं। मतिराम की भाषा पद्माकर के समान अत्यन्त स्वाभाविक है। इनकी कविता में न तो भावों की कृत्रिमता है और न भाषा की अस्वाभाविकता। चमत्कार के लिये निरर्थक अथवा साधारण शब्दों का प्रयोग कहीं पर भी नहीं हुआ। शब्द शब्द सोच-विचार के साथ रखा गया है। भावों को स्वाभाविक रूप में रखने के लिये ये बिहारी के समान दूर की अनोखी सूझों के पीछे नहीं भटके। इनकी कविता का एक उदाहरण यह है—

कुन्दन को रँग फीको लगै,
झलकै अति अंगनि चारु गोराई।
आँखिन में अलसानि,
चितौन में मंजु विलासन की सरसाई।
को बिनु मोल बिकात नहीं,
मति राम लहे मुसकान मिठाई।
ज्यों-ज्यों निहारिये नेरे ह्वै नैननि,
त्यों-त्यों खरी निकरै सी निकाई॥

हिन्दी रीति काव्य के हरे-भरे और फूले-फले उपवन में मतिराम रूपी पुष्प का सौरभ अतीत के श्यामल पथ को पार कर हमारे पास तक पहुँच रहा है।

भूषण

भूषण तिकवांपुर (जि० कानपुर) के निवासी थे। इनकी जन्म तिथि सं० १६७० वि० के लगभग मानी जाती है। इनका वास्तविक नाम अज्ञात है। चित्रकूट के सोलंकी राजा रुद्र ने इन्हें कवि 'भूषण' की उपाधि दी थी। तभी से ये भूषण के नाम से प्रसिद्ध हुए। हिन्दी के अन्य शृङ्गारप्रिय कवियों की भाँति आश्रयदाताओं की खोज में यहाँ-वहाँ भटके थे। इनके आश्रय-दाताओं में रुद्र सोलंकी, छत्रसाल बुन्देला, संभा जी, साहू जी, राव बुद्धसिंह, अवधूतसिंह, मिरजा राजा जयसिंह, बाजीराव, दाराशाह उल्लेखनीय हैं। इनके लिखे हुए छः ग्रंथ कहे जाते हैं।

(१) शिवराज-भूषण, (२) शिवा-बावनी, (३) छात्रसाल दशक, (४) भूषण-हजारा, (५) भूषण-उल्लास, (६) दूषण-उल्लास।

'शिवराज-भूषण' में कवि ने अलंकारों की विवेचना की है। उसमें एक सौ नौ अलंकारों के लक्षण तथा उदाहरण हैं। उदाहरणों में शिवा जी के जीवन की घटनाओं तथा उनके प्रभुत्व एवं आतंक का वर्णन है। वीर-पूजा की इतनी उत्कट एवं अनन्य भावना हिन्दी रीति साहित्य में अन्यत्र दुर्लभ है :—

इंद्र जिमि जंभ पर, बाड़व सुअंभ पर,
रावन सदंभ पर रघुकुल राज है।
पौन वारिवाह पर, संभु रतिनाह पर,
ज्यों सहस्रबाहु पर राम द्विजराज है।
दावा द्रुम दंड पर, चीता मृग झुंड पर,
भूषण वितुंड पर जैसे मृग राज है।
तेज तम अंस पर; कान्ह जिमि कंस पर,
त्यों मलेच्छ बंस पर सेर सिवराज है॥

'शिवा बावनी' में शिवा जी की प्रशंसा संबन्धी ५२ छन्द संग्रहीत हैं। 'छत्रसाल दशक' में छत्रसाल की प्रशंसा दश छन्दों में है।

उदाहरण स्वरूप :—

इक हाड़ा बूँदी-धनी मरद महेवा-वाल,
सालत नौरंगजेब को ये दोनों छतसाल ॥१॥
वै देखो छत्ता पता ये देखो छतसाल,
वै दिल्ली की ढाल यै दिल्ली-ढाहन-वाल ॥२॥

अन्य ग्रन्थ अभी तक प्राप्त नहीं हो सके। इन ग्रन्थों के अतिरिक्त कवि के लगभग ६० पद और उपलब्ध हुए हैं। इन ६० पदों में ३२ शिवाजी के प्रशंसा-संबन्धी, १२ शृङ्गार रस सम्बन्धी हैं। शेष १६ पदों का संबन्ध विविध व्यक्तियों से है।

भूषण शृङ्गारकाल के अति शृङ्गारिक वातावरण में उत्पन्न होकर भी वीर रस के कवि थे। इनके वीर रस को हम प्रधानतया युद्ध वीर के अन्तर्गत ही रखेंगे। धर्मवीर, दानवीर और दयावीर के उदाहरण भी इस ग्रंथ में कहीं-कहीं प्राप्त हो जाते हैं।

दानवीर :—

साहितनै सरजा की कीरति सों चारों ओर,
चाँदनी बितान छिति छोर छाइयतु है।
भूषन भनत ऐसो भूप भौंसिला है,
जाके द्वार भिक्षुक सदाई भाइयतु है।
महादानि सिवाजी खुमान या जहान पर,
दान के प्रमान जाके यों गनाइतु है।
रजत की हौंस किये हेम पाइयतु जासों,
हयन की हौंस किये हाथी पाइयतु है॥

धर्मवीर :—

वेद राखे त्रिदित पुरान राखे सार युत,
राम नाम राख्यो अति रसना सुघर मैं।
हिंदुन की चोटी रोटी राखी है सिपाहिन की,
काँधे में जनेऊ राख्यो, माला राखी गर में।
मीड़ि राखे मुगल मरोड़ि राखे पातसाह,
बैरी पीस राखे बरदान राख्यो कर मैं।
राजन की हद्द राखी तेग बल सिवराज,
देव राखे देवल सवधर्म राख्यो घर में॥

दयावीर :—

जाहि पास जात सो तौ राखि न सकत याते,
तेरे पास अचल सुप्रीत नाधियतु है।
भूषन भनत सिवराज तव कित्ति सम,
और की न कित्ति कहिबे को काँधियतु है।
इन्द्र कौ अनुज तैं उपेंद्र अवतार यातै,
तेरो बाहुबल लै सलाह साधियतु है।
पायतर आय नित निडर बसायवे को,
कोट बाँधियतु मानो पाग बाँधियतु है॥

भूषण की कविता आधुनिक दृष्टि से राष्ट्रीय नहीं कही जा सकती। वे भारत राष्ट्र के लिए नहीं, हिन्दू जाति के उत्थान के लिए अपनी प्रतिभा का प्रयोग करते हैं। उस काल में 'राष्ट्रीयता' जैसी भावना का अभाव भी था। भूषण की भाषा मिश्रित है; परन्तु उसमें भाव-व्यंजना की अपार शक्ति है।

हिन्दी का एकमात्र वीर रस मूलक अलंकार का लक्षण ग्रंथ 'शिवराज भूषण' कला-काव्य का भूषण है।

कालिदास त्रिवेदी

ये अन्तर्वेद के निवासी थे। इनके लिखे हुए निम्न ग्रंथ मिलते हैं :—

(१) वरवधू-विनोद, (२) जंजीराबन्द, (३) राधा-माधव-बुध मिलन-विनोद।

इन ग्रन्थों में 'वरवधू-विनोद' नायिकाभेद और नख-शिख की पुस्तक है। रचनाओं के अतिरिक्त इन्होंने सं० १४८१ से लेकर सं० १७७६ तक के २१२ कवियों के एक हजार पद्यों का संग्रह किया है जो 'कालिदास हजारा' के नाम से प्रसिद्ध है। हिन्दी साहित्य के इतिहास लेखकों के लिए यह ग्रन्थ उपयोगी है।

उदाहरण :—

चूमौ करकंज मंजु अनूप तेरो,
रूप के निधान, कान्ह ! मो तन निहारि दै।
कालिदास कहै मेरे पास हरै हेरि हेरि,
माथे धरि मुकुट, लकुट कर डारि दै।
कुंवर कन्हैया मुखचन्द्र की जुन्हैया चारु,
लोचन चकोरन की प्यासन निवारि दै।
मेरे कर मेंहदी लगी है नन्दलाल प्यारे,
लट उरझी है नकवेसरि सँभारि दै॥

देव

शृङ्गार काव्य के उत्कृष्ट कवि देव का जन्म सं० १७३० वि० में इटावा में हुआ था। ये जाति के कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे। इनके माता-पिता के विषय में विस्तृत परिचय नहीं मिलता। ये औरंगजेब के तृतीय पुत्र आजमशाह के राज्याश्रय में थे। १६ वर्ष की अवस्था में इन्होंने 'भाव-विलास' और 'अष्टयाम' की रचना की। गुणग्राहक आजमशाह ने उन्हें सुना और सराहा। संवत् १७६४ वि० में राजनीतिक षड्यन्त्रों में पड़कर आजमशाह मारा गया और उस समय दिल्ली के वैभवशाली दरबार से नाता टूट जाने के कारण ये जहाँ-तहाँ भटकने लगे। इनका यह भटकना भी हिन्दी साहित्य का सौभाग्य बन गया। इन्होंने भारत के भिन्न-भिन्न प्रदेशों और नगरों का निरीक्षण किया और वहाँ के निवासियों की वेष-भूषा तथा रहन-सहन को भलीभाँति देखकर इन्होंने 'जाति-विलास'

की रचना की। दिल्ली दरबार से अलग होकर ये किसी अन्य सुयोग्य गुण-ग्राही आश्रयदाता की खोज में रहे। अन्त में इन्हें भवानी दत्त वैश्य का आश्रय मिला और उन्हीं के नाम पर इन्होंने 'भवानी विलास' नामक ग्रन्थ की रचना की। किन्तु अदृष्ट ने अभी तक देव के जीवन में शांति और स्थिरता न आने दी। किन्हीं कारणों से भवानीदत्त वैश्य का आश्रय भी इन्हें छोड़ना पड़ा और ये कुशलसिंह के यहाँ गए। यहीं पर इन्होंने कुशलसिंह के नाम पर 'कुशल विलास' नामक ग्रन्थ बनाया। उसके पश्चात् इन्हें राजा द्वैतसिंह का आश्रय मिला। इनके नाम पर इन्होंने 'प्रेम-चन्द्रिका' की रचना की। विशेष बात यह है कि देव ने अपने आश्रयदाताओं का नामोल्लेख तो किया है परन्तु उनकी प्रशंसा में भूषण की शैली की भाँति छन्द नहीं कहे। अपने आश्रयदाताओं के प्रति कवि की यह उदासीनता हिन्दी श्रृङ्गार-कालीन साहित्य में पर्याप्त महत्वपूर्ण है। सं० १७८३ में देव को राजा भोगी लाल का आश्रय प्राप्त हुआ। इनके नाम पर कवि ने 'रस विलास' नामक ग्रन्थ रचा। उसमें इन्होंने अपने आश्रयदाता की कुछ प्रशंसा की है। सौभाग्य की यह कड़ी भी निर्बल थी। राजा भोगी लाल को भी आश्रय कवि को छोड़ना पड़ा। उसके पश्चात् देव ने 'शब्द-रसायन' की रचना की। बहुत दिनों तक देव को कोई आश्रयदाता नहीं मिला परन्तु इसके अभाव में कवि ने काव्य-रचना में कोई शिथिलता नहीं आने दी। अन्त में, उन्हें पिहानी निवासी अकबर अलीखाँ का आश्रय प्राप्त हुआ और इन्होंने तब तक बनाई हुई सारी काव्य-रचना 'सुख सागर तरंग' संग्रह नाम देकर अपने इसी अंतिम आश्रय-दाता को समर्पित कर दी।

कहा जाता है कि देव ने ७२ ग्रन्थों की रचना की परन्तु इनकी प्राप्त रचनाओं की संख्या लगभग ३० है:—

'भाव-विलास', 'अष्ट-याम', 'भवानी-विलास', 'सुजान-विनोद', 'राग-रत्नाकर', 'प्रेम-चन्द्रिका', 'रस-विलास', 'सुख-सागर-तरंग', 'जगद्दर्शन-पचीसी', 'आत्मदर्शन-पचीसी', तत्त्वदर्शन-पचीसी', 'प्रेम-पचीसी', 'श्रृङ्गार-विलासिनी', 'प्रेम-तरंग', 'कुशल-विलास', 'देव-चरित्र', 'जाति-विलास', 'शब्द-रसायन',

'देवमाया-प्रपंच-नाटक', 'वृत्त-विलास', 'पावस-विलास', 'रसानन्द-लहरी', 'प्रेम-दीपिका', 'सुमिल-विनोद', 'राधिका-विलास', 'नख-शिख', 'प्रेम-दर्शन', 'नीति-शतक', और 'वैद्यक-ग्रन्थ'।

'भाव-विलास' में काव्य के विविध अंगों पर प्रकाश डाला गया है। इस में ६ प्रकार के भावों और ३४ प्रकार के संचारी भावों का उल्लेख है। देव ने दो प्रकार के रसों की कल्पना की है—लौकिक तथा अलौकिक। अलौकिक रसों को तीन भागों में विभक्त किया है :—

(१) स्वप्न, (२) मनोरथ और (३) उपनायक।

लौकिक रसों को परम्परागत नौ भेदों में विभक्त किया है।

देव ने कुल ३९ अलंकार माने हैं। पता नहीं १०८ अलंकारों के स्थान पर ३९ अलंकार मानने में देव का कौन सा सिद्धान्त था। 'अष्टयाम' में अनवरत चलने वाले विलास की दिनचर्या है। 'भवानी-विलास' में रसों की विशद व्याख्या है। 'सुजान-विनोद' नायिकाभेद का ग्रंथ है। 'देव-चरित्र' का विषय पौराणिक है। इसमें कंसवध का विशेष लंबा वर्णन है। 'प्रेम-चन्द्रिका' में श्रृङ्गार रस का रसराजत्व प्रतिपादित किया गया है। 'जाति-विलास' में भारतवर्ष के विभिन्न प्रदेशों की विभिन्न जाति की स्त्रियों का वर्णन है। 'राग-रत्नाकर' संगीत ग्रन्थ है। 'रस-विलास' में श्रृङ्गार से परिपूर्ण कामिनी का सुन्दर वर्णन किया गया है। 'शब्द-रसायन' में देव आचार्य रूप में हमारे सामने आते हैं। इसमें 'शब्द शक्ति' पर विचार किया गया है और साहित्य-शास्त्र की मार्मिक एवं गम्भीर विवेचना की गई है। 'सुख-सागर-तरंग' में नायिका-भेद तथा ऋतु-वर्णन है। 'देव-माया-प्रपंच' नाटक में धर्म तथा माया के संग्राम का वर्णन है और जी खोल कर माया की महिमा गाई गई है। 'प्रेम-तरंग' में नायिकाभेद है। 'दर्शन पचीसी', 'आत्म-दर्शन-पचीसी' 'तत्त्व-दर्शन-पचीसी' का विषय उनके नामों से ही स्पष्ट है।

देव ने श्रृङ्गारमयी रचना अधिक की है। प्रेम की सुकुमार अवस्थाएँ, मार्मिक अनुभूतियाँ, रस-जनित आनन्द एवं मधुरता का अत्यन्त मनोरम चित्रण देव की कविता में मिलता है। कवि काव्यशास्त्र के साथ-साथ संगीत

शास्त्र का भी अच्छा ज्ञाता था। इसी कारण उसकी कविता में शब्दों की योजना अत्यन्त सुथरी एवं कोमल संगीतमय है। जीवन के अन्तिम दिनों में इनका ध्यान भगवद्भक्ति की ओर चला गया ज्ञात होता है। जिस 'देव' ने एक दिन लिखा था—

सखी के सकोच, गुरु सोच, मृगलोचनि,
रिसानी पिय सों जु उन नेकु हँसि छुयो गात।
'देव' वै सुभाय मुसकाय उठि गये, यहिं,
सिसकि सिसकि निसि खोई, रोय पायो प्रात।
को जाने री बीर, बिनु बिरही बिरह बिथा,
हाय हाय करि पछिताय न कछू सोहात।
बड़े-बड़े नैनन सों आँसू भरि भरि ढरि,
गोरो गोरो मुख आजु ओरो सो बिलानो जात॥

वही अन्त में लिखते हैं—

बरुनी बघंबर मैं गूदरी पलक दोऊ,
कोये राते बसन भगोहैं भेख रखियाँ।
बूड़ी जल ही में दिन जामिनि हू जागैं भौहें,
धूम सिर छायो बिरहानल बिलखियाँ।
आँसू ज्यों फटिक माल लाल डोरे सेल्ही पैन्हि,
भई हैं अकेली तजि चेली संग सखियाँ।
दीजिये दरस 'देव' कीजिये संजोगिनि ये,
जोगिन ह्वै बैठी हैं वियोगिनि की अँखियाँ॥

शब्दों को अर्थ की मिठास में डुबा कर एवं व्यंजना के मनोमोहक रंगों में रँग कर देव ने हिन्दी कविता को कला की चरमस्थिति तक पहुँचा दिया है।

देव की रचनाओं में प्रधानतः शृङ्गारिक दार्शनिक और आचार्य पक्ष है। शृङ्गारिक पक्ष में स्वकीया प्रेम को श्रेष्ठता दी है; परकीया गौण है। नायक और नायिका का चित्रण लौकिक धरातल पर ही पल्लवित हुआ है। उद्दीपन रूप में प्रकृति चित्रण है। दार्शनिक पक्ष में वैराग्य भावना प्रधान है। कृष्ण-

विरह में गोपी ऊधव संवाद है। इसके अतिरिक्त अन्य देवी और देवता सम्बन्धी पद भी देव की रचना में मिलते हैं। दार्शनिक तत्व निरूपण में माया और ब्रह्म की व्याख्या है—

'केतिक विरंच्यो, महासुखन को संच्यो जहाँ
बंच्यो ब्रजभूप सोई परब्रह्म रूप है।'

आचार्यत्व पक्ष निरूपण में देव ने रसों को और विशेषतः शृङ्गार को रसराज मान कर रस निरूपण किया है। संचारी भावों के वर्णन में उक्ति वैचित्र्य प्रमुख है। नायिका-भेद कर्म, काल, गुण, वयःक्रम, दशा और जाति के अनुसार है। अलंकार में प्रमुख उपमा और स्वभाव है।

देव की भाषा साहित्यिक ब्रज भाषा है। संस्कृत का ज्ञान न होने से इनकी भाषा सदोष है। विविध छन्दों में, अलंकार रचित ब्रजभाषा का जितना कलात्मक रूप देव की कविता में मिलता है उतना अन्यत्र पाना दुर्लभ है।

श्रीपति

ये कालपी के रहने वाले कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे। इनके लिखे हुये निम्न ग्रन्थ हैं—

(१) कवि-कल्पद्रुम, (२) काव्य-सरोज, (३) सरोज-कलिका, (४) रस-सागर, (५) अलंकार-गंगा, (६) अनुप्रास-विनोद, (७) विक्रम-विलास।

इन ग्रंथों में कवि ने काव्यशास्त्र के सभी विषयों की विशद विवेचना की है। बादलों का कितना सुन्दर वर्णन कवि ने किया है—

जल भरै झूमैं मानों भूमै परसत आय,
दसहूँ दिसान घूमैं दामिनि लये लये।
धूरिधार धूमरे से धूम से धुँधारे कारे,
धुरवान धारे धावैं छवि सों छये छये।
श्रीपति सुकवि कहै घेरि घेरि घहराहिं,
तकत अतन तक ताव ते तये तये।
लाल बिनु कैसे लाज चादर रहैगी आज
कादर करत मोहिं बादर नये नये॥

काव्यगत दोषों का निरूपण करते हुये श्रीपति ने उदाहरणों में केशवदास के बहुत से पद्य रखे हैं। इनका आचार्यत्व अत्यन्त उच्च कोटि का है। भिखारीदास, जिनका वर्णन आगे किया जायेगा, इनके अत्यधिक ऋणी हैं।

अली मुहीबखाँ (प्रतिम)—रीतिकाव्य की परंपरा के विरुद्ध १७८७ वि० में इन्होंने हास्य को आलंबन रूप में रखकर 'खटमलबाईसी' नाम की एक पुस्तक लिखी। इनका यही महत्त्व है।

भिखारीदास—ये प्रतापगढ़ के निकट ट्योंगा गाँव के रहने वाले श्रीवास्तव कायस्थ थे। इनके लिखे हुये निम्नलिखित ग्रंथ हैं :—

(१) रस-सारांश, (२) छन्दार्णव-पिंगल, (३) काव्य-निर्णय, (४) शृङ्गार-निर्णय, (५) नाम-प्रकाश, (६) विष्णु-पुराण भाषा, (७) छन्द-प्रकाश, (८) शतरंज-शतिका, (९) अमर-प्रकाश।

इन ग्रंथों में 'काव्य-निर्णय' सबसे अधिक प्रसिद्ध है। छन्द, रस, अलंकार, रीति, गुण-दोष, शब्द-शक्ति आदि सभी काव्यांगों की जैसी विस्तृत विवेचना भिखारी दास ने की है वैसी किसी अन्य कवि ने नहीं। इसी कारण हिन्दी रीति-काव्य में इनका स्थान अत्यन्त ऊँचा है। परन्तु इनके लक्षण कहीं-कहीं भ्रामक हैं और उदाहरण अशुद्ध।

कविता की दृष्टि से ये एक सफल कवि थे। व्यंजना पर इनका पूरा अधिकार था। जिस बात को जिस शैली में ये कहना चाहते थे, उस बात को अद्वितीय ढङ्ग से कह सकते थे। न ये शब्द चमत्कार के पीछे दौड़े और न कल्पना के पीछे ही मतवाले हुये। इन्होंने हिन्दी रीति-काव्य के कृष्ण और राधा के विषय में हमें बतलाया है कि :—

आगे के सुकवि रीझि हैं तौ कविताई
न तो राधिका कन्हाई सुमिरनि को बहानो है॥
ऊधो! तहाँ ई चलौ लै हमें जहँ कूकर कान्ह बसै एक ठोरी।
देखिये दास अघाय अघाय तिहारे प्रसाद मनोहर जोरी॥

कूबरी सों कछु पाइये मंत्र, लगाइये कान्ह सो प्रीति की डोरी।
कूबरि-भक्ति बढ़ाइए बन्दि, चढ़ाइये चंदन वंदन रोरी ॥

रसलीन—ये बिलग्राम (जि० हरदोई) के रहने वाले थे और इनका पूरा नाम सैय्यद गुलाम नबी था। इन्होंने निम्नलिखित ग्रन्थों की रचना की—

(१) अंग-दर्पण, (२) रस-प्रबोध।

'अंग-दर्पण' में अंगों का चमत्कारपूर्ण ढंग से वर्णन है। आँखों के विषय में यह प्रसिद्ध दोहा इन्हीं का बनाया हुआ है :—

अमी, हलाहल मद भरे, स्वेत, स्याम, रतनार।
जियत, मरत, झुकि झुकि परति, जेहि चितवत इक बार ॥

'रस-प्रबोध' में रस, भाव, नायिकाभेद, षट्-ऋतु और बारहमासा आदि अनेक प्रसंगों की विवेचना है।

रघुनाथ

ये काशीराज महाराज बरिवंडसिंह की सभा के एक रत्न थे। काशीराज नरेश ने इनकी प्रतिभा से प्रभावित होकर इन्हें चौरा नामक एक गाँव दिया था। इनके लिखे चार ग्रंथ हैं :—

(१) काव्य-कलाधर, (२) रसिक-मोहन, (३) जगत-मोहन और (४) इश्क-महोत्सव।

'रसिक मोहन' में अलंकारों की विवेचना है और 'काव्य-कलाधर' में रस तथा नायक-नायिका-भेद है। 'इश्क-महोत्सव' में खड़ी बोली की कविता है।

दूलह—ये कालिदास के पौत्र थे। इनका बनाया हुआ एक ही ग्रंथ मिला है—'कविकुल-कंठाभरण।'

इस ग्रन्थ में अलंकार का विवेचन है और एक ही छन्द में लक्षण एवं उदाहरणों का कथन है। कवित्त और सवैया जैसे बड़े छन्द लेने के कारण इन्हें लक्षण एवं उदाहरण दोनों के सम्यक कथन के लिए पर्याप्त अवसर

मिला है। इनकी काव्य-प्रतिभा के विषय में निम्नलिखित उक्ति अत्यधिक प्रसिद्ध है :—

"और बराती सकल कवि, दूलह दूलह राय ।"

परन्तु किसी अनुप्रास प्रेमी को यह उक्ति चमत्कार युक्त भले ही हो, तथ्य-युक्त नहीं है। हिन्दी के भंडार में सूर और तुलसी जैसे रत्नों के रहते हुए यह नहीं कहा जा सकता कि दूलह उनसे ऊँचे कवि थे।

बेनी बन्दीजन—ये बैंती (जि०रायबरेली) के रहने वाले थे। इनके लिखे हुए निम्न ग्रंथ हमें मिलते हैं :—

(१) टिकैतराय-प्रकाश, (२) रस-विलास, (३) भँड़ौवा-संग्रह ।

'टिकैतराय-प्रकाश' अलकार ग्रन्थ है। और 'रस-विलास' में रसों का निरूपण किया गया है। परन्तु इनकी प्रसिद्धि 'भँड़ौवा' के कारण अधिक है। औरंगज़ेब ने एक हथिनी किसी कवि को दी थी। उस पर बेनी ने एक छन्द लिखा है :—

तिमिरलंग लइ मोल, चली बाबर के हलके।
रही हुमायूँ संग फेरि अकबर के दल के ॥
जहाँगीर जस लियौ, पीठि को भार हटायौ।
शाहजहाँ करि न्याव, ताहि पुनि माँड़ चटायौ ॥
बल रहित भई पौरुष थक्यो, भगी फिरत बन स्यार डर।
औरंगज़ेब करिनी सोई लै दीन्हीं कविराज कर ॥

बेनी प्रवीन—ये लखनऊ के निवासी थे। इनके लिखे निम्न ग्रन्थ प्राप्त होते हैं—

(१) नवरस-तरंग, (२) शृङ्गार-भूषण, (३) नानारावप्रकाश ।

'नवरस-तरंग' में नायिकाभेद, रसभेद और भावभेद की संक्षिप्त विवेचना है। शृंगार-भूषण' में शृंगारिक छन्दों का संग्रह और नानाराव प्रकाश

में केशव की 'कवि-प्रिया' की शैली पर अलंकारों की विवेचना है। काव्य के दृष्टिकोण से ये कहीं-कहीं पद्माकर और मतिराम के सन्निकट पहुँच जाते हैं।

पद्माकर

पद्माकर तैलंग ब्राह्मण थे। इनके पिता का नाम मोहनलाल भट्ट था। सं० १८१० वि० में मध्य प्रान्त के सागर नामक स्थान में इनका जन्म हुआ था। इनके पिता भी कवि थे और कवि से भी अधिक उनकी प्रसिद्धि अनुष्ठानों और मन्त्रसिद्धि के सम्बन्ध में थी। इसी कारण राजदरबारों तक इनकी पहुँच थी। किन्तु काव्य-रचना में तो इनका सारा परिवार ही रुचि रखता था। और इसी कारण इनके वंश का नाम 'कवीश्वरवंश' पड़ा। पद्माकर के वंशज आज तक थोड़ी बहुत कविता करते हैं और अपने को 'कवीश्वर' लिखते हैं।

पद्माकर ने काव्य-क्षेत्र में विशेष ख्याति अर्जित की। उन्होंने तत्कालीन सागर नरेश अप्पासाहब की प्रशंसा में निम्नलिखित छन्द लिखकर सुनाया था :—

संपति सुमेर की कुबेर की जु पावै, ताहि
तुरत लुटावत बिलंब उर धारै ना।
कहै पद्माकर सुहेम हय हाथिन के
हलके हजारन के बितरि बिचारै ना॥
गंज गज बकस महीप रघुनाथ राव,
याही गज धोखे कहूँ काहू देइ डारै ना।
याही डर गिरिजा गजानन को गोइ रही,
गिरि तें गरे तें निज गोद तें उतारै ना॥

कहा जाता है कि इस छन्द पर मुग्ध हो कर श्री रघुनाथ राव ने एक लाख मुद्रा पद्माकर को पुरस्कार के रूप में प्रदान की थी। आज भी यह कवित्त पद्माकर के वंशजों में "लाखिया" के नाम से प्रसिद्ध है।

इनका स्वभाव अत्यन्त स्वच्छन्द था। इसी कारण इनकी अप्पा साहब से शायद अनबन हो गई और ये अपने मूल निवास-स्थान बांदा चले गए। वीर अर्जुनसिंह से भी इनका कुछ सम्बन्ध था। कहा जाता है कि "अर्जुन-रायसा" नामक वीर-काव्य इन्होंने उन्हीं की प्रशंसा में लिखा था। इसके पश्चात् ये दतिया के महाराज के दरबार में गए और वहाँ पर निम्नलिखित छन्द प्रशस्ति के रूप में सुनाया :—

जप तप कै चुको लै चुको सफल सिद्धि,
दै चुको चुनौती चित्त चिंतन के नाम को।
कहै पद्माकर महेश मुख जोइ चुको,
ढोइ चुको सुखद सुमेरु अभिराम को॥
भूपमनि पारीक्षत रावरो सुजस गाइ,
लाइ चुको इन्दरा उमंग निज धाम को।
ध्याइ चुको धनद कमाइ चुको कामतरु
पाय चुको पारस रिझाय चुको राम को॥

कहा जाता है कि पद्माकर को इस कवित्त पर जागीर मिली थी। दतिया से होकर यह रजधान के हिम्मत बहादुर के यहाँ गए और उनकी प्रशंसा में 'हिम्मत बहादुर विरुदावली' नाम का वीर-काव्य लिखा। वहाँ से ये सितारे में श्री राघोबा के दरबार में पहुँचे। इनकी प्रतिभा से प्रभावित होकर राघोबा ने इन्हें एक लाख रुपया और दस गाँव दिए। सितारे से ये फिर सागर के रघुनाथ राव के दरबार में गए और वहाँ से लौट कर बांदा आए। बांदे से जयपुर के सवाई महाराजा प्रतापसिंह के यहाँ गए और उन की मृत्यु हो जाने पर फिर बांदे लौट आए। उसके पश्चात् ये जयपुर गए और महाराजा जगतसिंह के दरबार में रहे। महाराजा जगतसिंह को तीतर-बटेर की लड़ाई में अत्यन्त रुचि थी। पद्माकर ने उसका भी वर्णन अत्यन्त उत्साह के साथ किया है। जयपुर से यह महाराणा भीमसेन के दरबार में उदयपुर गए। इसके अनन्तर इन्होंने तत्कालीन ग्वालियर नरेश दौलतराव सिंधिया के दरबार की शोभा बढ़ाई।

जयपुर में इनके शरीर में श्वेत कुष्ट हो गया था। कालान्तर में अत्यधिक उपचार के बाद वह अच्छा तो हो गया परन्तु हिन्दी साहित्य के भाग्य में इस अत्यधिक प्रतिभावान कवि की और अधिक सेवायें नहीं लिखी थीं। कानपुर में सं० १८६० वि० में पद्माकर का देहावसान हो गया।

पद्माकर प्रतिभावान होने के कारण अत्यन्त स्वछन्द स्वभाव के थे और इसीलिए इन्हें सारे जन्म भटकना ही पड़ा। जयपुर में इन्हें कुछ दिनों तक शान्ति का जीवन मिला। इस समय ये राजसी वैभव में रहते थे। यात्रा के लिए ये बड़े लाव-लशकर के साथ निकलते थे। एक बार जयपुर से बांदा जाते समय इनके-लाव-लशकर को देखकर किसी नरेश को भ्रम हुआ कि हमारे ऊपर कोई नरेश चढ़ाई करने आ रहा है। पद्माकर ने उनका भ्रम निम्नलिखित छन्द सुनाकर दूर किया :—

सूरत के साह कहैं, कोऊ नरनाह कहैं,
कोऊ कहैं ये मालिक मुलुक दराज के।
राव कहै कोऊ उमराव पुनि कोऊ कहै,
कोऊ कहै ये साहब सुखद समाज के॥
देख असबाब मेरे भरमे नरेन्द्र सबै,
तिन सों कहे मैं बैन सत्य सिरताज के।
नाम पद्माकर डराउ मत कोऊ भैया,
हम कविराज हैं प्रताप महाराज के॥

इनके लिखे ग्रन्थों में इनकी निम्नलिखित कृतियाँ प्रमुख हैं :—

(१) हिम्मत बहादुर-विरुदावली, (२) पद्माभरण, (३) जगतविनोद, (४) प्रबोध-पचासा, (५) गंगालहरी, (६) राम-रसायन, (७) आली-जाह-प्रकाश।

इन ग्रंथों में 'हिम्मत बहादुर विरुदावली' एक प्रबन्ध-काव्य है। इसमें हिम्मत बहादुर और अर्जुनसिंह के बीच हुए एक युद्ध का वर्णन है। युद्ध के वर्णन में कवि ने कथानायक की प्रशंसा अत्युक्ति और अतिशयोक्ति के

सहारे की है। वर्णनों में सांगोपांगता और मार्मिकता का अभाव है। 'हिम्मत बहादुर-विरुदावली' में हमें ऐसा कोई गुण नहीं मिलताजो पद्माकर की अन्य सरस रचनाओं के समकक्ष रखा जा सके।

'पद्माभरण' में अलंकारों की विवेचना है। इसमें संस्कृत के चंद्रालोक का सहारा लेकर अलंकारों के लक्षण लिखे गए हैं और उदाहरणों में भी उसी से सहायता ली गई है, परन्तु अधिकतर उदाहरण मौलिक ही हैं। ऐसा ज्ञात होता है कि पद्माकर ने अपना यह ग्रन्थ बैरीसाल के 'भाषाभरण' नामक रीतिग्रन्थ को देख कर बनाया था। प्रारम्भ ही में इनका यह ग्रन्थ भाषाभरण के अनुकरण में लिखा गया ज्ञात होता है :—

कहुँ पद तैं कहुँ अर्थ तें कहूँ दुहूँ तें जोइ,
अभिप्राय जैसो जहाँ अलंकार तेऊ होइ।
अलंकार तेहि ठौर में जो अनेक दरसाइ,
अभिप्राय कवि को जहाँ सो प्रधान तिनमाइ॥

भाषाभरण

सब्दहुँ ते कहुँ अर्थ तें कहुँ दोउ तें उर आनि,
अभिप्राय जेहि भाँति जहँ अलंकार सो मानि।
अलंकार इक थलै में समभ-परै जु अनेक,
अभिप्राय कवि को जहाँ वहै मुख्य गत एक॥

पद्माभरण

इन छन्दों की तुलना करने से हमें पद्माभरण पर भाषाभरण का ऋण ज्ञात हो जाता है।

पद्माकर अपने 'जगद्विनोद' में किसी विशेष पुस्तक के कृतज्ञ नहीं हैं। हिन्दी की रूढ़िगत परंपरा का पालन पद्माकर ने नायक-नायिका भेद में अवश्य किया है।

पद्माकर की भक्ति-विषयक कविता के मूल में संसार की जटिलताओं और कवि की अपनी विकट परिस्थितियों की करुणकथा है। कहीं क्षुधा की

ज्वाला से झुलसे व्यक्तियों के चित्र हैं तो कहीं चिर-अतृप्त सांसारिक तृष्णा का और वैर का वर्णन है । 'गंगा लहरी' पंडितराज जगन्नाथ की संस्कृत भाषा में लिखी 'गंगालहरी' के आदर्श पर लिखी गई है। किंतु पद्माकर ने अपनी अनुभूति का चित्रण मौलिक ढंग से किया है। इनकी गंगालहरी इतनी अधिक लोकप्रिय हुई कि कवि ग्वाल ने उसी के अनुकरण पर 'यमुना लहरी' लिखी और कवि लछिराम ने 'सरयू लहरी'। ये दोनों ग्रंथ पद्माकर की रचना से ही अनुप्राणित हुए हैं। पद्माकर की भाषा अत्यन्त परिष्कृत है। शुद्ध वर्णनात्मक प्रसंगों में ये अनुप्रासों से भाषा का बड़ा आकर्षक शृंगार करते हैं और शब्द-ध्वनि से ही अर्थ का संकेत करते हैं। रस-निरूपण में शब्द-योजना की अपेक्षा ध्वनियों की कोमलता तथा भाषा की शास्त्रीयता प्रधान गुण हो गया है। प्रवाह एवं स्वच्छन्द वाग्विलास इनकी प्रौढ़ भाषा के आभूषण हैं।

ग्वाल कवि—ये मथुरा निवासी सेवा राम के पुत्र थे। इन्होंने निम्न-लिखित ग्रंथों की रचना सं० १८७६ से १९१८ तक की :—

(१) यमुना-लहरी, (२) रसिकानन्द, (३) रस-रंग, (४) कृष्ण जू को नख-शिख, (५) दूषण-दर्पण, (६) हमीर-हठ, (७) गोपी-पचीसी (८) राधा-माधव-मिलन, (९) राधा-अष्टक, (१०) कवि-हृदय-विनोद, (११) भक्त-भावना।

'यमुना-लहरी' में यमुना की विशेषताओं की विवेचना के साथ-साथ नवरस और षट्-ऋतु का निरूपण भी है।

मोरन के सोरन की नेकौ न मरोर रही,
घोर हू रही न घन घने या करद की।
अंबर अमल, सर सरिता विमल भल,
पंक को न अंक औ न उड़न गरद की॥
ग्वाल कवि चित्त में चकोरन के चैन भये,
पंथिन की दूर भई दूषन दरद की।
जल पर थल पर महल अचल पर,
चाँदी सी चमक रही चाँदनी सरद की॥

'रसिकानन्द' में अलंकारों की विवेचना है। इन्होंने ठेठ पूर्वी हिंदी, गुजराती तथा पंजाबी भाषा में भी कुछ कवित्त सवैये लिखे। चलती हुई किन्तु व्यवस्थित भाषा का इन्होंने प्रयोग किया। अपनी भाषा की सरसता के कारण ही ये विशेष लोकप्रिय हुये।

प्रताप साहि—ये रत्नेश बंदीजन के पुत्र थे और महाराज विक्रम शाहि के यहाँ रहते थे। इनकी लिखी निम्न रचनाएँ प्राप्त हैं :—

(१) व्यंग्यार्थ-कौमुदी, (२) जैसिंह-प्रकाश, (३) काव्य-विलास, (४) शृङ्गार-मंजरी, (५) शृङ्गार-शिरोमणि, (६) अलंकार-चिन्तामणि, (७) काव्य-विनोद, (८) रसराज की टीका, (९) रत्नचन्द्रिका, (१०) जुगल-नखशिख, (११) बलभद्र नखशिख की टीका।

सं० १८८० से सं० १९०० वि० तक उन्होंने इन ग्रंथों की रचना की। इस सूची में कुछ तो इनकी मौलिक कृतियाँ हैं और कुछ टीकाएँ। मौलिक कृतियों के शीर्षक ही इस बात के द्योतक हैं कि ये कितने बड़े आचार्य थे। व्यंजना पर इन्होंने एक अलग ग्रंथ लिखा था जिसका नाम 'व्यंग्यार्थकौमुदी' है। रस एवं नायिका-भेद का अद्भुत सम्मिश्रण इन्होंने किया है। कवित्व एवं आचार्यत्व दोनों को यदि एक साथ मिलाकर देखा जाय तो ये मतिराम, भिखारीदास से श्रेष्ठ हैं।

रीतिकाव्य की पृष्ठभूमि में यह स्पष्ट किया जा चुका है कि कृष्णभक्ति-काव्य में रीति-ग्रन्थों की रचना के बीज मिलते हैं। विक्रम की १९वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में इसके उदाहरण में रसिक की रचनाएँ उपस्थित की जा सकती हैं। श्री रसिक गोविन्द निम्बार्क सम्प्रदाय में दीक्षित थे। इनकी निम्न लिखित रचनाएँ प्राप्त होती हैं।

रसिक गोविन्द

(१) रामायण-सूचनिका, (२) रसिक गोविंदानन्दघन, (३) लछिमन चंद्रिका, (४) अष्टदेश-भाषा, (५) पिंगल, (६) समय-प्रबन्ध, (७) कलियुग रासो, (८) रसिक-गोविंद, (९) युगल-रस माधुरी।

इन ग्रंथों में 'रसिक गोविंदानन्दघन' में रस नायक-नायिका भेद, अलंकार, गुण एवं दोष की विस्तृत विवेचना है। स्थान-स्थान पर संस्कृत के ग्रन्थ प्रमाणस्वरूप उद्धृत भी किये गए हैं। 'पिंगल' में पिंगल की विवेचना है और 'रसिक गोविन्द' भाषा-भूषण या चन्द्रालोक की शैली की एक छोटी सी पुस्तक है। शेष ग्रन्थों की विषय-वस्तु उनके शीर्षकों से ही स्पष्ट है।

सबलसिंह चौहान

ये इटावा के किसी गाँव के जमींदार थे। इन्होंने सारे महाभारत की कथा दोहा-चौपाई शैली में लिखी। इस ग्रन्थ के अतिरिक्त इनके तीन ग्रन्थ और भी मिलते हैं—(१) 'ऋतुसंहार' का भाषानुवाद, (२) रूपविलास और (३) पिंगल। परन्तु ये तीनों ग्रंथ काव्यात्मकता की अपेक्षाकृत कमी होने के कारण प्रसिद्ध न हो सके। सीधी सादी भाषा में सरल ढङ्ग से कथा कहने के कारण इनकी 'महाभारत' रचना ही प्रसिद्ध हो सकी।

वृन्द—ये मेवाड़ (जोधपुर) के रहने वाले थे। अपनी नीति-विषयक ७०० दोहों की सतसई के कारण इन्हें लोक-प्रियता प्राप्त हुई।

> भले बुरे सब एक सम जौ लौं बोलत नाहिं।
> जानि परत है काक पिक ऋतु बसंत के मांहिं॥
> हितहू की कहिये न तेंहि जो नर होत अबोध।
> ज्यों नकटे को आरसी होत दिखाये क्रोध॥

'शृङ्गारशिक्षा' तथा 'भावपंचाशिका' नामक इनकी दो पुस्तकें और प्राप्त हुई हैं परन्तु वे विशेष प्रसिद्ध नहीं हैं।

आलम—ये जाति के तो ब्राह्मण थे परन्तु शेख नाम की रंगरेजिन के प्रेम में पड़ कर मुसलमान हो गए थे। कहा जाता है कि एक बार आलम ने शेख को अपनी पगड़ी रंगने के लिये दी। इसकी खूँट में कागज में लिखी हुई एक दोहे की पंक्ति बँधी हुई चली गई :—

> "कनक छरी सी कामिनी काहे को कटि छीन।"

शेख ने इस पंक्ति के नीचे एक और पंक्ति लिख कर दोहे की पूर्ति कर दी—

"कटि को कंचन काटि बिधि, कुचन मध्य धरि दीन्ह।"

और कागज ज्यों का त्यों पगड़ी में बाँध कर लौटा दिया। आलम ने उसे पढ़ा और शेख की प्रतिभा से प्रभावित होकर उससे प्रेम बढ़ाया। शेख ने पता नहीं आलम की पगड़ी अच्छे-बुरे, कच्चे-पक्के कैसे रंग में रंगी थी परन्तु स्वयं आलम को उसने ऐसे रंग में रंग दिया जो अत्यधिक पक्का सिद्ध हुआ और आलम के जीवन पर से उसकी चटक मृत्यु पर्यन्त कम न हुई।

आलम की कविता में प्रेम की असीम तन्मयता के चित्र हैं। उसमें शृङ्गार का उन्माद है जो पाठक को भाव-विभोर कर देता है हृदय-तत्व की इतनी प्रधानता रसखान और घनानन्द में ही मिलती है।

गुरु गोविंद सिंह

ये सिक्खों के दसवें और अंतिम गुरु थे। इनका जन्म १७२३ वि० में और सत्यलोकवास १७६५ विक्रमी में हुआ। इन्होंने सिक्ख धर्मावलंबियों में शास्त्र-ज्ञान के प्रचार का उद्योग किया। ये शास्त्र-ज्ञान के साथ-साथ शस्त्र-ज्ञान को भी महत्व देते थे और आर्य संस्कृति की रक्षा के लिए समस्त जीवन उत्सर्ग करने को प्रस्तुत रहे। इनके लिखे हुए निम्नलिखित ग्रन्थ मिलते हैं:—

(१) सुनीति-प्रकाश, (२) चंडीचरित्र, (३) प्रेमसुमार्ग, (४) सर्वलोह-प्रकाश, (५) बुद्धिसागर।

ओज ही इनकी कविता का विशेष गुण था और भाषा प्रौढ़ साहित्यिक ब्रज थी।

गोरे लाल

ये मऊ (बुन्देलखण्ड) के रहने वाले थे। अपने आश्रयदाता महाराज छत्रसाल की गाथा इन्होंने 'छत्र प्रकाश' नामक ग्रंथ में लिखी। इस ग्रन्थ में सं० १७६४ तक की राजनीतिक परिस्थितियों का वर्णन है। संभवतः या तो लाल कवि का परलोकवास १७६४ में हो गया था या यह ग्रंथ अधूरा प्राप्त हुआ है। इस ग्रंथ का महत्त्व साहित्य की अपेक्षा ऐतिहासिक अधिक है। साहित्यिक दृष्टिकोण

से इसमें विशद वर्णन और ओजस्वी भाषण महत्त्वपूर्ण हैं। कथानक में प्रबन्ध-कौशल है जो दोहा-चौपाई शैली में घटित है। कवि उक्ति-चमत्कार के पीछे नहीं भटका। सरलता एवं स्वाभाविकता इस काव्य का विशेष गुण है। ऐतिहासिक दृष्टिकोण से छत्रसाल के व्यक्तित्व पर इस काव्य के द्वारा स्पष्ट प्रकाश पड़ता है।

छत्रसाल छाड़ा तहँ आयो। अरुन रंग आनन छवि छायो।
भयो हरौल बजाय नगारो। सार धार को पहिरन हारो।
दौरि देश मुगलन के मारौ। दपटि दिली के दल संहारौ।
एक आन सिवराज निवाही। करै आपने चित्त की चाही।
आठ पातसाही झकझोरे। सूबन पकरि दंड लै छोरै।
काटि कटक किरवान बल, बाँटि जम्बुकन देहु।
ठाटि युद्ध यहि रीति सों, बाँटि धरनि धर लेहु॥

लाल कवि का एक ग्रंथ और मिलता है उस का नाम है,'विष्णु-विलास' इसमें नायक-नायिका भेद है परन्तु वह महत्वहीन है।

घन आनन्द

घन आनन्द का जन्म संवत् १७४६ के लगभग हुआ था और उनकी मृत्यु सं० १७९६ में हुई। ये मुहम्मदशाह के मीर मुन्शी थे। मुहम्मदशाह के दरबार की 'सुजान' नामक वैश्या से ये अत्यधिक प्रेम करते थे। उसके प्रेम में निराश होने पर इन्हें संसार से वैराग्य हो गया। ये वृन्दावन में आकर निम्बार्क संप्रदाय में दीक्षित हो गए और पूर्ण विरक्त जीवन व्यतीत करने लगे। इनके लिखे निम्न ग्रन्थ मिलते हैं:—

(१) सुजान-सागर, (२) विरहलीला, (३) कोकसार, (४) कृपा-कांड (५) रसकेलिवल्ली।

घन आनन्द ने अत्यन्त प्रवाहमयी और मधुर ब्रजभाषा में सांसारिक प्रणय की जो निराशा और कृष्ण प्रेम की जो निर्मल आकांक्षा चित्रित की

है वह अनुभूति की तीव्रता के कारण अत्यन्त मर्मस्पर्शिणी है। इनकी अधिकांश कविताएँ लौकिक प्रेम की हैं, परन्तु सच तो यह है कि घन आनन्द के लिए लौकिक और अलौकिक प्रेम में अन्तर न था। उनके अनुसार विशुद्ध प्रेम सभी परिस्थितियों में मान्य है। प्रेम की इनकी गहरी अनुभूति विरले जनों को ही प्राप्त होती है। चुभती हुई वचन-वक्रता, चमत्कार पूर्ण विरोधाभास और नाद-व्यंजना इनके काव्य में विशेष मिलती हैं।

इनके लिखे ये दो सवैये बहुत प्रसिद्ध हैं :—

पर कारज देह को धारे फिरौ,
परजन्य ? जथारथ ह्वै दरसौ।
निधि नीर सुधा के समान करौ,
सब ही विधि सुन्दरता सरसौ॥
घन आनन्द जीवनदायक हौ,
कबौ मेटियौ पीर हिए परसौ।
कबहूँ वा बिसासी सुजान के,
आंगन मो अँसुवान को लै बरसौ॥

\+ \+ \+

अति सूधो सनेह को मारग है,
जहँ नैकु सयानप बांक नहीं।
तहँ सांचे चलें तजि आपनपौ,
झिझकैं कपटी जो निसांक नहीं।
घन आनन्द प्यारे सुजान सुनौ,
इत एक तैं दूसरो आंक नहीं।
तुम कौन सी पाटी पढ़े हौ लला,
मन लेहु पै देहु छटाँक नहीं॥

इनका नाम पृथ्वीसिंह था। बिहारी के अनुकरण पर इन्होंने 'रत्न हजारा' नामक दोहों का एक ग्रन्थ बनाया। ये शृङ्गार रस के कवि थे और इनकी

रसनिधि

कविता में बिहारी की वाग्धारा तथा फारसी की शृङ्गारिक उक्तियाँ विशेष मात्रा में मिलती हैं। इनकी कविता रसिकों के मर्म को स्पर्श करने वाली है और कवि के नाम को सार्थक करती हैं।

महाराज विश्वनाथसिंह

ये रीवां के नरेश थे। इन्होंने हिन्दी साहित्य की सेवा स्वयं कविता लिख कर तथा कवियों को आश्रय देकर—दोनों प्रकार से—की। इनकी रचनाओं की सूची निम्नलिखित हैः—

(१) अष्टयाम-आह्निक, (२) आनन्द-रघुनन्द नाटक, (३) उत्तम काव्यप्रकाश, (४) गीता-रघुनन्दन शतिका, (५) रामायण, (६) गीता-रघुनन्दन प्रमाणिका, (७) सर्वसंग्रह, (८) कबीर बीजक की टीका, (९) विनयपत्रिका, (१०) रामचन्द्र की सवारी, (११) भजन, (१२) पदार्थ, (१३) धनुर्विद्या, (१४) आनन्द-रामायण, (१५) परधर्म-निर्णय, (१६) शान्ति-शतक, (१७) वेदान्तपंचक शतिका, (१८) गीतावली पूर्वार्द्ध, (१९) ध्रुव अष्टक, (२०) उत्तम-नीतिचंद्रिका, (२१) अबोध-नीति, (२२) पाखड-खंडिनी, (२३) आदिमंगल, (२४) बसंत-चौंतीसी, (२५) चौरासी रमैनी, (२६) ककहरा, (२७) शब्द, (२८) विश्व-भोजन-प्रसाद, (२९) ध्यानमंजरी, (३०) विश्वानाथ-प्रकाश, (३१) परम-तत्व, (३२) संगीत रघुनन्दन।

इन ग्रन्थों के अतिरिक्त इन्होंने कुछ और ग्रन्थों की रचना की है। इनके पूर्वज कबीर पंथ के आदि प्रवर्त्तक धर्मदास के शिष्य थे। इनके 'ककहरा' 'रमैनी' आदि ग्रन्थ निर्गुण संत मत की परम्परा के द्योतक हैं परन्तु वैयक्तिक रूप से इनकी सगुण राम की उपासना प्रसिद्ध है। इन्होंने कबीर के बीजक की टीका करते हुए कबीर के निर्गुण ब्रह्म को सगुण राम प्रमाणित किया। इनका आनन्द रघुनन्दन हिन्दी का सर्वप्रथम नाटक है। इस कारण हिन्दी साहित्य के इतिहास में इनकी रचना स्मरणीय है।

इस नाम के कई कवि हिन्दी साहित्य में हुए हैं, परन्तु हमारा तात्पर्य सं० १७५६ वि० में उत्पन्न महाराज सावंतसिंह जी से है। पारिवारिक कलह से विरक्त होकर इन्होंने घर छोड़ वृन्दावन में निवास किया। इनकी लिखी हुई ७३ छोटी बड़ी पुस्तकें हैं परन्तु उनमें कुछ के आकार बहुत छोटे हैं और एक पुस्तक के विचार और भाव प्रायः दूसरी में दोहराये गए हैं। साहित्य की अपेक्षा भक्ति ही इनका चरम लक्ष्य था।

नागरी दास

ये गौड़ ब्राह्मण बालकृष्ण के पुत्र थे। इन्होंने सं० १८७५ वि० में 'हम्मीर रासो' नामक एक प्रबंध-काव्य की रचना की। काव्यात्मकता के पीछे चलने के कारण इसकी कथा कहीं-कहीं ऐतिहासिक इतिवृत्त से दूर हो गई है। वैसे इनकी रचना में ओज पर्याप्त मात्रा में है।

जोधराज

इनका जन्म सं० १७६५ वि० में हुआ था। ये राधावल्लभीय गोस्वामी हितरूप जी के शिष्य थे। कहा जाता है कि इन्होंने एक लाख पद बनाए थे परन्तु उन में बीस हजार के लगभग पद्य ही मिलते हैं परिमाण में इनकी अधिक रचना होने पर भी इनकी रचना शिथिल नहीं हो सकी।

हित वृन्दावन दास

इनका जन्म सं० १७७० माना गया है। इनके जीवन वृत्तांत के विषय में कुछ अधिक ज्ञात नहीं है। इनकी प्रसिद्धि नीति की कुण्डलियों के कारण है। सरल स्वाभाविक भाषा में जीवन के अनुभूति-तथ्यों की जो विशद व्यंजना इन्होंने की है वह और कवियों में कम मिलती है। जीवन के दिन प्रति-दिन के लोक-व्यवहार में इनकी कुण्डलियाँ पथ-प्रदर्शिका हैं।

गिरिधर कविराज

साईं बेटा बाप के बिगरे भयो अकाज।
हरनाकुस अरु कंस को गयो दुहुन को राज॥

गयो। दुहुन को राज बाप बेटा के बिगरै।
दुसमन दावागीर भये महिमंडल सिगरे॥
कह गिरधर कविराय जुगन याही चलि आई।
पिता पुत्र के बैर नफा कहु कौने पाई॥

सं० १८०० वि० में राजा अकबर अली खाँ के आश्रय में इन्होंने श्री हर्षकृत 'नैषध काव्य' का हिन्दी में अनुवाद किया। यही ग्रन्थ इनकी कीर्ति का आधार है। 'कृष्ण चन्द्रिका', 'छन्दाटवी' तथा 'रस नायिका भेद' आदि कुछ अन्य ग्रन्थों की रचना करने वाले गुमान मिश्र हैं। ये बुन्देलखण्ड में महेवा नामक गाँव के रहने वाले थे।

गुमान मिश्र

ये मथुरा के चौबे थे और भरतपुर के महाराज सुजानसिंह उपनाम सूरजमल के दरबार में रहते थे। सूरजमल में सूदन को एक सच्चा वीर चरित्र-नायक मिला और इन्होंने उसका वीरतापूर्ण चरित्र लेकर 'सुजान चरित्र' नामक काव्य की रचना की। 'सुजान चरित्र' में सं० १८०२ से लेकर १८१० तक की घटनाओं का वर्णन है। इस प्रकार इस ग्रन्थ की ऐतिहासिकता अक्षुण्ण तथा निर्विवाद है। कवि ने प्रायः लम्बी-लम्बी सूचियाँ तथा निरर्थक शब्दावली एवं देश-देशान्तरों की भाषा का प्रयोग कर अपने व्यापक ज्ञान का प्रदर्शन किया है। इन दोषों के होते हुए भी काव्य में ओज की कमी नहीं है। यदि सूदन कुछ संयत रहते तो हिन्दी के वीरगाथाकारों में उनका स्थान और भी ऊँचा होता।

सूदन

बोधा—ये राजापुर (जि० बांदा) के रहने वाले थे। इनका जन्म १८०४ वि० में हुआ था। इनकी लिखी हुई दो पुस्तकें मिलती हैं :—

(१) विरह-वारीश और (२) इश्कनामा।

कहा जाता है कि पन्ना दरबार में ये सुभान नाम की एक वैश्या पर अनुरक्त हो गए। फलस्वरूप पन्ना नरेश ने इन्हें ६ महीने के लिये देश निर्वासन का दंड दे दिया। उन्होंने वे ६ महीने बड़े कष्ट से बिताए। सुभान-विरह से व्यतीत होकर इन्होंने 'विरह-वारीश' नामक पुस्तक लिखी। 'विरह-वारीश' में माधवानल काम-कंदला की वियोगभरी कथा है। 'इश्क-नामा' में शृङ्गार रस के छन्द हैं। ये बोधा प्रेम की अनुभूति से परिचित थे और उसीके गीत मार्मिक व्यंजना के सहारे आजीवन गाते रहे।

ठाकुर—(असनी वाले—प्रथम) इन्होंने सं० १७०० के लगभग प्रवाहमयी स्वच्छ भाषा में शृङ्गारिक छन्दों की रचना की।

ठाकुर—(असनी वाले - द्वितीय) इन्होंने सं० १८६१ वि० में बिहारी सतसई की टीका लिखी और उसके अतिरिक्त कुछ स्फुट शृङ्गारिक छन्द भी लिखे।

ठाकुर (बुन्देलखंडी)

ये हिन्दी के सुप्रसिद्ध ठाकुर नामक कवि थे। इनका जन्म सं० १८२३ वि० में हुआ था। बिजावर के राजा ने एक गाँव देकर इनका सम्मान किया था। अन्य रीतिकालीन कवियों की भाँति इन्होंने बहुत से दरबारों में प्रवेश किया। दरबार में कवि का क्या स्थान होता है, यह उन्होंने एक छन्द में बतलाया है।

सेवक सिपाही हम उन राजपूतन के,
दान जुद्ध जुरिवे में नैकु जे न मुरके।
नीति देनवारे हैं महि के महिपालन को,
हिये के बिसुद्ध हैं, सनेह्यो सांचे उर के॥
ठाकुर कहत हम बैरी बेवकूफन के,
जालिम दमाद हैं अदानियां ससुर के।
चोजिन के चोजी महा, मोजिन के महाराज,
हम कविराज हैं, पै चाकर चतुर के॥

इनकी कविताएँ स्फुट छन्दों के रूप में ही मिली हैं। वैसे ये न तो व्यर्थ के शब्दाडंबर में पड़ते थे और न स्वाभाविकता के विरुद्ध ऊँची उड़ान भरते थे। लोकोक्तियों का प्रयोग ठाकुर में विशेष रूप से मिलता है।

चन्द्रशेखर—इनका जन्म १८५५ वि० में जिला फतेहपुर में हुआ। पहले ये दरभंगा, फिर जोधपुर और अन्त में पटियाला के राजदरबार के आश्रय में रहे। इन्होंने निम्नलिखित ग्रंथों की रचना की :—

(१) हम्मीरहठ (२) विवेक-विलास (३) रसिकविनोद (४) माधवी बसंत (५) गुह पंचाशिका (६) नखशिख (७) हरिभक्त-विलास (८) वृन्दावन-शतक (९) ताजक ज्योतिष।

इनके ये ग्रन्थ वीर और शृङ्गार रस के हैं, यद्यपि इन्हें सफलता इन दोनों रसों में मिली तथापि इनकी विशेष प्रसिद्धि 'हम्मीरहठ' के कारण ही हुई। 'हम्मीरहठ' में वीर रस के स्थायी भाव उत्साह की जैसी विशद व्याख्या हुई है वैसी ही प्रवाहमयी और ओजमयी भाषा का प्रयोग किया गया है। भाव और भाषा के इतने सफल मिश्रण में हिन्दी के कम कवि सफल हुये हैं। इन्होंने न तो व्यर्थ की शब्दावली का प्रयोग किया और न वर्णनों को अनावश्यक विस्तार ही दिया। अपनी इस प्रौढ़ रचना के कारण चन्द्रशेखर की कीर्ति अक्षय है।

बाबा दीनदयाल गिरि

इनका जन्म काशी में सं० १८५९ में हुआ था। ये विशेषतः गायघाट वाले मठ में रहा करते थे। गोसाईं इनकी पारिवारिक उपाधि थी। इनकी अन्योक्तियाँ हिन्दी साहित्य में अद्वितीय हैं। सरल, मनोरंजक, रुचिकर और गंभीर शैली में नित्यप्रति के जीवन में घटित होनी वाली आदर्श-मूलक सिद्धान्तों की इन्होंने जो व्याख्या की है वह अत्यन्त मर्मस्पर्शिनी है। कहीं कहीं ये श्लेष और यमक का भी सहारा लेते हैं परन्तु अपनी रचनाओं में इन्होंने चमत्कार प्रवृत्ति का प्रवेश नहीं होने दिया। इनकी लिखी हुई निम्न पुस्तकों का पता मिलता है :—

(१) अन्योक्ति-कल्पद्रुम (२) अनुराग-बाग (३) वैराग्य-दिनेश (४) विश्व-नाथ-नौरत्न (५) दृष्टांत-तरंगिणी।

इनकी रचनाओं में नैतिक उपदेशों के अतिरिक्त कृष्ण की विविध लीलाओं का वर्णन तथा शिव की स्तुति भी है। परन्तु इनकी ये रचनाएँ प्रसिद्धि प्राप्त न कर सकीं।

गिरधर दास

ये भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र के पिता थे। इनका जन्म सं०१८६० वि० में और मृत्यु सं० १६१७ वि० में हुई। कहा जाता है इन्होंने ४० ग्रन्थों की रचना की है परन्तु उनमें हमें कुछ रचनाएँ नहीं मिलतीं। प्राप्त रचनाओं की सूची निम्नलिखित है:—

(१) जरासंधवध महाकाव्य (२) भारतीभूषण (३) भाषा-व्याकरण (४) रसरत्नाकर (५) ग्रीष्मवर्णन (६) मत्स्यकथामृत (७) वाराहकथामृत (८) बलरामकथामृत (६) कल्कि-कथामृत (१०) बुद्धकथामृत (११) नहुष नाटक (१२) एकादशी महात्म्य (१३) नृसिंहकथामृत (१४) वामनकथामृत (१५) परशुराम-कथामृत (१६) रामकथामृत (१७) छन्दोर्णव (१८) बाल्मीकि रामायण (अनुवाद) (१६) अद्भुत रामायण (२०) लक्ष्मी-नखशिख (२१) गया यात्रा (२२) कीर्तन (२३) शिवस्तोत्र (२४) गोपालस्तोत्र (२५) भगवत्स्तोत्र (२६) राधा-स्तोत्र (२७) रामाष्टक (२८) कालियकालाष्टक।

इनकी रचनाओं में कहीं पर सरस स्वाभाविक और कहीं अलंकारों से लदी हुई कृत्रिमता मिलती है। ये केवल २७ वर्ष की आयु ही पा सके अन्यथा इनके द्वारा भारती का शृङ्गार और भी हुआ होता।

इन कवियों के अतिरिक्त बनवारी, छत्रसिंह, बैताल, श्रीधर हंसराज, किशोरी शरण, अलबेली अलि, भगवत रसिक, श्री हठी जी, सूरज राम, पंडित भगवतराय खीची, हरनारायण, ब्रजवासी दास, गोकुलनाथ, गोपीनाथ, मणिदेव, रामचन्द्र, मंचित, मधुसूदन, मनियारसिंह, कृष्णादास, गणेश, संमन, ललकदास, खुमान, नवलसिंह, रामसहायदास, पजनेस और द्विजदेव आदि कवि भी इस युग में हुये। साहित्यिक दृष्टिकोण से ये विशेष मौलिकता प्रदर्शित करने में असमर्थ रहे, इस कारण इनका विशेष परिचय यहाँ नहीं दिया गया।

रीतिकाल का सिंहावलोकन

विक्रम की सत्रहवीं शताब्दी के बाद हिन्दी साहित्य के इतिहास में एक ऐसी प्रवृत्ति को प्रश्रय मिला जो लौकिक जीवन के सौन्दर्य को अत्यन्त अनुरंजन के साथ प्रस्तुत करने में समर्थ हुई। अभी तक जीवन की शारीरिक अनुभूतियों की ओर से कवियों ने आँख बन्द कर ली थी। उन्होंने संसार और शरीर को नश्वर मानते हुए ईश्वर की उपासना को ही जीवन का चरम लक्ष्य समझा था। मानवी जीवन में जैसे आध्यात्मिकता का कवच पहिन कर इंद्रियों को उभरने से रोक दिया था। रीतिकाल ने उस कवच को उतार कर शरीर को शारीरिकता प्रदान की और नेत्रों को संसार के सौन्दर्य का वरदान दिया।

वर्ण्य विषय

हिन्दी के इतिहासकारों ने रीतिकाल की बुराई की है। इससे "साहित्य के विस्तृत विकास में कुछ बाधा भी पड़ी। प्रकृति की अनेकरूपता, जीवन की भिन्न-भिन्न चिन्त्य बातों तथा जगत् के नाना रहस्यों की ओर कवियों की दृष्टि नहीं जाने पाई। वह एक प्रकार से बद्ध और परिमित सी हो गई। उसका क्षेत्र संकुचित हो गया" आदि।[1] किंतु यदि कला-काल के साहित्य को देखा जाय तो उसमें जितनी अधिक प्रकृति की विविधरूपता है, उतनी अधिक हिन्दी साहित्य के किसी काल में नहीं है। ऋतु वर्णन की शैली में प्रत्येक ऋतु का सौन्दर्य और उसका मनोभावों पर जो प्रभाव है, उसका चित्रण, संयोग और वियोग दोनों पक्षों में बड़ी सरसता के साथ चित्रित किया है। जीवन की भिन्न भिन्न चिंत्य बातों पर नायक-नायिका-भेद लिखने वाले कवियों ने चाहे विशेष न लिखा हो किन्तु कला काल के राष्ट्रसेवी कवियों ने अवश्य लिखा है। केशवदास ने 'वीरसिंह

१—हिन्दी साहित्य का इतिहास—(पं० रामचन्द्र शुक्ल) पृष्ठ २८६, संशोधित संस्करण।

देव चरित', मान ने 'राजविलास', भूषण ने 'शिवराज भूषण', गोरेलाल ने 'छत्र प्रकाश', श्रीधर ने 'जंगनामा', सदानन्द ने 'भगवन्त राय रासो', सूदन ने 'सुजान चरित', जोधराज ने 'हम्मीर रासो', पद्माकर ने हिम्मत बहादुर विरुदावली', आदि रचनाओं में राजनीतिक के साथ पौरुषमय जीवन का जितना स्पष्ट और ओजमय चित्रण किया है वैसा चारण काल में भी संभव नहीं हो सका। इन्हीं रचनाओं में जीवन अपने वास्तविक पुरुषत्त्व में उपस्थित किया गया। उपर्युक्त लांछन सम्भवतः रीतिकाल की शृङ्गारिक रचनाओं को ही दृष्टि में रखकर इस साहित्य पर लगाया गया है। मैं तो यह कहूँगा कि हिंदी साहित्य का रीतिकाल वस्तुतः चारण काल और भक्तिकाल की प्रेरणाओं को आत्मसात् कर जीवन के लौकिक पक्ष को कभी राजनीति और कभी प्रेम से मिला कर अत्यन्त कलात्मक रूप उपस्थित करता है। इस दृष्टि से रीतिकाल की रचनाओं पर नाक भौं सिकोड़ने वाले आलोचकों को रीतिकाल का अध्ययन कला के सिद्धांतों को सामने रख कर करना चाहिये।

रीति काल की उपेक्षा इस कारण भी हुई है कि उसमें तुलसीदास, सूरदास और कबीर की भाँति कोई महाकवि नहीं हुआ। किन्तु महाकवि किसी भी साहित्य में सदैव ही नहीं होते। इस दृष्टि से कलाकाल भक्ति काल से हीन अवश्य है किन्तु उपेक्षणीय नहीं है। उपर्युक्त महाकवियों ने अध्यात्मवाद की गहराइयों में जीवन को ले जाकर उसे पारलौकिक दृष्टि से सबल बनाया। कला काल के कवियों ने जीवन का यह आदर्श नहीं रक्खा। उन्होंने संयम से बँधे हुये जीवन को स्वाभाविक स्फूर्ति दी। जहाँ यह स्फूर्ति कुरुचिमय है, वहाँ वास्तव में साहित्य निम्नश्रेणी का हो गया किन्तु जहाँ यह स्फूर्ति सुरुचिमय है, वहाँ साहित्य ने जीवन और प्रकृति के सौन्दर्य के लिए हमें एक दृष्टि प्रदान की है। मेरे लिखने का तात्पर्य यही है कि रीति-काल की आलोचना करते समय हम किसी द्वेष-बुद्धि या किसी कलुषित मनोवृत्ति से काम न लें और साहित्य में जीवन के चित्रण के प्रति उचित न्याय कर सकें।

साहित्य में लौकिक जीवन का चित्रण कोई पाप नहीं है यदि वह सुरुचिपूर्ण ढंग से हो। राधा और कृष्ण का प्रेम आत्मा और परमात्मा के मिलन

का रूपक ही क्यों हो ? उसमें मानवी अनुराग और आकर्षण की स्वाभाविकता की प्रवृत्ति क्यों न देखी जाय ? और क्या यह संभव नहीं है कि अपने चरम आकर्षण में इंद्रियों की भाषा ही आत्मा की पुकार बन जाय ?

निष्कर्ष—रीति-काल का समस्त साहित्य देखने के उपरान्त निम्नलिखित निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं :—

संस्कृत के काव्य साहित्य की परिपाटी-रस

१. इस काल में साहित्य शास्त्र की विशेष विवेचना हुई और रसराज 'शृङ्गार' रस की समस्त अनुभूतियों के सरस चित्रण प्रस्तुत किये गए। इस क्षेत्र में आचार्यों और कवियों को संस्कृत-साहित्य के रीति-ग्रन्थों से बड़ी सहायता मिली। रसवाद, अलंकारवाद और वक्रोक्तिवाद का आश्रय लेकर हिंदी कवियों ने जीवन की अनेक शृङ्गारपूर्ण भावनाएं उपस्थित कीं। समस्त रीति-काल की रचनाओं को मिलाकर देखने से ज्ञात होगा कि संस्कृत के काव्यशास्त्र का हिन्दी में रूपान्तर हो गया है। भक्ति काल में भक्ति-विषयक संस्कृत रचनाओं का समस्त भाव-विन्यास हिन्दी के माध्यम से प्राप्त हो ही गया था, शेष जो रह गया था, वह रीति-काल के कवियों ने अपनी सरस अनुभूतियों से जोड़ कर हिंदी साहित्य में उपस्थित किया। संस्कृत साहित्य का जो संबंध हिंदी साहित्य से है उसे देखते हुए संस्कृत के काव्य-साहित्य का अनुवाद हिंदी साहित्य में होना आवश्यक ही था।

छंद

२. इस काल में कवित्त और सवैया शैली को विशेष प्रश्रय मिला। साथ ही साथ दोहा शैली में भी रचनाएँ हुईं। प्रथम शैली में स्फुट-काव्य लिखा गया और द्वितीय शैली में सतसई साहित्य का निर्माण हुआ। इन दोनों शैलियों के अतिरिक्त दोहा चौपाई की एक प्रबन्धात्मक शैली भी देखने को मिलती है। इसमें ऐतिहासिक इतिवृत्त ही अधिक लिखे गए और चारण-कालीन साहित्य को अधिक प्रगति मिली।

प्रकृति चित्रण उद्दीपन भाव में

३. इस काल में यद्यपि साहित्य का केन्द्र राजाओं के दरबार में हो चला था और नागरिक जीवन का चित्रण प्रमुखता प्राप्त करने लगा था, तथापि कवियों ने प्रकृति के सौन्दर्य से आँखें बन्द नहीं कर ली थीं। ऋतुवर्णन में प्रकृति की विविधता कवियों की लेखनी से उतर कर इन्द्र धनुषी बन रही थी। प्रकृति उद्दीपन की सामग्री अधिक थी फिर भी इसमें जीवन की नवीनता और सजगता थी। ऋतुवर्णन पढ़ कर पाठकों के हृदय में संसार के विषाद को दूर करने की क्षमता उत्पन्न होती थी।

नवाँ प्रकरण

आधुनिक-काल

[संवत् १९०० से प्रारंभ]

हिंदी साहित्य के इतिहास में आधुनिक काल का एक विशेष महत्त्व है, उसका सर्वतोमुखी विकास तो वस्तुतः इसी युग में सम्भव हुआ है। हिंदी का गद्य-साहित्य तो वास्तव में इसी काल में निर्मित हुआ है। आधुनिक युग में ही उपन्यास, गल्प, निबन्ध, आलोचना, इतिहास तथा साहित्य के अन्य अंगों का प्रणयन आरम्भ होता है। हिंदी के काव्य-साहित्य ने भी इस काल में अपने अन्तर एवं बाह्य रूपों को बदल दिया है। हिंदी साहित्य की बाह्य रूप-रेखा और अन्तरधारा में यह समस्त परिवर्तन अंगरेजी साम्राज्य के प्रभाव में हुआ है, इस कारण इतना तो निश्चित सा है कि इस विकास में अंगरेजी साहित्य का सक्रिय सहयोग रहा। अंग्रेजी प्रभाव के अतिरिक्त कुछ अन्य क्षेत्रों से भी हिंदी साहित्य को अपने विकास में योग प्राप्त हुआ था।

राजनैतिक परिस्थिति

साहित्य के जीवन में विशेष परिवर्तन साहित्य-निर्माण के केन्द्र में परिवर्तन से संभव होता है। हमारा रीतिकालीन साहित्य राजसभाओं में अथवा उनके लिए निर्मित हुआ था। उस साहित्य में हमें शास्त्रीय अध्ययन पर आधारित काव्य के कला-पक्ष का सौष्ठव ही अधिक देखने को मिलता है। इसीलिए हमने उसे रीति काल की संज्ञा भी दी थी। अपने आश्रयदाताओं को प्रसन्न करके उनसे पुरस्कार पाना ही उस काल के कवियों का प्रधान उद्देश्य था। इस प्रकार पुरस्कृत होने के लिये दो बातों की आवश्यकता थी।

अपने आश्रयदाता की मूल मनोवृत्ति के अनुसार काव्य-रचना करना, तथा राजसभाओं में सम्मानित होने वाले शास्त्रज्ञों द्वारा प्रशंसित होना। इसी कारण उस काल के साहित्य में हमें पांडित्य-प्रदर्शन तथा शृङ्गार रस की भावना का प्राधान्य मिला था। पांडित्य-प्रदर्शन का आधार उन कवियों ने संस्कृत के काव्य-शास्त्र-संबंधी साहित्य को बनाया था तथा शृङ्गार रस की भावना अपने युग की मूल मनोवृत्ति से ग्रहण की थी। इस संबंध में यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि यह साहित्य किसी विशिष्ट राज्य केन्द्र की मनोवृत्ति के अनुसार ही लिखा जाता था तथापि काव्य-रचना में कवि की मनोवृत्ति अलंकार और रस के चमत्कार से जनता को मुग्ध कर लेने की भी थी।

वे राजसभाएँ जिन में रीति-कालीन साहित्य का निर्माण हुआ था प्रधान रूप से मुगल साम्राज्य की छाया में रह कर ही जीवनमय थीं। औरंगजेब की मृत्यु के अनन्तर जब मुगल साम्राज्य का ह्रास प्रारम्भ हुआ तो वह भी धीरे-धीरे अलंकार के आवरण में छिपने लगी। संपूर्ण देश में अराजकता-सी फैल गई। साहित्य-निर्माण के केन्द्रों के इस प्रकार विलुप्त होने से साहित्य के विकास में भी एक गत्यवरोध-सा उत्पन्न हो गया। इस प्रकार की परिस्थिति में अंग्रेजी सभ्यता ने देश में पदार्पण किया। अंग्रेज अपने जागृत देश से एक निरन्तर विकासशील सभ्यता को लेकर आये थे। अपने यहाँ उन्होंने इस समय तक राजाओं तथा सामंतों के एकाधिपत्य को समाप्त कर दिया था। औद्योगीकरण के फलस्वरूप उनके यहाँ एक नया वर्ग उत्पन्न हो गया था, जो समाज की समस्त शक्तियों को अपने हाथों में लेता जा रहा था। वह उन्हीं कुछ महा-प्रभुओं का प्रताप था जो अंग्रेज सर्वप्रथम व्यापारियों के रूप में हमारे यहाँ प्रवेश कर एक दिन सम्पूर्ण देश के शासक बन बैठे। अंग्रेजी सभ्यता के सम्पर्क से मध्य देश में भी राजाओं, नवाबों और सामन्तों की शक्ति क्षीण होने लगी और समाज में एक नए वर्ग—मध्य वर्ग—का जन्म आरम्भ हुआ। यही मध्य वर्ग साहित्य निर्माण के नवीन केन्द्रों का पृष्ठभूमि बना।

शिक्षा संस्थाओं का निर्माण

अंग्रेजों ने देश में अपने साम्राज्य की स्थापना के अनन्तर नवीन शिक्षा-संस्थाओं की स्थापना की ये शिक्षा-संस्थाएँ प्रधानतया दो प्रकार की थीं। एक, जिनमें हमारे प्राचीन साहित्य का अध्ययन तथा अध्यापन होता था तथा दूसरी, जिनमें पाश्चात्य साहित्य से परिचय कराया जाता था। प्रथम प्रकार की शिक्षा-संस्थाएँ विशेष रूप से पाश्चात्य देशों में आने वाले व्यक्तियों को भारतीय जीवनधारा से परिचित कराने के लिए स्थापित की गई थीं। इस प्रकार की सब से पहली शिक्षा-संस्था काशी में 'संस्कृत-कालेज' के रूप में सन् १७६२ में स्थापित हुई थी। उससे अंग्रेजी सरकार ने भारत से न्याय-विधान को समझने का प्रयास किया था। इस प्रकार की संस्थाओं में सब से अधिक उल्लेखनीय संस्था सन् १८०० में स्थापित कलकत्ता का फोर्ट विलियम कालेज है। उसके द्वारा होने वाले गद्य-निर्माण के प्रयत्न का उल्लेख अगले पृष्ठों में किया जायगा।

किन्तु हिंदी साहित्य को अपने विकास में विशेष-रूप से दूसरे प्रकार की शिक्षा-संस्थाओं से सहायता मिली थी। अंग्रेजों के संपर्क ने जिस मध्य-वर्ग को जन्म दिया था उसके विकास में इन शिक्षा-संस्थाओं का विशेष हाथ था। मध्ययुग में हमारी शिक्षा-संस्थाओं की अवस्था बहुत सोचनीय हो गई थी। उस युग का अन्तिम समय आते-आते तो इन संस्थाओं का सम्पूर्णतः लोप हो गया था। यह कल्पना ही नहीं की जा सकती थी कि इसी देश में कभी नालन्दा तथा तक्षशिला जैसे शिक्षा-केन्द्र रहे होंगे। अंग्रेजों ने इसी अवस्था को देख कर सम्भवतः यह कह डाला था कि भारत का, भारत का ही नहीं, समस्त पूर्वीय देशों का साहित्य किसी योरोपीय पुस्तकालय के छोटे से छोटे भाग की तुलना में भी नहीं रक्खा जा सकता। इसीलिए जब उन्होंने नवीन शिक्षा-संस्थाओं का निर्माण किया तो उसमें पश्चिमी ज्ञान-विज्ञान तथा साहित्य को ही प्रधान रूप से पाठ्य-क्रम में रक्खा। इन्हीं शिक्षा-संस्थाओं के भीतर पोषित होकर मध्यवर्ग ने अंग्रेजी साहित्य तथा उसके माध्यम से अन्य योरोपीय साहित्यों से परिचय प्राप्त

किया और उसके फल-स्वरूप उसमें कुछ नवीन साहित्यिक रूपों के प्रयोग की प्रवृत्ति उत्पन्न हुई। इसी के अध्ययन के फलस्वरूप हमारे साहित्य में मानवीय आलोचनात्मक तथा वैज्ञानिक दृष्टिकोण का विकास हुआ था। इसी बौद्धिक आधार को लेकर आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास आरंभ होता है।

इस नवीन शिक्षा के आलोक में ही मध्यवर्ग ने नवीन साहित्यिक केन्द्रों की स्थापना की थी। सम्भवतः सब से पहली साहित्यिक-संस्था काशी की 'कविता-वर्धिनी-सभा' थी जिसकी स्थापना भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने संवत् १६२७ में की थी। इसके बाद 'कवि समाज', 'रसिक समाज', 'हिन्दीवर्धिनी सभा' आदि बहुत सी साहित्यिक-संस्थाओं का जन्म हुआ जिन्होंने आधुनिक हिंन्दी साहित्य के विकास में विशेष योग दिया।

पत्र पत्रिकाओं और हिन्दी संस्थाओं का आरम्भ

इन्हीं संस्थाओं के संरक्षण में हिन्दी की पत्र-पत्रिकाओं का जन्म तथा विकास भी हुआ था। इनके द्वारा संचालित होने वाली पत्रिकाओं में 'कवि-वचन-सुधा' तथा 'हिन्दी प्रदीप' का नाम लिया जा सकता है। क्रमशः इन साहित्यिक-संस्थाओं की संख्या बढ़ती ही ई। सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण संस्था सं० १६५० में स्थापित 'नागरी-प्रचारिणी-सभा' है जिसकी सेवाएँ 'नागरी-प्रचारिणी-पत्रिका' 'मनोरञ्जक पुस्तक माला' तथा 'शब्द-सागर' के रूप में चिरस्मरणीय रहेंगी। संवत् १६६२ में स्थापित 'हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन' ने भी हिन्दी साहित्य के प्रचार में विशेष योग दिया है।

इस प्रकार साहित्यिक-केन्द्रों की स्थापना के अनन्तर आधुनिक हिन्दी साहित्य अपने विकास के पथ पर अग्रसर हो गया। इस विकास में विशेष बल उसे धार्मिक, सामाजिक तथा राजनीतिक आन्दोलनों के द्वारा प्राप्त हुआ। अँग्रेजों के नवीन न्याय विधान ने भी भारतीय संस्कृति तथा साहित्य में एक मूलगत परिवर्तन की भावना को जन्म दिया है, अतएव आधुनिक हिंदी साहित्य

के विकास में हमें उसका भी योग स्वीकार करना पड़ेगा। किंतु सबसे अधिक महत्वपूर्ण योग उसे मुद्रण-कला के प्रचार से मिला था, जिसने हमारे आज के सामाजिक, सांस्कृतिक तथा साहित्यिक जीवन में एक क्रांति-सी उपस्थित कर दी है।

अंग्रेज हमारे देश में प्रधान रूप से व्यापार के लिए ही आयें किन्तु उपयुक्त अवसर पाकर वे शासक भी बन गये। इस राजनीतिक विजय में जो सफलता उन्हें मिली थी उसे देख कर कुछ गौरांग महानुभाओं को धार्मिक विजय की भी लालसा होने लगी। ईसाई प्रचारकों ने हमारे देश में आकर अपने केन्द्र स्थापित किये और उनके द्वारा वे अपने साहित्य को विभिन्न भारतीय भाषाओं में अनुवादित कर उसे जनता में खपाने का प्रयत्न करने लगे। साथ ही उन्होंने कुछ शिक्षा-केन्द्रों की भी स्थापना की जिनके माध्यम से भी वे अपने मत का प्रचार ही करते थे। हमारे समाज की धार्मिक भावना पहले से ही व्यापक दृष्टिकोण को प्रश्रय देती आ रही थी; जिसमें, जैसा हमने प्रारम्भ में लिखा भी है, प्रतिमा अथवा मूर्तिपूजा से लेकर निराकार ब्रह्म की उपासना के लिए स्थान था। इसीलिए ईसाई प्रचारकों को अपने प्रारम्भिक प्रयत्नों में विशेष सफलता नहीं मिली और आगे चलकर राजाश्रय के द्वारा जब उन्हें कुछ कुछ सफलता मिलने भी लगी तो उसकी प्रतिक्रिया में हमारे धार्मिक आंदोलन भी प्रारम्भ हुए। हिंदी गद्य के विकास में ईसाई प्रचारकों का कोई विशेष योग स्वीकार नहीं किया जा सकता; क्योंकि उनके द्वारा अनुवादित ग्रन्थों में जो हिन्दी गद्य के उदाहरण मिलते हैं वे विशेष शक्ति-संपन्न नहीं हैं।

धर्म प्रचार

आधुनिक काल के धार्मिक आन्दोलनों की परम्पर 'ब्रह्म समाज' की स्थापना से प्रारम्भ होती है जिसके निर्माण में उदार चेता राजा राम मोहनराय का विशेष हाथ था। किन्तु यह आन्दोलन विशेष रूप से बंगभूमि की सीमाओं में आबद्ध रहा। १६२१-२२ में जब भारतेन्दु हरिश्चंद्र ने बंगाल की यात्रा की तो इस धार्मिक आन्दोलन को देखकर वे विशेष प्रभावित हुये। वहाँ से

धार्मिक आन्दोलन

लौटने पर उसी के अनुकरण में उन्होंने 'तदीय समाज' की स्थापना की। परंतु अपने आगे के जीवन में वे साहित्य-निर्माण के कार्य में इतने अधिक संलग्न हो गए कि यह संस्था जो विशेष रूप से उदार धार्मिक भावना के प्रचार के लिये स्थापित की गई थी, निश्चेष्ट सी हो गई। यह कार्य आगे चल कर 'आर्य-समाज' के आन्दोलन द्वारा सम्पन्न हुआ। यद्यपि 'आर्य समाज' की स्थापना सं० १९३२ में स्वामी दयानन्द सरस्वती के द्वारा मध्यदेश की सीमा के बाहर बम्बई में हुई थी, तथापि उसके प्रचार का क्षेत्र उसके बाद हिन्दी-भाषा-भाषी प्रदेश ही बना। स्वामी दयानन्द जी के अपने व्यक्तिगत जीवन में अंग्रेजी प्रभाव किसी भी रूप में देखने को नहीं मिलता लेकिन जिस विचारधारा के प्रचार को उन्होंने अपने जीवन का महान् उद्देश्य स्वीकार किया था, वह विचारधारा बहुत कुछ अंग्रेजी प्रभाव के द्वारा उत्पन्न हुये नवीन विचारों से मिलती जुलती थी। इसीलिए उसका प्रचार थोड़े ही समय में बहुत अधिक हो गया। स्वामी दयानन्द जी प्रारम्भ में संस्कृत भाषा में अपने विचार को व्यक्त करते थे, इस कारण उनके व्याख्यानों को सुनने वालों की संख्या बहुत कम होती थी। सं० १९२९ में जब उन्होंने बंगाल की यात्रा की तो ब्रह्मसमाज के आन्दोलन को देखकर उन्हें जन-भाषा में प्रचार करने का महत्व ज्ञात हुआ और यह उसी का परिणाम था कि उन्होंने अपना प्रसिद्ध ग्रन्थ 'सत्यार्थ प्रकाश' हिन्दी में लिखकर सं० १९३१ में प्रकाशित किया। अपने इस ग्रन्थ में उन्होंने हमारे अंधविश्वास, मूर्ति-पूजा तथा इसी प्रकार की अन्य बातों को हमारे धर्म में बाद को आये हुये दोषों के रूप में दिखाया तथा एकेश्वरवाद का प्रतिपादन कर हमें ईश्वर की मानसिक पूजा का उपदेश दिया। कर्म के सिद्धान्त के संबन्ध में भी उन्होंने अपने तर्कों को रक्खा और यह दिखाया कि मनुष्य को सदा भले कामों में संलग्न रहना चाहिये, क्योंकि कुछ बुरे कर्म हो जाने से फिर मुक्ति की संभावना नहीं रह जाती। वेदों को उन्होंने समस्त ज्ञान के कोष के रूप में स्वीकार किया था, तथा उनके पढ़ने का अधिकार स्त्रियों और शूद्रों को भी दे दिया था। यह धार्मिक आंदोलन इस प्रकार अपने में पुनरुत्थान तथा सुधार दोनों भावनाओं को एक साथ लेकर चला था। एक ओर

जहाँ वह हमारे धर्म के चारों ओर खड़े होकर झाड़ झंखाड़ को साफ कर धर्म की मूल-भावना का प्रचार करता था, वहाँ दूसरी ओर अपनी सीमा के भीतर सभी वर्गों को स्वीकार कर हमारे धर्म में एक व्यापक भावना का संचार करता था।

'आर्य-समाज' के आंदोलन ने अपने प्रवाह में हमारे धर्म की जिन सीमाओं का अतिक्रमण कर डाला था तथा जो कुछ नई सीमाएँ बना दी थीं, उनमें जो अति हो गई थी उन्हें मिटाने के लिए 'भारत-धर्म महामण्डल' की स्थापना हुई। इस नवीन आंदोलन ने जिसमें राधाचरण गोस्वामी आदि कितने ही हिंदी के लेखकों ने भाग लिया था, हमारे धर्म के ऐतिहासिक विकास को हमारे सामने रखा। स्वामी दयानन्द जी ने वेदों के अतिरिक्त स्मृति, पुराण आदि हमारे अन्य धार्मिक ग्रन्थों को बड़ी उपेक्षा की दृष्टि से देखा था, इस आन्दोलन के द्वारा उन का महत्त्व भी स्वीकृत हुआ। इनके भी पढ़ने का अधिकार सभी को दिया गया। यह इसी आन्दोलन का परिणाम था कि हमारे धर्म में विश्व-धर्म की भावना का संचार होने लगा।

हमारे धार्मिक आंदोलनों के साथ ही हमारे सामाजिक आन्दोलन का भी जन्म हो गया था। इस आंदोलन का आरम्भ भी हमें बंगभूमि में ही देखने को मिलता है। वेदों ने अपने अन्तिम समय में जिस चातुर्वर्ण-व्यवस्था की भावना की थी, वही अभी तक बिगड़ती-बनती किसी प्रकार खिंचती चली आ रही थी।

समाज-सुधार

स्त्रियों को अपनी संस्कृति के विकास के प्रारम्भिक दिनों में इसने गृह देवियों के रूप में प्रतिष्ठित किया था, समय के प्रवाह ने आज उन्हें गृह दासियों का रूप दे दिया था। कुछ सामाजिक वर्ग तो ऐसे भी थे, जिनमें बालिका का जन्म एक बहुत बड़ा अभिशाप समझा जाता था और नवजात कन्या को इसीलिए जन्म के समय ही मृत्यु की ठंडी गोद में सुला दिया जाता था।

विधवाओं को बलपूर्वक अपने मृत स्वामियों के साथ फूँक दिया जाता था। समाज के निम्नवर्ग के प्रति उच्चवर्ग का व्यवहार भी अन्यायपूर्ण होता जा रहा था। इस पाशविकता तथा अनाचार ने समाज के भीतर एक तीव्र असन्तोष की भावना को जन्म दिया था, किंतु वह युगों से पुनर्जन्म तथा कर्म के दार्शनिक सिद्धान्तों के नीचे दबती चली आ रही थी। आधुनिक युग में नवीन शिक्षा के आलोक में, नए उत्पन्न हुए मध्य वर्ग के व्यक्तियों ने अकाट्य तर्कों के साथ इस परिस्थिति के प्रति अपने असन्तोष को व्यक्त किया। नवीन शिक्षा का आलोक वंगभूमि में सर्वप्रथम फैला था, इस कारण वहाँ ही इस आन्दोलन का प्रथम सूत्रपात हुआ। यह बंगाल के ही राजा राममोहनराय तथा उनके कुछ अन्य सहयोगियों के उद्योग का परिणाम था कि जार्ज विलयम बेंटिंक को सती-प्रथा तथा नवजात कन्याओं की हत्या के विरोध में कानून बनाने पड़े थे। मध्य देश भी जब अंगरेजी साम्राज्य की सीमा के अन्तर्गत आ गया तब वहाँ भी यह कानून लागू हो गया।

स्त्री शिक्षा

मध्यदेश का अपना स्वतन्त्र सामाजिक आंदोलन आर्य समाज की छत्र-छाया में ही चला। आर्य समाज के प्रचारकों ने ही हमें स्त्रियों के प्रति अपने दृष्टिकोण को परिवर्तित करने के लिए सचेष्ट किया। यह उन्हीं के प्रचार का परिणाम था कि हमारे समाज में स्त्री शिक्षा का सूत्रपात हुआ। विधवाओं को भी उन्होंने मृत्यु-मन्दिर से मुक्त करने के प्रयत्न किए। इसके अतिरिक्त समाज के निम्न-वर्ग के प्रति हमारा दृष्टिकोण जो कुछ थोड़ा बहुत परिवर्तित हुआ है, उसमें भी उनका विशेष हाथ रहा है। आगे चल कर महात्मा गांधी ने इस कार्य को अपने हाथों में लिया। इसके साथ गांधी जी द्वारा ही हिंदू-मुसलिम सामंजस्य के प्रयत्न भी प्रारम्भ हुए थे।

हमारे राजनीतिक आंदोलन का जन्म धार्मिक तथा सामाजिक आंदोलनों

के परिणामस्वरूप हुआ था। नवीन शिक्षा के आलोक में हमने अपनी धार्मिक भावना तथा सामाजिक व्यवस्था को सुधारने तथा उन्हें समय के अनुसार रूप देने का प्रयत्न किया। अपने इस उद्योग में हमें प्रारम्भिक दिनों में अंग्रेजों के द्वारा कुछ सहायता भी मिली किन्तु आगे चल कर अंग्रेजों ने अपने साम्राज्य को दृढ़ रखने के लिए हमारे यहाँ की उन प्रगति-मूलक शक्तियों से समझौता कर लिया जो समाज के विकास में बाधक थीं। अंग्रेज हमारे यहाँ केवल उन्हीं नवीनताओं को प्रचारित करना चाहते थे, जिन से उन्हें अपने आर्थिक लाभ में सहायता मिले।

सामाजिक आंदोलन के परिणाम

समस्त देश में रेलों का जाल बिछा दिया गया, जिससे उनका माल भली प्रकार देश में खपाया जा सके। उन्होंने हमारे औद्योगिक केन्द्रों को नष्ट कर डाला, किन्तु उनके स्थान पर नए औद्योगिक केन्द्र स्थापित नहीं किए। उन्होंने राजाओं, महाराजाओं तथा नवाबों के प्रभुत्व को नष्ट किया, किन्तु उस के बाद उस नवीन वर्ग के जन्म में बाधक हुए जो औद्योगिक रक्षा द्वारा समाज को विकास के पथ पर अग्रसर करता उन्होंने गाँवों में जमींदार-संस्था को जन्म दिया जिसका कार्य केवल सरकार के लिए किसी प्रकार धन एकत्र करना था। उन्होंने मध्यवर्ग को जन्म दिया, किन्तु उसे केवल इस योग्य बनने दिया कि वह उनके कार्यालयों में बैठ कर केवल उनका कार्य चला सकें। इस प्रकार हमारे समाज की सांस्कृतिक, औद्योगिक तथा बौद्धिक सभी प्रकार की उन्नति में वे बाधक हुए।

औद्योगीकरण

हमारी जनता जो अंग्रेजी साम्राज्य के प्रारम्भिक दिनों की सुरक्षा तथा शांति को देख कर उनके ऊपर मुग्ध हो गई थी उसने देखना आरम्भ किया कि यह तो केवल मात्र श्मशान-भूमि की शांति है। उन्होंने यह भी स्पष्ट देखा कि उनकी आर्थिक अवस्था दिन-प्रतिदिन गिरती जा रही है और उनका धन सात समुद्र पार बहता जा रहा है। इसी कठोरता को

आर्थिक दशा का ह्रास

देखने—केवल देखने ही नहीं—वरन् जीवन में अनुभव करने का परिणाम था कि हम में राजनीतिक चेतना उत्पन्न हुई। उस को सबल बनाने में हमें पश्चिम के विचारकों के ग्रन्थों के अवलोकन से विशेष सहायता मिली।

राजनैतिक आंदोलन

सं० १६१४ (सन् १८५७) के विद्रोह से हमारे राजनीतिक आंदोलन का आरम्भ माना जाता है किंतु वह केवल मात्र समाज की उन अगतिमूलक शक्तियों का पुनः अधिकार प्राप्त करने का प्रयास था, जिन्हें अंग्रेजों की आधुनिक कूट-नीतिज्ञता तथा बुद्धि-कौशल के आगे परास्त होना पड़ा था। जनता ने स्वयं ही जब साम्राज्यवाद के लौह-चक्र का अनुभव किया तो वह उभरने लगी। हमारे राजनीतिक आन्दोलन का सूत्रपात छोटे-मोटे आतंकवादी कार्यों से हुआ। जनता ने उन कृत्यों का इतने उत्साह के साथ स्वागत किया कि साम्राज्यवादी चिंतित हो उठे और उन्हें जनता की भावनाओं की स्वाभाविक अभिव्यक्ति के लिए कुछ द्वार उन्मुक्त करने पड़े। सं० १६४२ में हमारी सबसे बड़ी राष्ट्रीय संस्था कांग्रेस की स्थापना हुई। उसके बाद हमारे राजनीतिक आंदोलन का इतिहास वस्तुतः इसी संस्था का इतिहास है। कांग्रेस प्रारम्भ में कुछ थोड़े से पढ़े लिखे लोगों की ही संस्था थी जिन्हें अंग्रेजों की उदारता में पूर्ण विश्वास था। इसीलिए कांग्रेस सरकार के सामने अपनी न्यायसंगत माँगों के रखने में कर्त्तव्य की इतिश्री समझती थी। धीरे-धीरे जनता ने इसके भीतर प्रवेश करना प्रारम्भ किया। जनता के जीवन से सम्पर्क रखने वाले व्यक्तियों का इस संस्था में प्रभुत्व बढ़ा और उसी के फलस्वरूप कितने ही जन-आन्दोलन हुए। हिंदी साहित्य ने अपने विकास के लिए किस प्रकार इनसे शक्ति ग्रहण की थी, वह इस साहित्य के विकास का विवेचन करते हुए स्पष्ट किया जायगा।

हमारी न्याय-व्यवस्था भी अंग्रेजों के आगमन के पूर्व ही सम्पूर्णतः नष्ट

हो गई थी। गाँवों में पंचायती व्यवस्था चलती थी किन्तु उसके ऊपर कहीं ब्राह्मणों का प्रभुत्व रहता था, कहीं राज्य-कर्मचारियों का तथा कहीं भू-स्वामियों का। हिन्दू राजाओं के राज्य में गो-हत्या सबसे बड़ा अपराध समझा जाता था। अंग्रेजी न्यायालय से ब्राह्मण नन्दकुमार को जो प्राण-दण्ड दिया गया उसे देखकर हिन्दुओं की धार्मिक भावना पर एक गहरी चोट पड़ी थी। बहुत से हिन्दू कलकत्ता छोड़कर गंगा के उस पार जाकर बस गये थे। अंग्रेजों ने अपने साम्राज्य के प्रारम्भिक दिनों में भारतीय न्याय-विधान को फिर से व्यवस्थित करने का प्रयास किया जिसमें पंडितों और मौलवियों को प्रधान स्थान मिला, जो किसी भी पक्ष द्वारा प्रभावित किए जा सकते थे। इसलिए अंग्रेजों को एक नवीन न्याय-विधान निर्मित कराने की आवश्यकता पड़ी। सं० १८९२ के मध्यभाग में उसे मनाने के लिए एक परिषद् बैठायी गयी और उसी का बनाया हुआ न्याय-विधान अगले वर्ष से चलने लगा। परिषद् ने भारतीयों तथा अंग्रेजों—दोनों के लिए ही नियम बनाए थे। भारतीय जनता पर इस समता की भावना का विशेष प्रभाव पड़ा। उसमें प्रजातन्त्र की भावना का संचार होने लगा। मनुष्य का मूल्य मनुष्य के रूप में स्वीकृत होने लगा। इस प्रकार नवीन न्याय-विधान ने जीवन के प्रति हमारे दृष्टि-कोण को ही सम्पूर्णत: बदल दिया। इसलिये कि साहित्य-रचना जीवन का आधार लेकर चलती है, हमारे साहित्य में भी उसने एक नवीनता का संचार किया।

नवीन न्याय-व्यवस्था

हमारे देश में मुद्रण-कला का प्रचार भी अंग्रेजों के प्रयत्न से ही हुआ था। सर्वप्रथम सं० १८५३ में पंचानन कर्मकार नामक एक व्यक्ति ने श्रीरामपुर के ईसाई प्रचारकों के लिए उन्हीं की बताई हुई रीति के अनुसार बंगला भाषा के अक्षर गढ़े थे। उसके बाद हिन्दी के अक्षर भी गढ़े गये। हिन्दी का सर्वप्रथम प्रेस लल्लू जी लाल द्वारा कलकत्ते में खोला गया और उसके बाद कितने ही नये प्रेस खुलते गये। मुद्रण-कला के ज्ञान ने हमारे साहित्य के

मुद्रण-कला

प्रचार तथा स्थायित्व में विशेष योग दिया। यह मुद्रण-कला के प्रचार का ही परिणाम था कि हिन्दी पत्र-पत्रिकाएँ प्रकाशित होने लगीं और उनके द्वारा हिन्दी-साहित्य के विकास में विशेष बल मिला। हिन्दी पुस्तकों की संख्यावृद्धि का भी यह बहुत बड़ा कारण रहा है।

उपसंहार

इस समय तक अंग्रेजी साम्राज्य ने हमारे चारों ओर एक नवीन वातावरण उपस्थित कर दिया था। उससे आधुनिक हिन्दी साहित्य को अपने विकास में विशेष सहायता मिली। इस वातावरण ने हमारी दृष्टि की परिधि को सम्पूर्ण विश्व में विस्तृत कर दिया। हमारे देश के विभिन्न भूभागों को यातायात की सुविधायें प्रदान कर उसने परस्पर निकटतर कर दिया। सभ्यता के केन्द्र भी राजनगरों से उठ कर (जिनकी संख्या थोड़ी सी ही थी) नवनिर्मित व्यापारिक नगरों में प्रतिष्ठित हो गए। औद्योगिक क्रान्ति के फलस्वरूप जिन वस्तुओं का आविष्कार अंग्रेजों ने किया था वे भी इन नगरों में विक्रयार्थ बहुत बड़ी संख्या में आती थीं। इन्हीं व्यापारिक नगरों में साहित्य-निर्माण के केन्द्र भी प्रतिष्ठित हुए। साहित्य जीवन पर आधारित होता है। जब साहित्य-निर्माण की परिस्थितियाँ ही बदल गयीं तो साहित्यिक विद्वान भी परिवर्तित होने लगे।

इन्हीं विभिन्न धाराओं से हिन्दी साहित्य ने अपने विकास के लिए शक्ति ग्रहण की है। यह धारायें अपनी प्रगति में विशेष प्रवहमान रही हैं। इस कारण हमारे साहित्य के विकास को भी इन्होंने विशेष गतिशीलता प्रदान की है। आधुनिक काल में हमारा साहित्य जिस विशेष गति से अपने विकास के पथ पर अग्रसर है, ऐतिहासिक दृष्टिकोण से उसकी सीमाएँ निर्धारित करना बहुत ही कठिन है। फिर भी अध्ययन की सुविधा के लिए हमें कुछ सीमाएँ स्वीकार तो करनी ही पड़ती हैं। हमारे सामने सर्वप्रथम भारतेन्दु की पृष्ठभूमि आती है जो सं० १८५७ से प्रारम्भ होती है। उसके बाद भारतेन्दु युग आता है जो सं० १९२७ से प्रारम्भ होता है। उसके बाद पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी के हिन्दी गद्य को एकरूपता देने तथा उसको व्याकरण सम्मत बनाने के प्रयत्न प्रारम्भ होते हैं। उन्होंने गद्य और पद्य की भाषा को भी एक किया था।

उनका कार्य विशेष रूप से सं० १९५७ से प्रारम्भ होता है। सं० १९७७ से हमारे साहित्य पर महायुद्ध की समाप्ति के कारण जो परिस्थितियाँ उत्पन्न हो गई थीं उनका प्रभाव प्रारम्भ होता है। इस कारण उसका अध्ययन हम अलग प्रस्तुत करेंगे। आधुनिक हिन्दी साहित्य के निर्माण में पश्चिम के सम्पर्क से जो हमने ज्ञानार्जन किया था उससे विशेष सहायता मिली। हमारे देश का ज्ञानभण्डार भी इस युग में हमारे सम्मुख सदा प्रस्तुत रहा है। आधुनिक हिन्दी साहित्य का बौद्धिक आधार इन्हीं कारणों से विशेष पुष्ट है।

दसवाँ प्रकरण

भारतेन्दु युग

प्रायः सभी देशों में गद्य-साहित्य का प्राधान्य औद्योगिक क्रान्ति के प्रवाह में ही हुआ है; मुद्रण-कला का प्रचार उसमें विशेष सहायक रहा है। किन्तु उसके निर्माण के प्रयोग हमें पहले भी मिल जाते हैं। अपने साहित्य में भी हमें आधुनिक काल के पहले ही गद्य-रचनाएँ मिल जाती हैं, जो यद्यपि परिमाण में अधिक नहीं हैं और न साहित्यिक उत्कृष्टता से समन्वित हैं, फिर भी अभिव्यक्ति की लगभग समस्त प्रेरणाओं के साथ हैं।

भारतेन्दु-युगीन साहित्य की पूर्व-पीठिका

हमारे गद्य-साहित्य की परम्परा नाथ सम्प्रदाय के कुछ दार्शनिक विवेचन सम्बन्धी ग्रन्थों से प्रारम्भ होती है, जिनमें हठयोग तथा ब्रह्मज्ञान की व्याख्या की गई है। इनमें हमें ब्रजभाषा गद्य का प्राथमिक रूप देखने को मिलता है; किन्तु इनकी प्रामाणिकता के सम्बन्ध में निश्चित रूप से कुछ भी नहीं कहा जा सकता। इन गद्य-रचनाओं के बाद हमें मिथिला के ज्योतिरीश्वर ठाकुर का गद्य देखने को मिलता है, जिसमें बाणभट्ट की कादम्बरी का सा पद-लालित्य है। राजस्थान में भी हमें कुछ गद्य-ग्रन्थ मिल जाते हैं, जिनके प्रधान विषय वहाँ के काव्य-ग्रन्थों की भाँति वंशवर्णन, युद्धवर्णन आदि ही हैं। इन वर्णनों में काव्य की पुट भी हमें यत्र-तत्र मिल जाती है। इनके बाद 'वल्लभ संप्रदाय' के गद्य-ग्रन्थ आते हैं, जिनमें हमें ब्रजभाषा गद्य का कुछ व्यवस्थित रूप देखने को मिलता है। इस संप्रदाय का सबसे पहला गद्य-ग्रन्थ गोसाईं विट्ठलनाथ जी लिखित 'शृङ्गाररस मंडन' है जिसमें भक्ति

हिंदी गद्य साहित्य का प्रारम्भिक इतिहास

के दृष्टिकोण से शृंगार रस की विवेचना की गई है। गोसाईं जी के पुत्र गोकुलनाथ जी ने भक्तों के जीवनवृत्त सम्बन्धी दो गद्य-ग्रन्थ '८४ वैष्णवन की वार्ता' तथा '२५२ वैष्णवन की वार्ता' लिखे। इनमें हमें व्रजभाषा विशेष व्यवस्थित रूप में मिलती है। इस व्यवस्थित रूप के कारण इनकी प्रामाणिकता में भी सन्देह होता है। इनके अतिरिक्त नाभादास कृत 'अष्टयाम', वैकुण्ठमणि शुक्ल कृत 'अगहन माहात्म्य' तथा 'वैशाख माहात्म्य', सुरतिमिश्र कृत 'आईन-ए-अकबरी की भाषा वचनिका' आदि व्रजभाषा गद्य की कुछ और भी रचनाएँ मिलती हैं। खड़ी बोली गद्य की प्रथम रचना के रूप में गंग कवि की 'चंद छंद बरनन की महिमा' ही प्राप्त है। इसी समय दक्षिण के मुसलमानों द्वारा लिखे गए 'दकिनी' गद्य के उदाहरण मिलते हैं जिनमें व्रजभाषा के शब्दों की बहुलता है।

हिन्दी गद्य के विकास की विभिन्न अवस्थाओं को दिखाने के लिए नीचे उसके कुछ उद्धरण प्रस्तुत किये जाते हैं:—

"श्री गुरु परमानन्द तिन को दण्डवत है। हैं कैसे परमानन्द स्वरूप है शरीर जिन्हि को, जिनके नित्य गायै तैं शरीर चैतन्नि आनन्द-मय होतु है।"

—गोरखनाथ

"जाक मुखक शोभा देखि पद्म जल प्रवेश कयल, आंखिक शोभा देखि हरिण वन गेल, केशक शोभा देखि चमरी पलायन कयल, दाँतक शोभा देखि दाड़िम हृदय विदीर्ण कयल, अधरक शोभा देखि प्रवाल द्वीपान्तर गेल, कानक शोभा देखि बौद्ध ध्यान स्थित भेल, कंठक शोभा देखि कम्बु समुद्र प्रवेश कयल।"

—जोतिरीश्वर ठाकुर

"प्रथम की सखी कहतु हैं। जो गोपीजन के चरण विषै सेवक की दासी करि जो इनको प्रेमामृत में डूबि कै इनके मंद हास्य ने जीते हैं। अमृत समूह ता करि निकुञ्ज विषै शृंगाररस श्रेष्ठ रसना कीनो सो पूर्ण होत भई।"

—विट्ठलनाथ

"नन्ददास जी तुलसीदास के छोटे भाई हते। सो विनकूं नाच तमासा देखवे को तथा गान सुनवे को शोक बहुत हतो सो वा देश में सूँ एक संग

द्वारका जात हतो। जब विन ने तुलसीदास सूँ पूँछी तब तुलसीदास जी रामचन्द्र जी के अनन्य भक्त हते!"

—गोकुलनाथ

"तब श्री महाराज-कुमार प्रथम वसिष्ठ महाराज के चरन छुइ प्रनाम करत भए। फिर ऊपर वृद्ध-समाज तिनको प्रनाम करत भए। फिर श्री राजाधिराज जू को जोहार करिकै श्री महेंद्रनाथ दसरथ जू के निकट बैठते भए।"

—नाभादास

"सिद्धि श्री १०८ श्री श्री पातसाहि जी श्री दलपति जी अकबर साह जो आम खास में तखत ऊपर विराजमान हो रहे और आम खास भरने लगा है, जिसमें तमाम उमराव आय आय कुर्निश बजाय जुहार करके अपनी अपनी बैठक पर बैठ जाया करें अपनी अपनी मिसल से।

—गंग कवि

इन उद्धरणों को देखकर यह स्पष्ट हो जाता है कि यह एक ही बोली तथा एक ही शैली में नहीं लिखे गए। हिन्दी के व्यापक प्रभुत्व और विस्तार से विभिन्न बोलियों के द्वारा उसके गद्य-साहित्य का कोष समृद्धिशाली हुआ है। इन बोलियों में मैथिली, राजस्थानी, व्रज भाषा, दकिनी तथा खड़ी बोली प्रमुख हैं। राजनीतिक परिस्थितियों के कारण हिन्दी भाषा का क्षेत्र विविध राजनीतिक केन्द्रों में विभाजित हो गया था और उनमें परस्पर विचार-विनिमय तथा सिद्धांत-प्रचार की संभावनाएँ कम हो गई थीं। अतः स्थान विशेष की बोलियों के प्रभाव से गद्य का निर्माण हुआ; यद्यपि प्रत्येक में पश्चिमी हिंदी का प्रभाव प्रधान तथा परिलक्षित है। किंचित् विभिन्नताओं के होते हुये भी गद्य के इन अवतरणों को हिंदी-गद्य की सीमा के अन्तर्गत सन्निविष्ट करना उचित ज्ञात होता है।

हिन्दी गद्य का व्यवस्थित तथा परिमार्जित रूप हमें संवत् १७६८ में राम प्रसाद निरंजनी द्वारा लिखित "भाषा योग वासिष्ठ" में देखने को मिलता है:

"प्रथम परब्रह्म परमात्मा को नमस्कार है जिससे सब भासत हैं और जिसमें सब लीन और स्थित होते हैं,............जिस आनन्द के समुद्र के कण से

संपूर्ण विश्व आनन्दमय है, जिस आनन्द से सब जीव जीते हैं। अगस्त जी के शिष्य सुतीक्ष्ण के मन में एक संदेह पैदा हुआ तब वह उसके दूर करने के कारण अगस्त मुनि के आश्रम को जा विधि सहित प्रणाम करके बैठे और विनती कर प्रश्न किया कि हे भगवन्! आप सब तत्वों और सब शास्त्रों के जाननहारे हो, मेरे एक सन्देह को दूर करो। मोक्ष का कारण कर्म है कि ज्ञान है अथवा दोनों हैं, समझाय के कहो।"

इस गद्यांश को देखकर सहसा यह विश्वास ही नहीं होता कि यह अठारहवीं शताब्दी के अन्तिम दशाब्द में लिखा गया होगा। इसके लेखक के संबंध में हमें केवल इतना ही ज्ञात है कि वे पटियाला की राजसभा से संबंधित थे तथा महारानी को कथा पढ़कर सुनाया करते थे।

'योग वासिष्ठ' के हिंदी अनुवाद की एक छपी हुई प्रति हमें प्राप्त हुई है, उसकी भूमिका में प्रकाशक ने लिखा है कि :—

"वेदान्त विषे यह 'योग वासिष्ठ' ग्रंथ बहुत प्रसिद्ध है।.... ...... तिस पर कोई विद्वान् ने टीका करी है, यह ग्रंथ बहुत प्राचीन है, इसकी भाषा कोई परमार्थी साधु पुरुष ने करी है, तिनका नाम ज्ञात नहीं है। ऐसा सुना है कि योग वासिष्ठ की कोई महात्मा पुरुष कहूँ कथा करते थे, तहाँ इस भाषा के करने वाले साधु श्रवण वास्ते प्रतिदिन जाते थे, श्रवण करिके आश्रम पर आते थे और जैसा सुनते थे वैसा ही व्याख्यान सहित लिखते जाते थे . ... इस रीति से यह ग्रंथ भया है।"

इस ग्रंथ की प्रारंभिक पंक्तियाँ हम नीचे उद्धृत करते हैं :—

"सत्-चित्-आनन्द रूप जो आत्मा है तिसको नमस्कार है, सो कैसा है जिसते यह सब भासत है। अरु जिस विषे सर्व लीन होत हैं, अरु जिस विषे यह सब स्थित है...... . ...जिस आनन्द के समुद्र के कण सों संपूर्ण विश्व आनन्दवान है, अरु जिस आनन्द करि सर्व जीवते हैं.........कोई एक सुतीक्ष्ण अगस्त मुनि का शिष्य होता भया, तिस के मन में एक संशय

त्पन्न भया, तिसको निवृत्त करने के अर्थ अगस्त मुनि के आश्रम को गमन
किया। जाकर विधि संयुक्त प्रणाम करि स्थित होता भया। और नम्र भाव
सों प्रश्न करने लगा..............हे भगवन्! सर्व तत्वज्ञ, सर्व शास्त्रों
के ज्ञाता, एक संशय मुझ को है सो तुम कृपा करके निवृत्त करो। मोक्ष का
कारण कर्म है, कि ज्ञान है, कि दोनों हैं? याते जो मोक्ष का कारण होय
सो कहो।"

इस गद्यांश तथा रामप्रसाद निरंजनी-लिखित ग्रंथ से दिये गए उद्धरण
में एक विशेष साम्य है। एक राजसभा के सम्मानित पंडित की भाषा होने के
कारण विशेष शुद्ध है, तथा दूसरे की भाषा में साधु द्वारा लिखित होने के
कारण ग्रामीणता भी आ गई है। प्रकाशित प्रति के प्रकाशक के वक्तव्य को
पढ़ने से दो तथ्य ज्ञात होते हैं। पहला यह कि ग्रन्थ प्राचीन है तथा दूसरा
यह कि इसके लेखक ने एक कथा कहने वाले से दिन-प्रतिदिन सुन कर
उसे लिखा था। इन तथ्यों से यह प्रतीत होता है कि संभवतः यह रचना भी
रामप्रसाद निरंजनी के ही समय की है और संभवतः वह उन्हीं की कथा को
सुनकर लिखी गई थी। यदि वह ग्रंथ जिससे पहला उद्धरण लिया गया है,
रामप्रसाद निरंजनी के ही समय का है और उसमें किसी ने आधुनिकता देने
के लिये अपनी कलम नहीं चलाई है तो इतना हम और भी कह सकते हैं
कि यह गद्य एक विशेष परम्परा से प्रसूत है, जिसे खोजने में हमें अभी तक
सफलता नहीं मिली। इतना तो हम निश्चित रूप से कह सकते हैं कि हिन्दी
गद्य आधुनिक काल से बहुत पहले ही अपने निर्माण के लिये प्रयत्नशील हो
गया था।

आधुनिक काल : गद्य का प्रारम्भ

आधुनिक काल का प्रारम्भ होते-होते जब अँग्रेजी सभ्यता का प्रवेश हमारे
देश में हो गया था, उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में हमें इंशा अल्ला खाँ,
मुन्शी सदासुख लाल, लल्लू जी लाल तथा सदल मिश्र की गद्य रचनाएँ
देखने को मिलती हैं। इनमें प्रथम दो ने तो अँग्रेजी प्रभाव के बाहर रह कर

गद्य-साहित्य का निर्माण किया था। अन्तिम दोनों ने अंग्रेजी द्वारा स्थापित फोर्ट विलियम कालेज में 'भाखा मुंशी' के रूप में रहकर जान गिलक्राइस्ट की अध्यक्षता में तथा उन्हीं के कथनानुसार अपनी रचनाएँ लिखी थीं। आगे हम इन्हीं चार लेखकों का संक्षिप्त परिचय देते हैं।

इनका सम्बन्ध प्रारंभ में दिल्ली के शाही दरबार से था, किन्तु जब दिल्ली उजड़ने लगी तो यह लखनऊ आ गए थे तथा वहाँ के नवाब सआदत अलीखाँ के दरबार में आने-जाने लगे थे। कहा जाता है कि लखनऊ

इंशा अल्ला खाँ में रहकर ही इन्होंने उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारंभिक वर्षों में अपनी प्रसिद्ध कहानी 'उदयभान चरित्र' या 'रानी केतकी की कहानी' की रचना की थी। इस ग्रन्थ में हमें खड़ी बोली गद्य अपने सजीव रूप में देखने को मिलता है। सजीव इसलिये है कि यह एक कहानी है और इस कारण इसमें जहाँ बातचीत के शब्द आ गए हैं वहाँ लेखक ने इस प्रकार लिखा है जैसे वह केवल कही सुनी हुई बातचीत हो। केवल इतना ही नहीं संपूर्ण कहानी ही ऐसी शैली में लिखी गई है जिसे देखकर लगता है जैसे कथाकार स्वयं ही हमारे सामने बैठा हुआ है और कहानी सुनाता जा रहा है। एक उद्धरण हम नीचे प्रस्तुत करते हैं :—

"डौल डाल एक अनोखी बात का"—

"एक दिन बैठे बैठे यह बात अपने ध्यान में चढ़ी कि कोई कहानी ऐसी कहिये कि जिसमें हिन्दवी छुट और किसी बोली की पुट न मिले, तब जाके मेरा जी फूल की कली के रूप में खिले। बाहर की बोली और गंवारी कुछ उसके बीच में न हो।......अपने मिलने वालों में एक कोई बड़े पढ़े लिखे, पुराने धुराने, डाँग, बूढ़े घाग यह खट-राग लाए......यह बात होते दिखाई नहीं देती। हिन्दवीपन भी न निकले और भाखापन भी न हो। बस, जैसे भले लोग आपस में बोलते चालते हैं, ज्यों का त्यों वही सब डौल रहे और छाँव किसी की न हो। यह नहीं होने का।"

इस भूमिका भाग में ही हमें बातचीत का इतना स्वर-विन्यास मिलता है, जब कथा आरम्भ हो जाती है तब तो और भी अधिक। इस भूमिका में अपनी

रचना को इंशा ने जो अरबी, फारसी तथा संस्कृत और ग्रामीण शब्दों से बचाए रखने की बात कही है, उसमें भी वह अपनी शक्ति भर सफल हुए हैं। वे अपनी भाषा से फारसीपन का पूर्णतः बहिष्कार नहीं कर सके; फिर भी खड़ी बोली अपने काफी शुद्ध रूप में इस कहानी में मिलती है।

ये रहने वाले तो दिल्ली के थे, किन्तु उन्होंने अंग्रेजों की अध्यक्षता में चुनार में नौकरी स्वीकार की थी। कोई पैंसठ वर्ष की अवस्था में नौकरी छोड़ कर इलाहाबाद में आकर रहने लगे थे और यहीं उन्होंने संस्कृत फारसी तथा हिन्दी के कुछ ग्रन्थों की रचना की थी। हिन्दी गद्य की उनकी जो पुस्तक प्राप्त हुई है वह अपूर्ण है। वह विष्णुपुराण के किसी उपदेशात्मक प्रसंग को लेकर लिखी हुई कही जाती है। नीचे उसका एक अंश उद्धृत किया जाता है :—

मुन्शी सदासुख-लाल

"यद्यपि ऐसे विचार से हमें लोग नास्तिक कहेंगे, हमें इस बात का डर नहीं। जो बात सत्य होय उसे कहा चाहिये, कोई बुरा माने कि भला माने। विद्या इस हेतु पढ़ते हैं कि तात्पर्य इसका सतो वृत्ति है वह प्राप्त हो और उससे निज स्वरूप में लय हूजिये। इस हेतु नहीं पढ़ते हैं कि चतुराई की बातें कह के लोगों को बहकाइये, फुसलाइये और असत्य छिपाइये।"

यह गद्य भी विशेष रूप से परिमार्जित तथा व्यवस्थित है।

ये आगरे के रहने वाले थे किन्तु बाद को जाकर कलकत्ते में बस गये थे और वहाँ उन्होंने नये स्थापित हुए फोर्ट विलियम कालेज में भाषा-मुंशी का पद स्वीकार कर लिया था। इस कालेज की स्थापना भारतवर्ष में आने वाले अंग्रेजों को भारतीय भाषाओं से परिचित कराने के लिए हुई थी, उन्हीं के लिए इन्हें गद्य-रचनाएँ लिखनी पड़ीं, जिनकी नामावली इस प्रकार है—सिंहासनबत्तीसी बैताल-पचीसी, शकुन्तला नाटक, माधोनल, राजनीति तथा प्रेमसागर। इन में से अन्तिम दो विशेष उल्लेखनीय हैं, जिनमें से प्रथम ब्रज भाषा गद्य में है और द्वितीय खड़ी बोली में। इन्होंने 'माधव विलास' तथा 'सभाविलास'

लल्लूलाल

नाम के दो संग्रह ग्रन्थ भी संपादित किये थे। बिहारी सतसई की एक टीका भी 'लालचंद्रिका' के नाम से प्रकाशित की थी। इनका गद्य विशेष प्रौढ़ है, तथा उसमें सजावट भी है। अपने कथन की पुष्टि के लिए 'प्रेमसागर' से एक अवतरण प्रस्तुत किया जाता है :—

"जिस काल उषा बारह वर्ष की हुई तो मुखचंद्र की ज्योति देख पूर्णमासी का चंद्रमा छवि-छीन हुआ, बालों की श्यामता के आगे अमावस्या की अँधेरी फीकी लगने लगी। उसकी चोटी सटकाई लख नागिन अपनी केंचुली छोड़ सटक गई। भौंह की बँकाई निरख धनुष धकधकाने लगा, आँखों की बड़ाई ललकाई पेख मृग मीन खंजन खिसाय रहे।"

रीति काल का कला-सौष्ठव इस प्रकार की अलंकार-योजना के द्वारा 'प्रेम सागर' में पूरी तरह से निखर उठा है।

सदल मिश्र

सदलमिश्र बिहार के रहने वाले थे, आरा जिले के। इन्हें कलकत्ते के फोर्ट विलियम कालेज में जगह मिल गई और वहाँ उन्होंने 'नासिकेतोपाख्यान' नामक एक ग्रन्थ की रचना की थी। इस ग्रन्थ की भाषा में हमें प्रेमसागर की सी साहित्यिकता नहीं मिलती। उसकी भाषा अधिक व्यावहारिक है। उदाहरण देखिए :—

"इतने में जहाँ से सब सखी सहेली और जात भाइयों की स्त्री सब दौड़ी हुई आईं, समाचार सुन जुड़ाईं, मगन हो हो नाचने, गाने, बजाने लगीं और अगणित रुपया अन्न वस्त्र, राजा रानी ने ब्राह्मणों को बोला बोला दान दिया। आनन्द बधावा बाजने लगा। हर्षित हो नरेश ने वहाँ से सभा में जा ऋषि से कहा कि महाप्रभु आपने मेरा बड़ा कलंक मिटाया है।"

इतनी अधिक व्यावहरिकता हमें इससे पहले और किसी ग्रन्थ में देखने को नहीं मिलती। यही इस ग्रन्थ की महत्ता है।

इन चार गद्य-लेखकों के बाद हिंदी गद्य के निर्माण का कार्य एक विशेष काल तक ईसाई प्रचारकों के हाथों में रहा। ईसाई प्रचारकों ने प्रधानतया

'प्रेमसागर' के गद्य को आदर्श रूप में स्वीकार किया था, पर अपने निर्माण में यह कभी पूर्णतः सफल नहीं हो सके, सम्भवतः विदेशी होने के कारण। अंग्रेजी साम्राज्य जब हिंदी प्रदेश में पूर्णतः व्यवस्थित हो गया तो वहाँ भी गद्य-रचनाएँ प्रारम्भ हुईं। सर्वप्रथम प्रयत्न राजा शिवप्रसाद (१८२३ – १८९५) द्वारा हुए थे। वे अंग्रेजों द्वारा स्थापित शिक्षा-विभाग के प्रमुख अधिकारी थे, इसलिए अधिकतर इन्होंने शिक्षा-संस्थाओं के उपयोग के लिए ही ग्रन्थ-रचना की थी। शिक्षा संस्थाओं में प्रचार के लिए इन्होंने अरबी-फ़ारसी शब्द मिश्रित भाषा का ही प्रयोग किया। हिंदी भाषा उनको गँवारू जँची। वह अरबी-फारसी शब्दावली के प्रयोग की ओर झुकते गये। उन्होंने यहाँ तक कहा कि "उर्दू उनकी मातृ-भाषा होती जा रही है।" इसी दृष्टिकोण को सामने रखकर उन्होंने पाठ्य पुस्तकें लिखीं। उनका ध्येय हिंदी उर्दू के अन्तर को मिटा कर हिन्दुस्तानी प्रचलित करने का था जैसा कि निम्न उदाहरण से स्पष्ट है।

"लेकिन समझने की बात है कि वह इतने बड़े मुल्क का मालिक और राजाधिराज होकर भी इस कदर सीधा सादा और तपस्या ऐसी करता था कि नित एक चटाई पर सोता था और अपने हाथ शिप्रा नदी में से पानी क़ा तंबू भर कर ले आता था।" (हिन्दुस्तान के पुराने राजाओं का हाल) उनको एक फ़ारसी मिश्रित उर्दू का उदाहरण यह है—

"हर एक शख्श मुल्क लेने की नीयत पर मुत्तफिक हो गया।" (सिक्खों का उदय और अस्त)

इनके समकालीन राजा लक्ष्मणसिंह ने संस्कृत के ग्रन्थों के हिन्दी अनुवाद को अपना प्रधान उद्देश्य बनाया। भाषा के संबंध में उनका यह मत था— "हमारे मत में हिंदी और उर्दू दो बोली न्यारी-न्यारी हैं। हिंदी इस देश के हिन्दू बोलते हैं और उर्दू यहाँ के मुसलमान और पारसी पढ़े हुये हिन्दुओं की बोलचाल है।" राजा लक्ष्मणसिंह द्वारा किए गए 'अभिज्ञान शाकुन्तल', (१८६१) तथा 'मेघदूत' (१८८२) और रघुवंश (१८७८) के अनुवाद, जो विशुद्ध ब्रजमिश्रित खड़ी बोली में हैं, आज भी बड़ी रुचि से पढ़े जाते हैं।

इस प्रकार इसी काल से हिंदी की दो शैलियाँ प्रारम्भ होती हैं, एक वह जिस में अरबी फारसी शब्दों की प्रधानता रहती है और दूसरी वह जिसमें संस्कृत की शब्दावली की। इन्हीं दोनों लेखकों ने उस पृष्ठभूमि को पूर्णता प्रदान की थी जिसमें आकर भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की प्रतिभा ने अपना पूर्ण विकास किया।

भारतेन्दु-युगीन साहित्य

भारतेन्दु-कालीन साहित्य को अपने विकास में नव-निर्मित साहित्यिक-गोष्ठियों तथा नवप्रकाशित पत्र-पत्रिकाओं से विशेष बल मिला था। साहित्यिक-गोष्ठियों में उस काल के लेखकों तथा कवियों को नवीनधारा के संबन्ध में विचार विनिमय करने का अवसर मिलता था जो अंग्रेजों के साथ हमारे देश में आई थीं। ये साहित्यिक-गोष्ठियाँ साहित्य की सृष्टि में प्रयत्नशील थीं और नवीन विचार-धारा को भारतीयता का आवरण देकर उसे प्रचारित करने में अग्रसर थीं। नवीन साहित्यिक रूपों के प्रयोग के प्रयत्न भी सर्वप्रथम इन्हीं गोष्ठियों में प्रारम्भ हुए थे। स्वयं भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने 'कविता-वर्द्धिनी-सभा' तथा 'पेनी रीडिंग क्लब' की स्थापना की थी। प्रथम में जैसा उसके नाम से ही स्पष्ट है, काव्य-रचनाएँ पढ़ी जाती थीं और द्वितीय में निबन्ध आदि का पाठ होता था। आगे चलकर इस प्रकार की साहित्यिक-गोष्ठियों की संख्या विशेष बढ़ गई और उन्होंने राजसभाओं के नष्ट हो जाने के कारण मिटे हुए साहित्यिक केन्द्रों को नवीन वातावरण के उपयुक्त बनाकर फिर से प्रतिष्ठित कर दिया। इन साहित्यिक-गोष्ठियों की बैठकों में बड़ी सजीवता रहती थी। 'पेनी रीडिंग क्लब' में भारतेन्दु जी एक बार श्रान्त पथिक का रूप धर कर आए थे, दूसरी बार जब उन्होंने अपना 'चूसा पैगम्बर' शीर्षक निबन्ध पढ़ा तो उन्होंने पैगम्बर की ही वेश-भूषा धारण की थी। इस प्रकार के मनोरञ्जक आयोजन इन साहित्यिक-गोष्ठियों में प्रायः होते रहते थे।

साहित्यिक गोष्ठियाँ

हिंदी पत्र-पत्रिकाओं का विकास अधिकांश इन्हीं साहित्यिक-गोष्ठियों के प्रयत्न से हुआ था। किंतु हिंदी पत्र-साहित्य का जन्म भारतेन्दु काल के पहले

ही हो गया था। इस कारण यह लिखने के पूर्व कि किस प्रकार इन पत्र-पत्रिकाओं ने हमारे आलोच्यकालीन साहित्य के विकास को गति दी थी, हमें पहले उसकी पूरी परम्परा को देख लेना चाहिए। हिंदी का प्रथम समाचार पत्र पं० युगलकिशोर शुक्ल के प्रयत्न से सन् १८२६ की ३० मई को 'उदन्त मार्तण्ड' नाम से कलकत्ता से प्रकाशित हुआ था। उसकी भाषा सुगठित खड़ी बोली थी तथा उसमें प्रकाशित होने वाले समाचारों के विषय इस प्रकार थे:—'श्री श्रीमान् गवर्नर जेनरेल बहादुर का सभा वर्णन, फ्रांसीसी देश की खबर, टट्टू की बात, गवर्नर बहादुर की खबर, विलायती कपड़ा ग्राहकों की कमी के कारण ६ महीने से अधिक नहीं चल सका और ४ दिसम्बर १८२७ को बन्द हो गया।' सन् १८२६ में राजा राममोहन राय का 'बङ्गदूत' प्रकाशित हुआ। यह चार भाषाओं में निकलता था जिसमें एक हिन्दी भी थी। इसके बाद सन् १८३४ में 'प्रजामित्र' निकला। मध्य देश की सीमा के अंतर्गत प्रकाशित होने वाला हिंदी का प्रथम समाचार पत्र राजा शिवप्रसाद का 'बनारस अखबार' था, जो सन् १८४५ में प्रकाशित हुआ था। इस की छपाई लीथो मशीन से होती थी। इस समाचार पत्र की भाषा में फारसी शब्दावली की भरमार रहती थी; इसीलिए इसके विरोध में सन् १८५० में 'सुधाकर' निकला। 'सुधाकर' की भाषा संस्कृत-गर्भित होती थी। हिन्दी का प्रथम दैनिक-पत्र सन् १८५४ में 'समाचार सुधावर्षण' के नाम से कलकत्ते से प्रकाशित हुआ। हमारी जनता अभी तक समाचार पत्रों का उपयोग भली प्रकार नहीं समझ पाई थी; इस कारण ये सभी समाचार-पत्र केवल कुछ थोड़े समय तक ही जीवित रह पाये और फिर चौदह वर्षों तक श्री रामचन्द्र के निर्वासन की भाँति इनका प्रकाशन ही बन्द हो गया।

सन् १८६८ में स्वयं भारतेन्दु हरिश्चन्द्र द्वारा सम्पादित 'कवि-वचन-सुधा' पत्रिका प्रकाशित हुई। इसे हम हिन्दी की प्रथम पत्रिका कह सकते हैं। यह पहले मासिक-पत्रिका के रूप में निकली थी; उस समय इसमें केवल प्राचीन कवियों की रचनाएँ ही प्रकाशित होती थीं। बाद को यह पाक्षिक हो गई और इसमें आधुनिक पद्य-रचनाओं के साथ गद्य-रचनाएँ भी निकलने

लगीं। कुछ समय बाद यह एक सप्ताह में ही प्रकाशित होने लगी थी और इसमें सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक, प्रायः सभी प्रकार के लेख प्रकाशित होने लगे थे। इसके अतिरिक्त भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने 'हरिश्चन्द्र-चन्द्रिका' तथा 'बालाबोधिनी' नाम की दो पत्रिकाएँ और प्रकाशित की थीं। प्रथम तो साहित्यिक ही थी तथा द्वितीय स्त्री-शिक्षा से सम्बन्धित थी। पत्रिकाओं के प्रकाशन के बाद 'हिंदी-प्रदीप', 'काशी पत्रिका', 'ब्राह्मण' आदि कितनी ही पत्रिकाएँ प्रकाशित हुईं।

हिन्दी साहित्य इस प्रकार इन पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से ही नवीन साहित्यिक रूपों के प्रयोग में प्रयत्नशील हुआ था। प्रयोग की यह परम्परा भारतेन्दु हरिश्चन्द्र द्वारा प्रारम्भ की गई थी तथा एक विशेष काल तक चलती रही। इस कार्य में स्वयं भारतेन्दु जी ही संलग्न नहीं रहे वरन् उन्होंने दूसरों को भी इसमें संलग्न रक्खा। अपने प्रयोगों में उन्हें समय की परिस्थितियों को देखते हुए पर्याप्त सफलता भी मिली। श्री हरिश्चन्द्र ही अपने युग की सर्वश्रेष्ठ रचनात्मक प्रतिभा के प्रतीक थे। इसी कारण, इस काल के अध्ययन को हमने भारतेन्दु-कालीन साहित्य की संज्ञा दी है।

भारतेन्दुकाल के अध्ययन को हम काव्य-साहित्य के अध्ययन से प्रारम्भ करते हैं क्योंकि उसके पूर्व के हिन्दी साहित्य में हमें उसकी एक सुदृढ़ परम्परा देखने को मिलती है।

काव्य साहित्य

भारतेन्दु काल के अधिकांश में हमें काव्य-साहित्य की प्राचीन परम्परा का अवलम्बन ही मिलता है किन्तु समय के विकास के साथ नवीन वातावरण के प्रभाव से तथा अंग्रेजी साहित्य के संस्पर्श से कविता में नवीन भावनाओं का संचार होता गया और आगे चलकर उसने अपनी रूप-रेखा ही बदल दी। अंग्रेजों ने अपने आगमन के बाद हमारे आर्थिक शोषण का जो क्रम प्रारम्भ किया था, उसने हमारे दृष्टिकोण को विशेष रूप से यथार्थवादी

बना दिया और उस यथार्थ की अभिव्यक्ति के लिए विभिन्न साहित्यिक रूप हमें अंग्रेजी साहित्य के अध्ययन से ज्ञात हुए। परिवर्तन के इस क्रम में हिंदी कविता भी जो मुक्तकों में आबद्ध हो गई थी, वर्णनात्मक हो गई और उसके विषय भी बदल गए।

आधुनिक हिंदी काव्य में नवयुग का स्वर सर्वप्रथम भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की रचनाओं में मिलता है। उनका सम्बंध वल्लभ-सम्प्रदाय से विशेष रूप से था; इसलिए अधिकांश रचनाएँ तो उनकी कृष्ण-चरित्र सम्बन्धी हैं किन्तु साथ ही इन्होंने कुछ ऐसे भी विषयों पर काव्य-रचना की जो बिलकुल नए थे। उनमें से कुछ विषय इस प्रकार हैं:—श्री राजकुमार सुस्वागत पत्र, श्रीमान प्रिंस आव वेल्स के पीड़ित होने पर कविता, प्रात-समीरण, श्रीराजकुमार शुभागमन वर्णन, भारत-शिक्षा, जातीय संगीत आदि। इन सभी विषयों को देख कर ही यह स्पष्ट हो जाता है कि वे कला-काल के काव्य-विषयों से कितने भिन्न हैं। इन रचनाओं को पढ़ने से ज्ञात होता है कि आधुनिक काल में जीवन के प्रति जो एक व्यावहारिक दृष्टिकोण उत्पन्न हो रहा था कवि उसे अपनाने का प्रयत्न कर रहा है। साथ ही अपनी वर्तमान दीन-हीन अवस्था को देख कर अपने पुरातन के प्रति जो आस्था जाग्रत होती है तथा उससे वर्तमान के लिए शक्ति संग्रह करने की जो प्रवृत्ति उत्पन्न होती है, वह भी दृष्टिगत होती है। प्रकृति भी, जो कला-काल में केवल शृङ्गार रस के उद्दीपन के लिए ही उपयुक्त रह गई थी उस बन्धन से मुक्ति प्राप्त करती है। नीचे भारतेन्दु जी की 'प्रात-समीरण' कविता की कुछ प्रारम्भिक पंक्तियाँ देखिए :—

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र

मन्द मन्द आवै देखो प्रात समीरण
करत सुगन्ध चारों ओर विकीरन।
गात सिहरात तन लागत शीतल
रैन निद्रालस जन-सुखद चंचल॥

. . . .

नाचत आवत पात पात हिहिनात
तुरग चलत चाल पवन प्रभात।

सन् १८५७ के विद्रोह के पश्चात् देश में नवचेतना जाग्रत हो गयी थी। राष्ट्रीय भावना प्रबल हो गयी थी।

"भारत के भुज बल जन रच्छित
भारत विद्या लहि जग सिच्छित
भारत तेज जगत विस्तारा
भारत भय काँपत संसारा"

× ×

जय जयति सदा स्वाधीन हिन्द, जय जयति प्राचीन हिन्द

× ×

धन बिदेस चलि जात

× ×

अंगरेज को राज पाइकैं रहे कूढ़ के कूढ़

इसे पढ़ने से यह स्पष्ट हो जाता है कि किस प्रकार हिंदी-काव्य भारतेन्दु की रचनाओं में अपने लिए एक नया मार्ग बना रहा था। हिंदी कविता को अलंकारों के बोझ से मुक्त करने तथा उसमें यथार्थ वर्णन को प्रधानता देने का प्रयत्न इस प्रकार भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के ही द्वारा हुआ था।

बद्रीनारायण चौधरी 'प्रेमघन'

भारतेन्दुकाल में वर्णनात्मक-काव्य प्रधान रूप से बद्रीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' द्वारा लिखा गया। इनके कुछ काव्य-विषय हैं:—कलि काल तर्पण, पितर-प्रलाप, शोकाश्रु बिन्दु, मंगलाशा, हार्दिक हर्षादर्श, जीर्ण जनपद आदि। इन के काव्य-साहित्य में प्राचीन परंपरा में लिखी गई रचनाएँ कम ही मिलती हैं। 'कलि-काल तर्पण' की रचना इन्होंने सन् १८८३ में की थी तथा 'पितर-प्रलाप' की उसके दो वर्ष बाद। अपनी इन दोनों ही रचनाओं में इन्होंने भारत के प्राचीन गौरव का स्मरण किया है और अपनी आधुनिक अवस्था पर आँसू बहाये हैं। 'शोकाश्रु बिन्दु' सन् १८८५ में भारतेन्दु हरि-

श्चन्द्र की मृत्यु के बाद लिखा गया था। उसमें कवि ने भारतेन्दु की मृत्यु पर अपने उद्‌गार प्रकट किये थे। इस प्रकार हिंदी साहित्य में यह सर्वप्रथम 'एलेजी' अर्थात् 'शोक-काव्य' है। 'मंगलाशा' काव्य इन्होंने दादा भाई नौरोजी के पार्लियामेंट के सदस्य होने पर लिखा था। इसी प्रकार इन्होंने कुछ अन्य विशेष अवसरों पर भी काव्य-रचना की थी। महारानी विक्टोरिया की 'हीरक जुबली' के अवसर पर, नागरी के कचहरियों में प्रवेश पाने आदि पर। किन्तु इनकी सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण रचना 'जीर्ण जनपद' है जो यद्यपि लिखी तो सन् १९०९ में गई थी, किन्तु कवि का रचनाकाल प्रमुख रूप में भारतेन्दु युग में होने के कारण हम उसका उल्लेख यहीं कर रहे हैं। कवि ने इस रचना में अपने जन्मस्थान दत्तापुट की दुर्दशा का वर्णन किया है जो अंग्रेजी कवि गोल्ड-स्मिथ के 'डेज़र्टेड विलेज' के अनुकरण में है। नीचे हम इस काव्य-ग्रंथ की कुछ पंक्तियाँ उद्धृत करते हैं:—

> 'पहुँचे तहँ जहँ प्रतिवत्सर बहु बार जात हे।
> रहन सहन छूटे हूँ जेहि लखि नहिं अघात हे॥
> काम काज गृह अवलोकन, के स्वजन मिलन हित।
> व्याह बरातन हू मैं जाय रहे बहु दिन जित॥
> यद्यपि गए बहु बार हीन छवि होत अधिकतर।
> लखि ताकहँ अति सोच होत आवत हियरो भर॥'

हिन्दी कविता ने अपनी भावधारा तथा रूप-रेखा को इसमें पूर्णतः बदल दिया है।

प्रतापनारायण मिश्र

श्री प्रतापनारायण मिश्र ने भारतेन्दु कालीन काव्य-साहित्य को जीवन के सत्य से ओत-प्रोत किया था और वह सत्य व्यंग्य और विनोद से जितना मार्मिक बना है उतना ही मनोरंजन में भी। जीवन की छोटी-छोटी घटनाओं को लेकर अन्तर्निहित सत्य को इन्होंने जिस कौतूहल और हास्य के साथ उपस्थित किया है, उतनी सफलता के साथ भारतेन्दुकाल का कोई भी कवि प्रकट करने में समर्थ नहीं रहा। उनका अन्य साहित्यों से परिचय तो अधिक नहीं था किन्तु

जीवन का अध्ययन विशेष था। विपरीत परिस्थितियों से संघर्ष करते हुये मनुष्य इस संसार में सबसे अधिक सीखता है और प्रतापनारायण जी को भी इसी प्रकार जीवन को पहिचानने का अवसर मिला था। उनकी 'बुढ़ापा' शीर्षक कविता वास्तविक बुढ़ापे की करुणाजनक तसवीर ही है। अपने इस अनुभव के कारण वह देश-वासियों पर छाए हुए संकट को भी भली प्रकार समझने में समर्थ हो सके थे। अपनी "तृप्यंताम्" शीर्षक कविता में उन्होंने बड़े कठोर व्यंग्य के साथ आज की दीनता और भारत के अतीत गौरव को स्मरण किया हैं। नीचे हम उनकी 'क्रन्दन' शीर्षक कविता की कुछ पंक्तियाँ उद्धृत करते हैं :—

> तबहिं लख्यो जहँ रह्यो एक दिन कंचन बरसत।
> तहँ चौथाई जन रूखी रोटिहु की तरसत॥
> जहाँ कृषी वाणिज्य शिल्प सेवा सब माहीं।
> देसिन के हित कछू तत्व कहुँ कैसहु नाहीं॥
> कहिय कहाँ लगि नृपति दवे हैं जहँ ऋन-भारन।
> तहँ तिनकी धन कथा कौन जे गृही सधारन॥

इनके भीतर भावुकता का नहीं, जीवन-दर्शन का सत्य निहित है। प्रताप-नारायण जी की काव्य-प्रतिभा इतनी सजग थी कि एक बार जब उन्हें ग्राहकों से मूल्य न प्राप्त होने के कारण अपने पत्र 'ब्राह्मण' के बंद हो जाने का भय हो गया था तो उन्होंने 'हरगंगा' शीर्षक काव्य-रचना करके उसके चन्दे की याचना इस प्रकार की थी :—

> चार मास बीते जजमान।
> अब तो करो दच्छिणा दान॥ हर गंगा। इत्यादि

पं० अम्बिकादत्त व्यास ने अपने कवि-जीवन का आरंभ भारतेन्दु हरि-

श्चंद्र द्वारा स्थापित 'कवितावर्द्धिनी सभा' में किया था। इसी सभा से उन्हें 'पूरी अमी की कटोरिया-सी चिरजीवो सदा विक्टोरिया रानी' समस्या की पूर्ति पर पारितोषिक तथा प्रशंसा-पत्र मिला था। सुकवि की उपाधि भी इन्हें यहीं से प्राप्त हुई थी।

अम्बिका दत्त व्यास

अम्बिकादत्त व्यास की रचनाओं में हमें अंग्रेजी सभ्यता के प्रभाव में पले हुये लोगों पर बड़े तीखे व्यंग्य मिलते हैं :—

पहिरि कोट पतलून बूट अरु हैट धारि सिर।
भालू चरबी चरचि लवैंडर को लगाइ फिर।
नई विदेशी विद्या ही को मानत सर्बस,
संस्कृत के मृदु बचन लगत इनको अति कर्कस।

इसके साथ ही ये भारतीयता की भावना को जगाने के लिये भी प्रयत्नशील थे :—

अंगरेजी हम पढ़ी तऊ अंगरेज न बनि हैं।
पहिरि कोट पतलून चुरुट के गर्व न तनि हैं।
भारत में ही लियो जन्म भारत ही रहि हैं।
भारत के ही धर्म कर्म अरु विद्या गहि हैं।

इस प्रकार की भावधारा को व्यक्त करने के अतिरिक्त इन्होंने अतुकान्त-काव्य लिखने का प्रयत्न भी किया था, जिसमें यद्यपि इन्हें विशेष सफलता नहीं मिली थी, फिर भी सर्वप्रथम प्रयोग होने के कारण उस रचना का विशेष महत्त्व है।

भारतेन्दु युग में प्रकृति को उसके रीति-कालीन बन्धनों से पूर्णतः मुक्ति ठाकुर जगमोहनसिंह के रचनाओं में मिली थी। जगमोहनसिंह ने यह प्रेरणा संस्कृत काव्य-साहित्य के अध्ययन से प्राप्त की थी। अँग्रेजी कविताओं के अध्ययन से भी यह प्रवृत्ति उत्पन्न हो रही थी जो आगे चलकर श्रीधर पाठक की रचनाओं में व्यक्त हुई। ठाकुर जगमोहनसिंह ने अपनी रचनाओं में विंध्य-भूमि के रमणीय स्थलों के बड़े संश्लिष्ट चित्र खींचे तथा साथ ही उन स्थलों

ठाकुर जगमोहनसिंह

को देखने पर कवि के हृदय में जो भाव जाग्रत हुये उन्हें भी उन्होंने वर्णित किया है। यहाँ हम उनका दण्डकारण्य का भावना-चित्र प्रस्तुत करते हैं :—

"याही मग ह्वै कै गए दंडक बन श्री राम।
तासों पावन देश यह बिंध्याटवी ललाम॥
बिंध्याटवी ललाम तीर तरुवर सों छाई।
केतिक कैरव कुमुद कमल के बदन सुहाई॥
मन जगमोहनसिंह न शोभा जात सराही।
ऐसो बन रमणीय गए रघुबर मग माहीं॥

× × ×

जहँ गिरि अतिहि उतंग लसत शृङ्गन मन भाए।
जिन पै बहु मृग चरहिं मिष्ठ तृण नीर लुभाए॥
सघन वृच्छ तरुलता मिले गह्वर घर उलहत।
जिन में सूरज किरन पत्र रंध्रन नहिं निबहत॥

बालमुकुन्द गुप्त

श्री बालमुकुन्द गुप्त का कविता काल भारतेन्दु-युग के अन्तिम वर्षों में आता है। इस कारण उनकी रचनाओं में हमें वे सभी नवीनताएँ प्राप्त हो जाती हैं, जिनका प्रारम्भ भारतेन्दु तथा उनके बाद के आने वाले कवियों ने किया था। श्री गुप्त ने भी प्रारंभ में कुछ पुरानी धारा की रचनाएँ लिखी थीं। थोड़े से समय में ही इन्होंने नवीन धारा को उसकी सभी विशेषताओं के साथ अपना लिया, तथा उसमें कुछ अपना मौलिक योग भी दिया। इनके समय तक अंग्रेजी साम्राज्य अपनी आर्थिक शोषण की नीति से अपने प्रति समाज में विरोध की भावनायें उत्पन्न कर चुका था; इस कारण इनकी रचनाओं में हमें अँग्रेजों के प्रति उस प्रशंसा के उद्गार नहीं मिलते, जो भारतेन्दु आदि की रचनाओं में मिले थे। इन्होंने साम्राज्य के दमन-चक्र के नीचे हमारी टूटती हुई सांस्कृतिक, सामाजिक तथा आर्थिक व्यवस्था को देखा था और उसका वर्णन इन्होंने अपनी रचनाओं में बड़ी मार्मिकता के साथ किया। इनके मन में दीन-हीनों के प्रति

सहानुभूति की भावना इतनी प्रबल थी कि अँग्रेजों के साथ ही इन्होंने भारतीय धनिकों को भी आड़े हाथों लिया है :—

हे धनियो, क्या दीन जनों की नहिं सुनते हो हाहाकार;
जिसका मरे पड़ोसी भूखा उसके भोजन को धिक्कार।
हे बाबा, जो यह बेचारे भूखों प्राण गँवायेंगे;
तब कहिये क्या धनी गला कर अशर्फियाँ पी जायेंगे।
हे धनवानो, हा धिक किसने हर ली बुद्धि तुम्हारी है;
निर्धन उजड़ जायँगे तब फिर कहिये किसकी बारी है ?

यह मानवतावादी भावना इतने प्रबल रूप से भारतेन्दु-युग में केवल इन्हीं की रचनाओं में मिलती है। अपने गाँवों की प्राकृतिक सुषमा के प्रति भी इनके हृदय में पर्याप्त अनुराग था और उसका वर्णन भी इन्होंने स्थान-स्थान पर अपनी रचनाओं में किया है, विशेषरूप में अपनी 'वसन्तोत्सव' शीर्षक रचना में।

राधाचरण गोस्वामी, राधाकृष्णदास

भारतेन्दु-काल के अन्य कवियों में राधाचरण गोस्वामी तथा राधाकृष्णदास का नाम लिया जा सकता है; किन्तु उन्होंने इस काल के काव्य-साहित्य में कोई ऐसा मौलिक योग नहीं दिया था, जिसके कारण इनके विशेष उल्लेख की आवश्यकता हो। उनके अतिरिक्त भारतेन्दु युग की काव्य-धारा को अपने विकास के कुछ आर्य-समाजी कवियों से भी विशेष सहायता मिली थी जिनके नाम तो विशेष रूप से उल्लेखनीय नहीं हैं, किन्तु उस काल के सम्यक् ज्ञान के लिए उनकी रचनाओं की भावधारा से हमारा परिचित होना आवश्यक है। आर्यसमाजी होने के कारण इन्होंने किस प्रकार के विषय अपने लिये स्वीकार किये थे, यह निम्नलिखित पंक्तियों में देखा जा सकता है :—

"बाल-विवाह कुदान अंड बंड पूजा दहेज
स्त्रीशिक्षा दान व्याख्या आर्यसमाज की।

मनुष्य को उचित सब आपस में मेल राखैं
गृहस्ती को कार्य सब वेदानुकूल करिवो ॥"

इन विषयों पर लिखी गई रचनाएँ अधिकांश में प्रचार के लिये थीं, उनमें साहित्यिकता हो भी नहीं सकती। किन्तु उन्होंने हमारे समाज के विकास में योग दिया था, इसीलिये उनका उल्लेख यहाँ पर आवश्यक है।

इन्हीं नवीनताओं को लेकर भारतेन्दुकालीन कविता विकास के पथ पर अग्रसर हुई, किन्तु इसके साथ ही उस काल में रीतिकालीन काव्यधारा भी प्रवाहित होती रही जिसके प्रमुख कवियों में सरदार लछिराम आदि कवियों के नाम लिए जा सकते हैं। स्वयं भारतेन्दु जी की अधिकांश कविताएँ प्राचीन भाव-धारा को ही लेकर लिखी गई थीं। यह धारा धीरे-धीरे क्षीण होती जा रही थी, इसलिये इसके अस्तित्व का ही हमने केवल उल्लेख किया है और जो नवीन धारा अपने लिए मार्ग प्रशस्त करती हुई आगे बढ़ रही थी उसका विस्तृत परिचय दिया है।

नाट्य साहित्य तथा नाटककार

भारतेन्दु-काल में नाट्य-रचना प्रचुर मात्रा में हुई। वस्तुतः इसी काल से हिन्दी साहित्य में नाटकों का विकास प्रारम्भ होता है। संस्कृत-साहित्य में नाटक हमें बहुत बड़ी संख्या में मिलते हैं तथा उसमें नाट्य-शास्त्र सम्बन्धी साहित्य भी बहुत है जिसमें नाट्य-रचना के प्रारम्भ से लेकर अन्त तक सभी आवश्यकताओं की विस्तृत व्याख्या की गई है। संस्कृत नाट्य-साहित्य का निर्माण भारतीय इतिहास की प्रारम्भिक शताब्दियों में चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य तथा हर्षवर्धन जैसे सम्राटों की छत्र-छाया में हुआ था; इसी कारण जब इस प्रकार के सम्राट् ही नहीं रह गये तो नाट्य-रचना का भी लोप हो गया। प्रारम्भिक तथा मध्ययुग के सन्धिकाल में जब विभिन्न राजपूत वंशों का प्रभुत्व देश भर में बड़े-बड़े भू-भागों पर हो गया था, उस समय भी कुछ थोड़ी-बहुत

नाट्य साहित्य का संक्षिप्त परिचय

नाट्य-रचनाएँ की गई थीं जो संस्कृत तथा प्राकृत में थीं, किन्तु मुसलमानों के आगमन के साथ हमारी नाट्य-परम्परा का विकास पूर्णतः अवरुद्ध हो गया जो अंग्रेजी सभ्यता के आगमन से ही फिर से परिचालित हो सका। इस्लाम के धर्मग्रन्थों में विभिन्न कलाओं के प्रति मनुष्य के आकर्षण को बड़ी हीन दृष्टि से देखा गया है इसीलिये मुसलमान राजाओं की छात्र-छाया में हमारे इस साहित्यिक रूप का विकास नहीं हो सकता था।

हिन्दी साहित्य में आधुनिक काल के पूर्व भी नाट्य-रचनाएँ मिल जाती हैं, किन्तु वह नाम भर को ही नाटक हैं। इस काल में भी जनता ने अपनी रामलीला तथा कृष्ण लीला आदि में हमारी नाटकीय प्रवृत्ति को सुरक्षित रक्खा था और यह उसी का प्रभाव था कि उपयुक्त अवसर के आते ही वह अपने विकास के पथ पर अग्रसर हो सकी। अपने इस विकास में हिन्दी नाटकों को अंग्रेजी तथा उन्हीं के प्रभाव में लिखे गये बंगाली मराठी आदि नाटकों से भी विशेष सहायता मिली। संस्कृत नाट्य-साहित्य से परिचय भी इस विकास में सहायक सिद्ध हुआ।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के पूर्व प्राप्त होने वाले हिन्दी नाटकों की नामावली इस प्रकार है :—केशवदास कृत 'विज्ञान गीता', बनारसी दास कृत 'समय सार', प्राणचन्द चौहान कृत 'हनुमान महानाटक', प्रसिद्ध देव कवि नहीं किसी अन्य देवकृत 'देवमाया प्रपंच', कृष्ण जीवन कृत 'करुणाभरण', हृदय राम कृत 'हनुमान नाटक', यशवन्तसिंह कृत 'प्रबोध चन्द्रोदय', नेवाज कृत 'शकुन्तला', विश्वनाथ सिंह कृत 'आनन्द रघुनन्दन', गिरधरदास कृत 'नहुष' आदि। इस प्रकार यद्यपि हम इस नामावली को देख कर कह सकते हैं कि आधुनिक काल के पूर्व ही हिन्दी में भावात्मक, ऐतिहासिक तथा पौराणिक विषयों को लेकर नाट्य रचना होने लगी थी, तथापि जब हम इन रचनाओं को उनके वास्तविक रूप में देखते हैं तो इन्हें नाटक संज्ञा देने की इच्छा नहीं होती। 'आनन्द रघुनन्दन' को छोड़कर (जिसमें कुछ नाटकीयता है) अन्य रचनाएँ तो केवल वार्तालाप शैली में होने के कारण नाटक कह दी गई।

सामाजिक क्रांति का आह्वान हमें उनके 'नील देवी' नामक ऐतिहासिक गीति-रूपक में मिलता है। उसकी भूमिका में उन्होंने लिखा है :—"जिस भाँति अंग्रेज स्त्रियाँ सावधान होती हैं, पढ़ी लिखी होती हैं, घर का काम काज सँभालती हैं, अपने संतानगण को शिक्षा देती हैं, अपने स्वत्व को पहचानती हैं, अपनी जाति और अपने देश की सम्पत्ति-विपत्ति को समझती हैं, उसमें सहायता देती हैं और इतने समुन्नत मनुष्य-जीवन को गृह-दास्य और कलह में ही नहीं खोतीं, उसी भांति हमारी गृहदेवियाँ भी वर्तमान दीनावस्था को उल्लंघन करके कुछ उन्नति प्राप्त करें, यही लालसा है। इस उन्नति-पथ का अवरोधक हम लोगों की वर्तमान कुल-परम्परा मात्र है और कुछ नहीं है।" इसी आधार पर उन्होंने हमसे अपने सामाजिक दृष्टिकोण को बदलने के लिए कहा है।

राजनीतिक क्रांति की भावना को इन्होंने 'भारत-दुर्दशा' नाट्य रासक तथा 'भारत-जननी' गीति-नाट्य के द्वारा जगाने का प्रयत्न किया। 'भारत दुर्दशा' में भारत के प्राचीन गौरव का स्मरण है और आधुनिक परिस्थिति का बड़ा करुणापूर्ण वर्णन है। इसका अन्त निराशापूर्ण है, इस कारण हम इसे विशेष रूप से प्रभावोत्पादक नहीं कह सकते, किन्तु भारतेन्दु के संपूर्ण नाट्य साहित्य में यही अकेला रूपक दुखान्त है। इसी कारण इसका विशेष महत्व है। अपनी दूसरी राजनीतिक नाटकीय कृति 'भारत-जननी' में उन्होंने संभवतः अपनी इस दुर्बलता को पहचान लिया था। इसी कारण उसके अन्त में वे हमें भारत माता के मुख से राजनीतिक क्रान्ति का आह्वान कराते हुए मिलते हैं।

भारतेन्दु जी ने अपने 'सत्य हरिश्चन्द्र' नाटक में तो जैसे अपनी इन धार्मिक, तथा सामाजिक तथा राजनीतिक क्षेत्रों में क्रांति की आवश्यकता को एक साथ ही प्रदर्शित किया है, इसीलिए उनकी सभी रचनाओं में इसका भी स्थान विशेष महत्त्वपूर्ण है।

भारतेन्दु-कालीन नाट्य-साहित्य में अंग्रेजी नाट्यशास्त्र का प्रभाव हमें

प्रमुख रूप से लाला श्रीनिवासदास की रचनाओं में देखने को मिलता है, विशेषकर उनके 'रणधीर और प्रेम मोहिनी' नामक दुखांत नाटक में। अपने इस नाटक की भूमिका में इन्होंने कहा है कि इसे उन्होंने अंग्रेजी नाटकों के ढंग पर लिखा है। इस नाटक की कथावस्तु कल्पित है और मध्ययुग के राजकुमार तथा राजकुमारियों के प्रेमाख्यान से सम्बन्धित है, किन्तु इसमें प्राचीन स्वयंवर की प्रथा भी प्रदर्शित की गई है और आजकल के मनुष्यों की अर्थ-क्षुधा भी। इस प्रकार इस नाटक में सांस्कृतिक पृष्ठभूमि जैसे कुछ है ही नहीं। इस नाटक का महत्व विशेष रूप से इसलिए है कि इसमें अंग्रेजी नाटकों की भाँति प्रस्तावना आदि कुछ भी नहीं है तथा हिन्दी नाट्य-साहित्य की यह प्रमुख दुःखान्त कृति है। श्रीनिवास दास जी ने इसमें शेक्सपियर की ट्रेजेडी की भावना का अनुकरण करने का प्रयत्न किया था, जिसे प्रथम प्रयोग के रूप में हम किसी अंश तक सफल कह सकते हैं। इस नाटक के अतिरिक्त इनकी 'प्रहलाद-चरित्र', 'तप्तासंवरण' तथा 'संयोगिता-स्वयंवर' नाम की कुछ अन्य नाटकीय रचनाएँ भी मिलती हैं, किन्तु वे बहुत साधारण हैं।

लाला श्री निवास दास

बद्रीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' ने भी इस काल में चार नाटकों की रचना की थीः—'भारत सौभाग्य', 'प्रयाग रामागमन', 'वीरांगना रहस्य', तथा 'वृद्ध विलाप'। प्रथम रचना 'भारत सौभाग्य' को नाटक न कह कर महानाटक की संज्ञा दी जानी चाहिये। इसमें ५२ पुरुष तथा ४२ स्त्री पात्र हैं। भाषा भी पात्रों के अनुसार उर्दू, पंजाबी, मारवाड़ी, मराठी, बैसवाड़ी, भोजपुरी, बंगाली होती गई है। कथावस्तु सन् १८५७ के गदर से आरम्भ होकर हमारी राष्ट्रीय संस्था कांग्रेस की स्थापना तक जाती है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की 'भारत-दुर्दशा' तथा 'भारत-जननी' शीर्षक रचनाओं का इस पर स्पष्ट प्रभाव है। रंगमंच के लिए यह नाटक सर्वथा अयोग्य है। 'प्रयाग रामागमन' में इन्होंने राम तथा सीता के भरद्वाज आश्रम में आतिथ्य ग्रहण करने की कथा ली है। 'वीरांगना रहस्य'

बद्रीनारायण चौधरी 'प्रेमघन'

नाट्य-शास्त्र सम्बन्धी नियमों की उनमें पूर्ण अवहेलना है। मैथिली भाषा में अवश्य हमें प्रारम्भ से ही नाट्य-साहित्य की एक सुदृढ़ परम्परा मिल जाती है और उनमें नाट्य-शास्त्रीय नियमों का भी पालन किया गया है। स्वयं कवि विद्यापति के लिखे हुये हमें 'रुक्मणि हरण' तथा 'पारिजात हरण' दो नाटक मिलते हैं। इनके बाद लाल झा, भानुनाथ झा तथा हरनाथ झा आदि की रचनाएँ मिलती हैं। मिथिला पर मुसलमानों का प्रभुत्व स्थापित होने में समय लगा और उस समय तक नाट्य-रचना की परम्परा वहाँ स्थापित हो गई। मुसलमानों के आक्रमण तथा विजय के बाद उसमें एक व्याघात उत्पन्न हो गया, किन्तु जिस नाटकीय प्रतिभा का वहाँ जन्म हो चुका था, उसने नैपाल के हिन्दू राजाओं का आश्रय लेकर अपने को जीवित रक्खा। यह नाट्य-रचना हिन्दी प्रदेश की सीमा के अधिकतर बाहर ही हुई, इस लिए हम यहाँ उसका विस्तृत परिचय नहीं दे रहे हैं। आधुनिक काल के नाट्य-साहित्य के विकास को उसने किसी भी रूप में प्रभावित नहीं किया।

आधुनिक नाट्य-साहित्य के विकास में संस्कृत नाट्य-साहित्य का अध्ययन, अंग्रेजी तथा बंगला के नाटक-साहित्य से परिचय तथा नई स्थापित हुई नाटकीय संस्थाओं के प्रभाव का विशेष हाथ रहा है। राजा शिवप्रसाद तथा तथा लक्ष्मणसिंह ने सर्वप्रथम कालिदास के 'अभिज्ञान शाकुन्तल' के अनुवाद प्रस्तुत किए। उसके बाद भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने 'विद्या सुन्दर' नामक बंगाली नाटक का अनुवाद किया। उसके बाद और कितने ही बंगाली नाटकों के अनुवाद हुए। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र जी के मित्र श्री बालेश्वर प्रसाद ने 'शेक्सपियर' के नाटक 'मर्चेंट आव् वेनिस' का अनुवाद किया जो स्वयं भारतेन्दु द्वारा संशोधित होकर 'दुर्लभ बन्धु' के नाम से प्रकाशित हुआ। फिर तो शेक्सपियर के 'ऐज यू लाईक इट', 'टैम्पैस्ट', 'रोमियो जूलियट', 'ओथेलो' आदि के भी अनुवाद हुए। एडिसन के एक नाटक 'केटो' का भी 'केटो वृत्तांत' के नाम से एक अनुवाद प्रस्तुत किया गया था। नाटकीय संस्थाओं द्वारा प्रारम्भ में शेक्सपियर के नाटकों के ही निम्नकोटि के अनुवाद

रंगमंच पर प्रस्तुत किए गए थे और बाद में जो मौलिक नाटक प्रस्तुत किए गये, वे भी निम्नकोटि के ही थे।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की नाटकीय-रचनाओं में हम इन तीनों ही प्रभावों को घटित होते हुये देख सकते हैं। इनके द्वारा रचे गए नाटकों की संख्या पन्द्रह है। 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति', 'सत्य हरिश्चन्द्र', 'प्रेम जोगिनी', 'चन्द्रावली', 'विषस्य विषमौषधम्' 'भारत जननी', 'भारत दुर्दशा', 'नील देवी', 'सतीप्रताप', (अपूर्ण); इनकी मौलिक-रचनाएँ हैं :—'विद्या सुन्दर', 'धनञ्जय', 'पाखंड विडम्बन', 'कर्पूर मंजरी' तथा 'मुद्राराक्षस' अनुवाद हैं, प्रथम बंगला से तथा शेष चार संस्कृत नाटकों के। अपने मौलिक नाटकों में अधिकांश में उन्होंने रूप-रेखा संस्कृत नाटकों जैसी ही रक्खी है, किन्तु अन्तर्धारा के रूप में अंग्रेजी तथा बंगला नाटकों के प्रभाव को भी यथार्थ चित्रण की प्रधानता रख कर स्वीकार किया है। उन्होंने नाटकीयता के लिए अपने समय के रंग-मञ्च की सीमाओं की अवहेलना भी नहीं की।

भारतेन्दु हरिश्चंद्र

आधुनिक काल की सबसे बड़ी विशेषता जनता का जागरण और अपने विकास के पथ की ओर बढ़ना है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने अपने युग की इस विशेषता को पूर्णतः अपनाया था और यह उसी का परिणाम था कि उन्होंने अपने नाटकों में धार्मिक, सामाजिक तथा राजनीतिक क्रांति के दृश्य उपस्थित किए। धार्मिक क्षेत्र में क्रांति की आवश्यकता इन्होंने अपने 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' नामक प्रहसन में दिखाई। धर्म के नाम पर कितना अनाचार, पाखंड तथा आडम्बर हमारे समाज में फैला हुआ है, उसके ऊपर से जैसे उन्होंने आवरण उठा दिया। प्रहसन के अंत में उन्होंने 'भरत वाक्य' द्वारा धर्म से स्वार्थ की भावना के लोप तथा ईश्वर के चरणों में निश्छल भक्ति का उपदेश दिया है। 'चन्द्रावली' नाटिका में अपनी इसी धार्मिक भावना की जैसे उन्होंने अनुभूति से ओतप्रोत व्याख्या दी है। वे वल्लभ संप्रदाय के अनुयायी थे, इस कारण अपनी इस रचना में उन्होंने कृष्ण की माधुर्य भाव की उपासना को अपनाया।

सामाजिक क्रांति का आह्वान हमें उनके 'नील देवी' नामक ऐतिहासिक गीति-रूपक में मिलता है। उसकी भूमिका में उन्होंने लिखा है :—"जिस भाँति अंग्रेज स्त्रियाँ सावधान होती हैं, पढ़ी लिखी होती हैं, घर का काम काज सँभालती हैं, अपने संतानगण को शिक्षा देती हैं, अपने स्वत्व को पहचानती हैं, अपनी जाति और अपने देश की सम्पत्ति-विपत्ति को समझती हैं, उसमें सहायता देती हैं और इतने समुन्नत मनुष्य-जीवन को गृह-दास्य और कलह में ही नहीं खोतीं, उसी भांति हमारी गृहदेवियाँ भी वर्तमान दीनावस्था को उल्लंघन करके कुछ उन्नति प्राप्त करें, यही लालसा है। इस उन्नति-पथ का अवरोधक हम लोगों की वर्तमान कुल-परम्परा मात्र है और कुछ नहीं है।" इसी आधार पर उन्होंने हमसे अपने सामाजिक दृष्टिकोण को बदलने के लिए कहा है।

राजनीतिक क्रांति की भावना को इन्होंने 'भारत-दुर्दशा' नाट्य रासक तथा 'भारत-जननी' गीति-नाट्य के द्वारा जगाने का प्रयत्न किया। 'भारत दुर्दशा' में भारत के प्राचीन गौरव का स्मरण है और आधुनिक परिस्थिति का बड़ा करुणापूर्ण वर्णन है। इसका अन्त निराशापूर्ण है, इस कारण हम इसे विशेष रूप से प्रभावोत्पादक नहीं कह सकते, किन्तु भारतेन्दु के संपूर्ण नाट्य साहित्य में यही अकेला रूपक दुखान्त है। इसी कारण इसका विशेष महत्व है। अपनी दूसरी राजनीतिक नाटकीय कृति 'भारत-जननी' में उन्होंने संभवतः अपनी इस दुर्बलता को पहचान लिया था। इसी कारण उसके अन्त में वे हमें भारत माता के मुख से राजनीतिक क्रान्ति का आह्वान कराते हुए मिलते हैं।

भारतेन्दु जी ने अपने 'सत्य हरिश्चन्द्र' नाटक में तो जैसे अपनी इन धार्मिक, तथा सामाजिक तथा राजनीतिक क्षेत्रों में क्रांति की आवश्यकता को एक साथ ही प्रदर्शित किया है, इसीलिए उनकी सभी रचनाओं में इसका भी स्थान विशेष महत्त्वपूर्ण है।

भारतेन्दु-कालीन नाट्य-साहित्य में अंग्रेजी नाट्यशास्त्र का प्रभाव हमें

प्रमुख रूप से लाला श्रीनिवासदास की रचनाओं में देखने को मिलता है, विशेषकर उनके 'रणधीर और प्रेम मोहिनी' नामक दुखांत नाटक में। अपने इस नाटक की भूमिका में इन्होंने कहा है कि इसे उन्होंने अंग्रेजी नाटकों के ढंग पर लिखा है। इस नाटक की कथावस्तु कल्पित है और मध्ययुग के राजकुमार तथा राजकुमारियों के प्रेमाख्यान से सम्बन्धित है, किन्तु इसमें प्राचीन स्वयंवर की प्रथा भी प्रदर्शित की गई है और आजकल के मनुष्यों की अर्थ-क्षुधा भी। इस प्रकार इस नाटक में सांस्कृतिक पृष्ठभूमि जैसे कुछ है ही नहीं। इस नाटक का महत्व विशेष रूप से इसलिए है कि इसमें अंग्रेजी नाटकों की भाँति प्रस्तावना आदि कुछ भी नहीं है तथा हिन्दी नाट्य-साहित्य की यह प्रमुख दुःखान्त कृति है। श्रीनिवास दास जी ने इसमें शेक्सपियर की ट्रेजेडी की भावना का अनुकरण करने का प्रयत्न किया था, जिसे प्रथम प्रयोग के रूप में हम किसी अंश तक सफल कह सकते हैं। इस नाटक के अतिरिक्त इनकी 'प्रहलाद-चरित्र', 'तप्तासंवरण' तथा 'संयोगिता-स्वयंवर' नाम की कुछ अन्य नाटकीय रचनाएँ भी मिलती हैं, किन्तु वे बहुत साधारण हैं।

लाला श्री निवास दास

बद्रीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' ने भी इस काल में चार नाटकों की रचना की थीः—'भारत सौभाग्य', 'प्रयाग रामागमन', 'वीरांगना रहस्य', तथा 'वृद्ध विलाप'। प्रथम रचना 'भारत सौभाग्य' को नाटक न कह कर महानाटक की संज्ञा दी जानी चाहिये। इसमें ५२ पुरुष तथा ४२ स्त्री पात्र हैं। भाषा भी पात्रों के अनुसार उर्दू, पंजाबी, मारवाड़ी, मराठी, बैसवाड़ी, भोजपुरी, बंगाली होती गई है। कथा-वस्तु सन् १८५७ के गदर से आरम्भ होकर हमारी राष्ट्रीय संस्था कांग्रेस की स्थापना तक जाती है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की 'भारत-दुर्दशा' तथा 'भारत-जननी' शीर्षक रचनाओं का इस पर स्पष्ट प्रभाव है। रंगमंच के लिए यह नाटक सर्वथा अयोग्य है। 'प्रयाग रामागमन' में इन्होंने राम तथा सीता के भरद्वाज आश्रम में आतिथ्य ग्रहण करने की कथा ली है। 'वीरांगना रहस्य'

बद्रीनारायण चौधरी 'प्रेमघन'

में आज के दुर्दशा-ग्रस्त समाज का वास्तविक चित्र हमारे सामने रक्खा है जो सामाजिक क्रांति की भावना को उत्पन्न करता है। 'वृद्ध विलाप' एक साधारण सी कृति है।

श्री प्रतापनारायण मिश्र ने भी 'कलिकौतुक रूपक', 'संगीत शकुन्तला', 'भारत दुर्दशा', 'हटी हम्मीर', 'गोसंकट नाटक', 'कलि प्रभाव नाटक' तथा 'जुआरी खुआरी' प्रहसन की रचना की थी। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की भाँति हमें इनके नाटकों में भी धार्मिक, सामाजिक तथा राजनैतिक क्षेत्रों में क्रांति की आवश्यकता का प्रतिपादन मिलता है, किन्तु कला की दृष्टि से ये बहुत साधारण रचनाएँ हैं।

श्री प्रताप नारायण मिश्र

बालकृष्ण भट्ट के 'कलिराज की सभा', 'रेल का विकट खेल', 'बाल विवाह' तथा 'चन्द्र सेन', चार मौलिक नाटक प्राप्त हैं। किन्तु ये भी कला की दृष्टि से बहुत उत्कृष्ट रचनाएँ नहीं हैं।

बाल कृष्ण भट्ट

श्री केशवराम भट्ट ने केवल दो नाटक लिखे थे :—'सज्जाद सुम्बुल' तथा 'शमसाद-सौसन' यह दोनों नाटक जैसा उनके नामों से ही स्पष्ट है, मुसलमानी वातावरण को लेकर लिखे गये थे। इस कारण उनकी शब्दावली पर उर्दू का प्रभाव अधिक है। अंग्रेजी शिक्षा के कारण मध्यप्रदेश में जो एक नवीन सांस्कृतिक वातावरण का निर्माण हो रहा था, इस नाटक में उसका बड़ी सफलता-पूर्वक चित्रण हुआ है। प्रधान रस शृंगार है किन्तु उसके साथ ही हास्य का भी पुट दिया गया है। इन नाटकों की कथावस्तु बहुत सुसंगठित है तथा चरित्र चित्रण में प्रत्येक पात्र के व्यक्तित्व को निखारने का प्रयास किया गया है। कथोपकथन बहुत स्वाभाविक बन पड़े हैं। ये रचनाएँ रंगमंच पर बड़ी आसानी से प्रदर्शित की जा सकती हैं।

श्री केशवराम भट्ट

इनकी प्रथम नाटकीय रचना 'दुःखिनी बाला' हरिश्चन्द्र चंद्रिका में [प्र]काशित हुई थी। इसमें भारतीय विधवा की दयनीय दशा का वर्णन है।

राधाकृष्ण दास

इनकी दूसरी रचना 'पद्मावती' एक ऐतिहासिक नाटक है, जिसमें चित्तौड़ से रत्नसेन की महारानी पद्मावती के सौंदर्य पर आकर्षित होकर अलाउद्दीन के आक्रमण की प्रचलित कथा है। यह नाटक वीर रस पूर्ण है। नाटककार ने चरित्र-चित्रण में स्वाभाविकता तथा विषय के अनुरूप भाषा रखकर इसकी रचना में पूर्ण सफलता प्राप्त की है। इनकी तृतीय और सबसे अधिक महत्त्व-पूर्ण कृति 'महाराणा प्रतापसिंह' है। यह नाटक सात अङ्कों में समाप्त होता है। श्री राध-कृष्ण दास ने उस काल की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि देकर उसके ऊपर महाराणा प्रतापसिंह की स्वदेश प्रेम की भावना को दिखाने का सफल प्रयत्न किया है। अकबर, मानसिंह, प्रतापसिंह आदि सभी ऐतिहासिक पात्र उसमें आते हैं और अपनी अपनी विशेषताओं के साथ अलग अलग पहि-चाने जा सकते हैं। गुलाबसिंह और मालती की प्रेम-कथा, कठोर परिस्थि-तियों के साथ चलते हुए संघर्ष के बीच जैसे राजस्थान की मरुभूमि में स्रोतस्विनी की भांति प्रवाहित होती है। यह कथा कल्पित है किन्तु इसने जैसे सम्पूर्ण नाटक में एक नए जीवन का संचार कर दिया है। भाषा सदा विषय के अनुरूप मिलती है और यह नाटक पूर्णतः रंगमंच पर खेलने योग्य है। यह कई बार सफलता के साथ खेला भी जा चुका है। श्री राधाकृष्ण दास ने विभिन्न धार्मिक मत-मतांतरों के अनुयायियों को लेकर एक 'धर्मालय' नाम की रचना भी लिखी थी। उसमें कथावस्तु कुछ नहीं है इस कारण उसे वार्तालाप के रूप में निबन्ध कहना ही उपयुक्त होगा। यद्यपि नाटकीय रचना के रूप में हमें उसका बहुत से स्थानों पर उल्लेख मिलता है।

यही भारतेन्दु युग के प्रमुख नाटककार हैं। इनके अतरिक्त श्री निवास दास के रणधीर, प्रेम मोहनी, किशोरी लाल गोस्वामी के मयङ्कमंजरी महा-

नाटक, देवकीनन्दन खत्री के सीताहरण नाटक, रामलीला नाटक, कंसबध नाटक; नंदोत्सव नाटक; लक्ष्मी सरस्वती मिलन नाटक, प्रचंड गोरक्षण नाटक; बाल विवाह नाटक, गोवध निषेध नाटक; खड्गबहादुर मल के रतिकुसमायुध नाटक; महारास नाटक; हरितालिका नाटक; भारत ललना नाटक; कल्पवृक्ष नाटक; अम्बिकादत्त व्यास के ललिता नाटक; गोसंकट नाटक; मन की उमंग नाटक; भारत सौभाग्य नाटक; बलदेव प्रसाद मिश्र के मीराबाई, नंदबिदा नाटक; तोताराम वर्मा का विवाह विडम्बन; दामोदर शास्त्री का रामलीला; ज्वालाप्रसाद मिश्र का सीतावनवास; छगनलाल का सत्यवती नाटक; दुर्गाप्रसाद का प्रभास मिलन नाटक हैं जिनकी कथा वस्तु जैसा कि उनके शीर्षक से प्रकट है या तो पौराणिक घटना पर आश्रित है अथवा समाज सुधार की भावना है। ये सब कला की दृष्टि से साधारण कोटि के हैं। इस काल के सम्पूर्ण नाट्य-साहित्य को देखकर यह स्पष्ट हो जाता है कि इस थोड़े से समय में प्रायः सभी प्रकार के नाटकों की रचना होने लगी थी। पौराणिक, धार्मिक, सामाजिक, ऐतिहासिक सभी प्रकार के विषय लिये गये थे। संस्कृत नाटकों की सुखान्त भावना के साथ अंग्रेजी नाटकों की दुःखान्त भावना भी अपनाई गई थी। गीतिनाट्यों की भी रचना हुई थी। आधुनिक काल में रंगमंच की स्थापना हुई। संवत् १७७० में Bombay Green पहला थियेटर बम्बई में स्थापित हुआ। सन् १८४२ में जगन्नाथ शङ्करनाथ ने Private Theatre खोला। १८७० में Original Theatrical Company खुली इनमें विशेष सहयोग पारसी कम्पनियों का था जिनमें प्रमुख— Indian Imperial Theatrical Company; Indian Opera Theatrical Company, Parsi Jublie Theatrical Company थीं।

(हाशिये पर: भारतेन्दु युग के अन्य नाटककार)

फिर भी उत्कृष्ट नाटकों की संख्या बहुत ही कम थी और इसका सब से बड़ा कारण पारसी नाट्य-संस्थाओं के निम्न कोटि के रङ्गमञ्च का प्रभाव था।

कथा साहित्य

हिन्दी के कथा-साहित्य का विकास नाटकों की भाँति भारतेन्दु युग से ही आरम्भ होता है, किन्तु उसके पूर्व भी हमें उसके कुछ रूप देखने को मिल जाते हैं। इंशा अल्ला खां की 'रानी केतकी की कहानी' तो अपने नाम से ही कथा साहित्य के अन्तर्गत आ जाती है। लल्लू लाल जी का 'प्रेमसागर' तथा सदल मिश्र का 'नासिकेतोपाख्यान' भी कथाएँ ही हैं। किन्तु भारतेन्दु युग में विकसित होने वाला कथा-साहित्य इस सूत्र से उत्पन्न नहीं हुआ था। उस पर अँग्रेजी के उपन्यास की भावना छाई हुई थी। कहानियों में भी अँग्रेजी की (लघुकथा) 'शार्ट स्टोरीज़' की भावना उत्पन्न होने के लिये प्रयत्नशील थी। हिन्दी कथा-साहित्य को अपने जन्म तथा विकास के इस उद्योग में अँग्रेजी साहित्य के अतिरिक्त बङ्गला साहित्य, संस्कृत कथा-साहित्य तथा फारसी कथा-साहित्य से भी सहायता मिली थी। इन्हीं सामूहिक प्रभावों के फलस्वरूप भारतेन्दु युग के कथा-साहित्य का विकास हुआ है।

हिंदी के सर्वप्रथम मौलिक उपन्यासकार लाला श्रीनिवासदास जी हैं। उन्होंने केवल एक उपन्यास लिखा था 'परीक्षागुरु'। इस उपन्यास की भूमिका में उन्होंने यह स्पष्ट लिख दिया है कि यह अंग्रेजी उपन्यासों के अनुकरण में रचित एक कृति है। उपन्यास का प्रारम्भ चेस्टरफील्ड के एक वाक्य से होता है और फिर सम्पूर्ण उपन्यास के कलेवर में तो शेक्सपियर, काऊपर कई अंग्रेजी कवियों की कवितायों के अंश अनुवादित रूप में मिलते हैं। लेखक ने उपन्यास के प्रत्येक पात्र को एक अलग व्यक्तित्व प्रदान किया है। जीवन के प्रति एक व्यावहारिक दृष्टिकोण अपनाने की भावना को लेखक ने विशेष प्रश्रय दिया है। श्रीनिवास दास जी को सांसारिकता का अनुभव विशेष रूप से था और उसे उन्होंने आदर्श की भावना से अनुप्राणित कर विशेष सबल बना दिया है। इस उपन्यास में एक बहुत बड़े रईस की कथा है जो चारों ओर चाटुकारों से घिर कर पतन के गर्त में गिरता जाता है। अन्त

श्रीनिवास दास

में अपने परिवार के एक अभिभावक द्वारा, जो सदा से उसे सचेष्ट करता रहा था, वह फिर सही रास्ते पर आता है। यद्यपि यह उपन्यास अंग्रेजी भावधारा को लेकर लिखा गया है तथापि उसमें संस्कृत के कथा-साहित्य की उपदेशात्मक प्रवृत्ति भी व्याप्त है। स्थान-स्थान पर लम्बे-लम्बे उपदेश दिये गये हैं। फिर भी भारतेन्दु-कालीन जीवन की धारा का बड़ा यथार्थरूप हमें इसमें प्रवाहित होता हुआ मिलता है जो उस समय के किसी भी उपन्यास में नहीं मिलता।

श्री राधाकृष्ण दास ने भारतेन्दु हरिश्चन्द्र द्वारा लिखे गये निम्नलिखित कथा-साहित्य का उल्लेख किया है:—

(१) रामलीला (गद्य पद्य;), (२) हमीर हठ (अपूर्ण), (३) राजसिंह (अपूर्ण), (४) एक कहानी कुछ आप बीती कुछ जग बीती (अपूर्ण), (५) सुलोचना, (६) मदालसोपाख्यान, (७) पूर्ण प्रकाश (मराठी से अनूदित)।

श्रीनिवास दास जी के 'परीक्षा गुरु' का जीवन-प्रवाह बहुत नीरस है, संभवतः उसी की प्रतिक्रिया के रूप में ठाकुर जगमोहन सिंह जी ने 'श्यामा स्वप्न' नामक एक सरस उपन्यास की रचना की थी। यह

ठाकुर जगमोहन सिंह

कल्पना-प्रधान उपन्यास है और इसके अतिरिक्त इसमें श्यामा तथा श्याम सुन्दर की प्रेम-कथा है यह अन्य किसी आधार पर उपन्यास नहीं कहा जा सकता। उपन्यास के पात्र भी वास्तविक जगत के नहीं, स्वप्नलोक के प्राणी हैं। विंध्य भूमि के प्राकृतिक दृश्यों का चित्रण अवश्य बड़ा मोहक है। इस उपन्यास की भाषा बाणभट्ट की कादम्बरी का स्मरण दिलाती है।

ठाकुर जगमोहनसिंह के 'श्यामा-स्वप्न' के प्रकाशन के बाद श्री किशोरीलाल गोस्वामी की रचनाओं का प्रकाशन आरम्भ होता है। सन् १८८६ में 'लवंगलता' प्रकाशित हुई और उसके बाद 'स्वर्गीय कुसुम', 'त्रिवेणी', 'प्रणयिनी', 'हृदय हारिणी' आदि कितने ही उपन्यास प्रकाशित हुये, जिससे भारतेन्दु युग का साहित्य विशेष समृद्धिशाली हुआ।

श्री किशोरीलाल ने अपने उपन्यासों की रचना के लिए बङ्गला साहित्य से प्रेरणा ग्रहण की थी। प्रायः उनके उपन्यासों के नाम तक बंगाली हैं : 'लवंगलता', 'प्रणयिनी परिणय' आदि। इनके उपन्यासों

श्री किशोरीलाल

की भाव-धारा विशेषरूप से नारी-पुरुष के पारस्परिक अनुराग को लेकर चलती है। जीवन के अन्य किसी अंग पर प्रकाश डालने का जैसे इन्हें अवसर ही न मिला हो। इनकी रचनाओं पर रीतिकालीन साहित्य का विशेष प्रभाव मिलता है। अपनी एक रचना में तो इन्होंने विभिन्न अध्यायों के शीर्षक कामशास्त्र के आधार पर दिये हैं। कला की भावना भी इनके मन में पर्याप्त मात्रा में थी जो इनके 'माधवी-माधव' उपन्यास में विभिन्न अध्यायों के नामकरण 'अंकुर', 'पल्लव', 'शाखा', 'पुष्प', 'सुरभि', 'पराग', 'फल', 'मधु', 'आस्वादन', और 'परितृप्ति' में दृष्टिगोचर होती है। इन्होंने सामाजिक तथा ऐतिहासिक दोनों ही प्रकार के उपन्यास लिखे और उनमें विभिन्न पात्रों को अपनेपन के साथ प्रगट होने का भी अवसर दिया। इनकी रचनाओं में दोष यही है कि इन्होंने उसमें काम-भावना की अभिव्यक्ति को प्रधानता दे दी है, जिससे कुछ सम्माननीय ऐतिहासिक पात्रों के साथ खिलवाड़ हो गया है। इनकी रचनाओं में उस ऐय्यारी तथा तिलस्म का प्रारम्भिक रूप भी मिल जाता है, जिसे अपनी रचनाओं में प्रमुखता देकर श्री देवकीनंदन खत्री आगे चलकर प्रसिद्ध हुए।

श्री किशोरीलाल की रचनाओं से ही वस्तुतः हिंदी उपन्यास का विकास प्रारम्भ होता है। उन्होंने हिंदी उपन्यास की रूपरेखा का निर्माण तथा उसमें प्राण-प्रतिष्ठा की। साहित्य के इस नवीन रूप को जन-साधारण के बीच प्रचलित करने का कार्य अभी रह गया था जिसे श्री देवकी नंदन खत्री ने अपने ऐय्यारी तथा तिलस्मी उपन्यासों तथा श्री गोपाल राम गहमरी ने जासूसी उपन्यासों से पूर्ण किया। श्री किशोरीलाल जी द्वारा प्रारम्भ की गई उपन्यास की परम्परा को आगे चल कर श्री प्रेमचंद ही बढ़ा सके।

श्री देवकीनंदन के उपन्यासों की संख्या दस तक जाती है किंतु उनमें, चंद्रकांता, चंद्रकांता संतति तथा भूतनाथ ही विशेष प्रसिद्ध हैं। उनकी अपनी मौलिक प्रतिभा विशेष रूप से इन्हीं में प्रकट हुई है। ये उपन्यास कल्पना-प्रधान हैं और लेखक की कल्पना-शक्ति इन रचनाओं में घटनाओं के निर्माण और फिर उन्हें एक साथ संबंधित करने में दिखाई देती है। इन रचनाओं में कौतूहल और चमत्कार ही देखने को मिलता है जो साधारणतः अन्य किसी उपन्यास में देखने को नहीं मिलता। इन उपन्यासों के पात्र क्षण भर में ही कहीं भी पहुँच सकते हैं, जल पर चल सकते हैं और पृथ्वीतल में भी प्रवेश कर सकते हैं। जीवन की कोई भी सीमा जैसे उन्हें रोक नहीं सकती। किन्तु लेखक की मनुष्य होने के नाते कुछ अपनी सीमाएँ तो थीं ही : उसके सामाजिक आदर्श-सत्य का पक्ष-ग्रहण, नारी की पवित्रता आदि। उसके पात्र भी इन आदर्शों से आबद्ध हैं। चन्द्रकांता आदर्श हिंदू नारी है। किसी भी परिस्थिति में वह अपने आराध्य देव को छोड़ कर, उनके मिलने की विशेष आशा न रहने पर भी, अन्य किसी के प्रति अनुरक्त नहीं होती। सत्य का पक्ष-ग्रहण करने वाले पात्रों में वीरेन्द्र सिंह को लिया जा सकता है। इस प्रकार वे रचनाएँ हमारा केवल मनोरञ्जन ही नहीं कर करतीं वरन् हमें अपने जीवन-निर्माण के कार्य में भी सहायता पहुँचाती हैं। इन उपन्यासों के निर्माण में विशेष रूप से 'तिलस्म होशरूबा' का हाथ कहा जाता है, किंतु मेरा अपना विचार है, उस पर संस्कृत के कथा-साहित्य का ही विशेष प्रभाव रहा होगा। बाण की कादम्बरी का प्रभाव तो स्पष्ट ही है।

श्री देवकीनन्दन खत्री

श्री देवकी नंदन के अन्य उपन्यासों के नाम हैं:—'वीरेन्द्र वीर', 'नरेन्द्र मोहिनी', 'कुसुम कुमारी', 'नौलखा हार', 'गुप्त गोदना', 'काजर की कोठरी' तथा 'अनूठी बेगम'। इनमें भी घटना-वैचित्र्य ही देखने को मिलती है।

श्री गोपालराम गहमरी ने अपनी रचनाओं से हिंदी उपन्यास के पाठकों

का क्षेत्र अधिक विस्तृत कर दिया। इन्होंने अँगरेजी के जासूसी उपन्यासों को पढ़कर हिंदी में भी जासूसी उपन्यासों का एक बहुत बड़ा ढेर लगा दिया। सन् १८६४ में इन्होंने जासूसी रचनाओं की एक मासिक पत्रिका प्रारम्भ की थी जिसका नाम-करण इन्होंने 'गुप्त-कथा' अँग्रेजी के 'मिस्ट्री टेल्स' के आधार पर ही किया था। इन रचनाओं में उनका बुद्धि-चातुर्य विशेष रूप से लक्षित होता है। गुप्तचर धीरे धीरे एक एक सूत्र पकड़ता हुआ अंत में वास्तविक अपराधी को अपने वशीभूत कर लेता है। सामान्य पाठकों को इस प्रकार की रचनाओं से विशेष मनोरञ्जन मिलता है। इन रचनाओं में चरित्र-चित्रण तो केवल गुप्तचरों का ही मिलता है और वह भी एकांगी—केवल उसके बुद्धि-वैभव का चित्रण, जो वास्तव में केवल लेखक के ही अपने बुद्धि-वैभव का चित्रण है। श्री गहमरी ने कुछ सामाजिक उपन्यासों की भी रचना की थी किंतु वे विशेष सफल नहीं हैं।

श्री गोपाल राम गहमरी

भारतेन्दु काल के अन्य उपन्यासकारों में सर्वश्री बालकृष्ण भट्ट, अंबिका दत्त व्यास; राधाकृष्ण दास का भी नाम लिया जा सकता है। बालकृष्ण भट्ट ने नूतन ब्रह्मचारी, सौ अजान एक सुजान, रत्नचन्द्र प्लीडर, नूतन चरित्र, अंबिकादत्त व्यास ने आश्चर्य वृतांत; राधाकृष्ण-दास ने निःसहाय हिंदू उपन्यास लिखे। इसके अतरिक्त हनुमंत सिंह का चंद्रमा; कार्तिकेय प्रसाद खत्री—ऐतिहासिक जया, गोकुलनाथ शर्मा का पुष्पवती; आदि उपन्यास लिखे गये।

अन्य उपन्यासकार

इस युग में बंगला और अँग्रेजी साहित्य और संस्कृत साहित्य के नाटकों के अनुवाद हुये।

भारतेन्दु ने बंकिम कृत 'राजसिंह' राधाकृष्ण दास ने तारकचंद्र कृत स्वर्णलता, प्रतिप्राण, अबला और बंकिमकृत राधारानी; गदाधर सिंह ने बंकिम कृत 'दुर्गेशनंदिनी', राधाचरण गोस्वामी ने सरन कुमारी घोष कृत दीप निर्वाण और विरजा' प्रताप नारायण मिश्र ने बङ्किम कृत 'युगलांगुलीय', 'कपाल कुण्डला' के अनुवाद हिंदी में किये। काशीनाथ शर्मा ने संस्कृत के अनुरूप

चतुर सखी; सावित्री सत्यवान, दुष्यंत शकुन्तला और ध्रुव की तपस्या आदि उपन्यास लिखे। किंतु उसे राजा शिवप्रसाद के 'राजा भोज का सपना' कहानी के अनुरूप कहानी कहना ही उपयुक्त होगा। कहानी साहित्य का निर्माण इस काल में अधिक नहीं मिलता है, कारण अभी तक हिंदी लेखकों के सामने कहानी-कला का रूप पूर्णतः स्पष्ट नहीं हो पाया था। अँग्रेजी लेखक लैंब के द्वारा लिखी गई शेक्सपियर के नाटकों की कहानियों के अनुवाद से (जिसे १८८३ में काशीनाथ खत्री ने प्रकाशित किया था) कहानियों की कुछ रूप-रेखा सामने अवश्य आ रही थी।

निबन्ध साहित्य तथा निबन्धकार

हिंदी साहित्य के इतिहास में निबन्धों की परम्परा भी भारतेन्दु काल से प्रारम्भ होती है और उसके सूत्रपात में अँग्रेजी साहित्य के संस्पर्श का विशेष हाथ था। निबंध लिखने की एक अपनी रीति होती है। किसी विषय को लेकर अपने अनुभव तथा अध्ययन के आधार पर अपने विचारों को एक शृङ्ख-लित रूप में रखना ही निबंध की कसौटी है। इस प्रकार की रचनाओं में लेखक के व्यक्तित्व के भी व्यक्त होने की आवश्यकता है; तभी निबंध में मौलिकता आती है। हिंदी के प्रारम्भिक निबंधों में यद्यपि हमें इस आदर्श के दर्शन नहीं होते तथापि उनकी प्रारम्भिक अवस्था तो देखने को मिल ही जाती है।

भारतेन्दु हरिश्चंद्र स्वयं ही अपने युग के पहले निबंधकार हैं। इनके लिखे हुए निबंधों के शीर्षक इस प्रकार हैं:—'हम मूर्ति पूजक हैं', 'श्रुति-रहस्य', 'सूर्योदय', 'होली', 'मित्रता', 'भूकम्प', 'अपव्यय', 'सङ्गीतसार' आदि। ये प्रायः सभी 'कवि-वचन-सुधा', 'हरिश्चंद्र चंद्रिका', 'बालाबोधिनी' आदि पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हुये थे और धार्मिक, सामाजिक तथा राजनीतिक विषयों पर लेखक के विचारों को व्यक्त करते थे। भारतेन्दु जी ने अपनी अन्य साहित्यिक रूपों की रचनाओं में भाषा का रूप बड़ा प्रवाह-युक्त रक्खा है;

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र

किंतु निबंधों को पढ़ने से ऐसा लगता है जैसे लेखक एक-एक वाक्य को सोच-सोच कर लिख रहा हो।

भारतेन्दु हरिश्चंद्र के बाद इस काल के निबंध लेखकों में श्री बालकृष्ण भट्ट का नाम आता है। उनके प्रायः सभी निबंध 'हिन्दी प्रदीप' नामक पत्रिका में प्रकाशित हुये थे, जिसका सम्पादन ये स्वयं ही करते थे। भट्ट जी के निबंधों के कुछ शीर्षक इस प्रकार हैं :—'सभ्यता और साहित्य', 'कल्पना शक्ति', 'आत्म निर्भरता', 'धर्म का महत्त्व', 'मनुष्य की बाहरी आकृति मन की एक प्रतिकृति है', 'चंद्रोदय', 'संभाषण', 'इंगलिश पढ़े सो बाबू होए', 'पैसा', 'नहीं', 'प्रीति' आदि। इन शीर्षकों में गम्भीर, भावात्मक, विवरणात्मक, व्यंग्यपूर्ण सभी प्रकार के विषय हैं। अपने इन निबंधों में भट्ट जी ने बड़ी आत्मीयता के साथ स्वच्छंद और स्वाभाविक रूप से अपने विचारों का प्रतिपादन किया है। निबंध-लेखक का सब से बड़ा गुण सत्य की अभिव्यंजना है जो भट्ट जी की रचनाओं में पर्याप्त मात्रा में देखने को मिलती है। भाषा भी इनकी रचनाओं में भावों की अनुगामिनी हुई है। अपने भावों की अभिव्यक्ति के लिए भट्ट जी कहीं से भी शब्द-चयन कर लेते थे। उनके निबंधों में अरबी-फारसी शब्दों के साथ अँग्रजी शब्द भी बहुत बड़ी संख्या में मिलते हैं। भट्ट जी के निबंधों के पढ़ने से एक और विशेष बात ज्ञात होती है। वह यह कि उनमें पांडित्य प्रदर्शन की उतनी अभिलाषा नहीं है जितनी मन के विचारों को व्यक्त करने की। सामान्य विषयों में भी लेखक ने अपने मनोविज्ञान से सरसता का सञ्चार कर दिया है; स्थान-स्थान पर व्यंग्य तथा विनोद का पुट देकर उन्होंने निबंधों को मनोरञ्जक भी बना दिया है।

भारतेन्दु युग के निबंधकारों में श्री बालकृष्ण भट्ट के साथ ही श्री प्रताप नारायण मिश्र का नाम लिया जाता है। प्रताप नारायण जी प्रधानतया पत्रकार थे। उनके अधिकांश लेख उन्हीं के द्वारा सम्पादित 'ब्राह्मण' पत्र के अग्रलेख के रूप में प्रकाशित हुए थे। उन निबंधों के विषय इस प्रकार हैं :—'उपाधि', 'प्रताप-चरित्र', 'नां', 'नास्तिक', 'अपव्यय', 'आप', 'बालक', 'युवावस्था', 'कांग्रेस की जय', 'धरती माता', 'पेट', 'वज्र मूर्ख', आदि। इन

प्रताप नारायण मिश्र

सभी निबंधों में हमें भट्ट जी की गंभीरता नहीं मिलती वरन् बात-चीत का हल्कापन देखने को मिलता है। मिश्र जी भारतेन्दु युग के सबसे अधिक जागरूक लेखकों में थे। उनके निबंधों में हिन्दी, हिन्दू तथा हिन्दुस्तान की भावना स्पष्टतः लक्षित होती है। किंतु उनकी प्रसिद्धि विशेष रूप से उनके निबंधों में पाई जाने वाली हास्य तथा विनोद की भावना से हुई। उनका विनोद और हास्य कभी-कभी उपहास की सीमा को पहुँच जाता है। उनके निबंधों में केवल हँसाने; मनोरंजन करने की प्रवृत्ति है। उन्हें पढ़ने के बाद मन पर किसी प्रकार का प्रभाव शेष नहीं रह जाता। फिर भी उनके निबन्धों में उनका जो व्यक्तित्व निखर उठा है तथा गम्भीर से गम्भीर बात को भी जो उन्होंने बड़े सरल ढंग से कह दिया है, उसके कारण भारतेन्दु काल के निबंध-लेखकों में उनका प्रमुख स्थान है।

बद्री नारायण चौधरी प्रेमघन

इस काल के अन्य निबंध लेखकों की भाँति श्री बद्रीनारायण चौधरी ने भी अपनी निबंध-रचनाएँ स्वसम्पादित 'आनंद कादंबिनी' नामक पत्रिका में प्रकाशित की थीं। उनके लिखे हुए निबंधों के शीर्षक इस प्रकार हैं:—'हमारी मसहरी', 'फाल्गुन', 'मित्र', 'ऋतु-वर्णन', 'परिपूर्ण पावस', आदि। ये सभी निबन्ध पद्यात्मक गद्य में हैं और इस कारण उनमें एक अपनी विशेषता है। उनकी लेखन-शैली में अलंकार योजना की प्रधानता है, सीधे तथा सरलरूप में जैसे उन्हें कुछ कहना ही न आता हो। हिंदी साहित्य में समालोचनात्मक रचनाओं का सूत्रपात भी उन्हीं के द्वारा हुआ था। श्री निवास दास जी के 'संयोगिता-स्वयंवर' नाटक की उन्होंने बड़ी सुन्दर तथा वैज्ञानिक आलोचना लिखी थी। यदि उनके सम्पूर्ण निबंधों पर कृत्रिमता का वातावरण न होता तो उनकी गणना भी भारतेन्दु-युग के उत्कृष्ट निबंधकारों में होती।

भारतेन्दु युग के अन्य निबंधकारों में सर्वश्री अंबिकादत्त व्यास, ठाकुर जगमोहनसिंह, श्रीनिवास दास, राधाचरण गोस्वामी आदि का नाम लिया जा सकता है। भारतेन्दु युग के अंतिम काल में बालमुकुन्द गुप्त के भी बड़े

सुन्दर तथा भावपूर्ण निबन्ध प्रकाशित होने लगे थे; किंतु उनकी प्रतिभा का पूर्ण विकास आगे के युग में ही हुआ, इस कारण हम उनके सम्बन्ध में आगे के पृष्ठों में ही लिखेंगे।

पत्र पत्रिकायें

पत्र पत्रिकाओं का आरम्भ

भारत में अंग्रेजों द्वारा मुद्रण कला के प्रसार द्वारा पत्र पत्रिकाओं को प्रोत्साहन मिला। सन् १७७८ में ऐंड्रूज़ द्वारा हुगली (कलकत्ता) में प्रेस स्थापित हुआ और प्रथम हिकीज गजट सन् १७८० में निकला। सन् १८१६ में बंगला का दिग्दर्शन पत्र निकला। भारतेन्दु के पूर्व हिंदी साहित्य में दो पत्र निकले। श्रीयुगलकिशोर द्वारा १८२६ में 'उदन्त मार्तण्ड' और १८५० में 'साम्पदन्त मार्तण्ड' और राजशिवप्रसाद द्वारा "बनारस अखबार" पत्र निकले।

भारतेन्दु काल का अधिकांश साहित्य, जैसा हमने प्रारम्भ में ही लिखा है, उस युग में नव-प्रकाशित मासिक या पाक्षिक पत्रों के लिए लिखा गया था। इस कारण यहाँ पर उनके सम्बंध में भी कुछ लिख देना आवश्यक है। भारतेन्दु जी द्वारा सम्पादित 'कवि-वचन सुधा', 'हरिश्चन्द्र चंद्रिका' तथा 'बाला-बोधिनी', श्री बालकृष्ण भट्ट द्वारा सम्पादित 'हिंदी प्रदीप' तथा श्री प्रतापनारायण मिश्र तथा श्री बद्रीनारायण चौधरी द्वारा सम्पादित क्रमशः 'ब्राह्मण' और 'आनंद कादम्बिनी' का उल्लेख ऊपर हो चुका है। इस पत्र-साहित्य को देखकर लोगों को उसका मूल्य ज्ञात हुआ और सन् १८६२ तक उनकी संख्या १३६ हो गई। इनमें से एक त्रैमासिक पत्रिका, ८० मासिक पत्रिकाएँ ३६ पाक्षिक, १७ साप्ताहिक तथा दो दैनिक पत्रिकाएँ थीं। दैनिक पत्रों में 'भारतोदय' कानपुर से सन् १८८५ में प्रकाशित हुआ और 'हिंदोस्तान' उसी वर्ष कालाकांकर से। प्रमुख साप्ताहिक पत्रों के नाम थे :— 'काशी पत्रिका', 'उचित वक्ता', 'भारत बन्धु', 'सुधाकर', 'हिंदी बंगवासी' आदि; 'विज्ञ वृन्दावन', 'सर्वहित', 'सारस्वत-प्रकाश' साप्ताहिक पत्र थे।

ग्यारहवाँ प्रकरण

आधुनिक काल

[सं० १६०० से प्रारम्भ]

द्विवेदी युग

पृष्ठ भूमि

पाश्चात्य साहित्य के सम्पर्क में आकर जिन नवीन साहित्यिक रूपों की अवतारणा हुई थी उनके प्रयोग भारतेंदु युग में प्रारम्भ हो चुके थे। आगे के काल में उन विभिन्न साहित्यिक रूपों की प्रगति पूर्णता की ओर हुई। इस पूर्णता के आदर्श पाश्चात्य साहित्य में तो थे ही, बंगला साहित्य में भी थे क्योंकि बंगभूमि पर पाश्चात्य प्रभाव बहुत पहले से कार्य करता आ रहा था। हिंदी के साहित्यकारों ने इन साहित्य के आदर्शों का अनुकरण करते हुए अपना स्वतन्त्र पथ निर्धारित करने का प्रयत्न भी किया। यदि उन्होंने इस पथ का अनुसरण न किया होता तो संभवतः हमें भी पाश्चात्य साहित्य की भाँति शताब्दियों तक उद्योग करना पड़ता और तब कहीं हम आज की अवस्था को पहुँच पाते। यह कार्य दो दशाब्दों में ही हो गया। अनुकरण की प्रवृत्ति इस काल में विशेष रूप से पाश्चात्य तथा बंगला साहित्य से अनुवाद करने ही में दिखाई दी। इस काल का अधिकांश गद्य-साहित्य अंग्रेजी तथा बंगला की रचनाओं का अनुवाद ही है मौलिक रचानाएँ भी हुई किंतु वे थोड़ी सी ही हैं।

कविता के क्षेत्र में इस युग की सबसे बड़ी समस्या थी भाषा की। भारतेंदु युग के कवियों ने उसे नये विषय दिए थे, वर्णनात्मकता दी थी तथा अलंकारों के भार से मुक्त किया था। कविता मध्ययुगीन कृत्रिमता को छोड़कर स्वाभाविकता के पथ पर अग्रसर हो गई थी, किंतु उसका परिधान अभी पुराना ही था। ब्रज-भाषा ही अभी तक कवि की भावनाओं की अभिव्यक्ति का माध्यम बनी हुई थी और इस पुराने परिधान के साथ कुछ पुरानी भावधारा भी अभी तक चली आ रही थी। भारतेंदु जी ने काव्य-भाषा को बदलने के कुछ प्रयोग किए थे, किंतु वैष्णव होने के कारण उन्हें ब्रजभाषा के साथ बहुत अधिक मोह था और सम्भवतः इसीलिए उन्हें अपने प्रयोग में सफलता नहीं मिली। उनके समकालीन अन्य कवियों ने भी इस प्रकार के प्रयोग किए किंतु सबसे अधिक उल्लेखनीय प्रयोग उनके बाद हमें श्रीधर पाठक का मिलता है जिन्होंने मध्ययुगीन तथा आधुनिक दोनों ही भाषाओं को अपनी रचनाओं में स्थान दिया था। पाठक जी सामंजस्यवादी थे। उन्होंने इसीलिए ब्रजभाषा तथा खड़ी बोली दोनों का सम्मिश्रण अपनी रचनाओं में प्रस्तुत किया। किंतु आवश्यकता थी पूर्ण परिवर्तन की। यह कार्य श्री महावीर प्रसाद द्विवेदी के उद्योग से पूर्ण हुआ।

काल

हिंदी कविता की भावधारा में भी इस काल में कुछ नवीनता आई थी। उसका कारण था, अंग्रेजी की उच्च शिक्षा प्राप्त कर कुछ व्यक्तियों का हिंदी साहित्य के क्षेत्र में आना। सन् १८८७ में प्रयाग विश्व-विद्यालय की स्थापना हुई थी। उसके उद्योग के फलस्वरूप प्रतिवर्ष अंग्रेजी शिक्षा-प्राप्त व्यक्तियों की संख्या मध्य देश में बढ़ती जाती थी। उसमें से कुछ हिंदी साहित्य को अपने अध्ययन से लाभान्वित करने के लिए भी प्रयत्नशील हुए। हिंदी साहित्य में उनके द्वारा होने वाले परिवर्तन का क्रम वस्तुतः सन् १८६० से आरम्भ होता है जब पं० श्रीधर पाठक, पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी आदि ने अपने साहित्यिक उद्योग प्रारम्भ किए थे। हिंदी कविता में स्वच्छन्दतावादी भावधारा सर्वप्रथम

विचारधारा में परिवर्तन

'पीयूष प्रवाह', 'वनिता हितैषी', 'भारतेन्दु' आदि मासिक पत्र-पत्रिकाओं की प्रतियाँ अब सरलता से प्राप्त नहीं होतीं, जिसमें हमारी बहुत सी साहित्यिक कृतियाँ (जो उस समय इन पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हुई थीं) आज लोप हो गई हैं। 'हिंदी प्रदीप' 'हरिश्चन्द्र चन्द्रिका' आदि की जो कुछ प्रतियाँ मिलती हैं उनमें हमारे कितने ही नाटक, उपन्यास, निबन्ध आदि हैं जो पुस्तकाकार में अभी तक प्रकाशित नहीं किये जा सके। यदि ये सब प्रकाशित हो जायँ तो भारतेन्दु काल के साहित्य का परिमाण और मूल्य आज से कहीं अधिक बढ़ जायगा।

जीवनी साहित्य

इन विभिन्न साहित्यक रूपों के अतिरिक्त भारतेन्दु काल में कुछ इतिहास तथा जीवनवृत्त-लेखन के प्रयोग भी मिलते हैं। भारतेंदु के पूर्व नाभादास कृत भक्तमाल; बाबा वेणीमाधवदास कृत 'गोसांई चरित' जैसे भक्तों की जीवनियाँ उपलब्ध थीं। इतिहास ग्रंथों की रचना का प्रारम्भ राजा शिवप्रसाद ने 'इतिहास तिमिर नाशक' लिख कर किया था। उसके बाद भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की ऐतिहासिक रचनाएँ आती हैं :—'काश्मीर कुसुम', 'बादशाह दर्पण' आदि। जीवनवृत्तों के लेखन की परम्परा प्रबुद्ध काल में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के द्वारा ही प्रारम्भ की गई : 'जयदेव का जीवन चरित्र' 'प्रसिद्ध महात्माओं के जीवन-चरित्र' आदि। जीवन-वृत्त लेखन की परम्परा को इस काल में मुन्शी देवी प्रसाद तथा श्री राधाकृष्णदास ने और आगे बढ़ाया। इन दोनों ही लेखकों ने जीवन वृत्त विशेष प्रयत्न से लिखे हैं। देवी प्रसादजी ने तो 'मीरा' को छोड़ कर अधिकांश में ऐतिहासिक महापुरुषों के ही जीवन वृत्त लिखे : मानसिंह, मालदेव, उदय सिंह, जसवंत सिंह, प्रतापसिंह, आदि। श्री राधाकृष्ण दास जो 'बाप्पा रावल' को छोड़कर (जो एक ऐतिहासिक पुरुष हैं) अधिकांश में साहित्यिक महापुरुषों में जीवन-चरित्र लिखे हैं : उदाहरण स्वरूप नागरी दास, बिहारीलाल, सूरदास, भारतेंदु हरिश्चन्द्र। इन जीवन-वृत्तों में विशेषता यह है कि ये नवीन शिक्षा के आलोक में लिखे

गये थे, इनमें किंवदन्तियों में प्रसिद्ध अलौकिक घटनाओं को विशेष प्रश्रय नहीं दिया गया है।

संपूर्णतः भारतेंदु काल की यही साहित्यिक प्रगति है। ऊपर के पृष्ठों को पढ़ने से यह स्पष्ट हो जाता है कि इस काल में गद्य-साहित्य की रचना विशेष रूप से हुई और उसमें मध्ययुगीन भावना थोड़ी सी भी नहीं है। काव्य-साहित्य में अभी अवश्य प्राचीनता के प्रति विशेष मोह चला आ रहा था। वह मोह किस प्रकार टूटा, इसका विवरण आगे के पृष्ठों में दिया जायगा।

आधुनिक समालोचना का सूत्रपात पत्र पत्रिकाओं द्वारा आरम्भ हो गया। भारतेंदु हरिश्चन्द्र ने 'कविवचन सुधा', हरिश्चंद्र मैगजीन और मुद्राराक्षस नाटक में तथा प्रताप नारायण मिश्र ने 'ब्राह्मण पत्र में सर्व प्रथम समालोचनायें प्रकाशित की। सन् १८८६ में बालकृष्ण भट्ट ने हिंदी प्रदीप' में आलोचना प्रकाशित की। १८८६ में श्री बद्री नारायण चौधरी 'प्रेमघन' ने 'आनंद' में समालोचना की। इस प्रकार समालोचना का जन्म भारतेंदु युग में आरम्भ हो गया। मुद्रण कला द्वारा इसमें विशेष सहायता मिली। समालोचना अधिकतर परिचयात्मक ही रहती थी। उनमें साहित्यकता के स्थान पर रचनात्मकता अधिक थी।

समालोचना

———

ग्यारहवाँ प्रकरण

आधुनिक काल

[सं० १९०० से प्रारम्भ]

द्विवेदी युग

पाश्चात्य साहित्य के सम्पर्क में आकर जिन नवीन साहित्यिक रूपों की अवतारणा हुई थी उनके प्रयोग भारतेंदु युग में प्रारम्भ हो चुके थे। आगे के काल में उन विभिन्न साहित्यिक रूपों की प्रगति पूर्णता की ओर हुई। इस पूर्णता के आदर्श पाश्चात्य साहित्य में तो थे ही, बंगला साहित्य में भी थे क्योंकि बंगभूमि पर पाश्चात्य प्रभाव बहुत पहले से कार्य करता आ रहा था। हिंदी के साहित्य-कारों ने इन साहित्य के आदर्शों का अनुकरण करते हुए अपना स्वतन्त्र पथ निर्धारित करने का प्रयत्न भी किया। यदि उन्होंने इस पथ का अनुसरण न किया होता तो संभवतः हमें भी पाश्चात्य साहित्य की भाँति शताब्दियों तक उद्योग करना पड़ता और तब कहीं हम आज की अवस्था को पहुँच पाते। यह कार्य दो दशाब्दों में ही हो गया। अनुकरण की प्रवृत्ति इस काल में विशेष रूप से पाश्चात्य तथा बंगला साहित्य से अनुवाद करने ही में दिखाई दी। इस काल का अधिकांश गद्य-साहित्य अंग्रेजी तथा बंगला की रचनाओं का अनुवाद ही है मौलिक रचानाएँ भी हुई किंतु वे थोड़ी सी ही हैं।

पृष्ठ भूमि

काल

कविता के क्षेत्र में इस युग की सबसे बड़ी समस्या थी भाषा की। भारतेंदु युग के कवियों ने उसे नये विषय दिए थे, वर्णनात्मकता दी थी तथा अलंकारों के भार से मुक्त किया था। कविता मध्ययुगीन कृत्रिमता को छोड़कर स्वाभाविकता के पथ पर अग्रसर हो गई थी, किंतु उसका परिधान अभी पुराना ही था। ब्रज-भाषा ही अभी तक कवि की भावनाओं की अभिव्यक्ति का माध्यम बनी हुई थी और इस पुराने परिधान के साथ कुछ पुरानी भावधारा भी अभी तक चली आ रही थी। भारतेंदु जी ने काव्य-भाषा को बदलने के कुछ प्रयोग किए थे, किंतु वैष्णव होने के कारण उन्हें ब्रजभाषा के साथ बहुत अधिक मोह था और सम्भवतः इसीलिए उन्हें अपने प्रयोग में सफलता नहीं मिली। उनके समकालीन अन्य कवियों ने भी इस प्रकार के प्रयोग किए किंतु सबसे अधिक उल्लेखनीय प्रयोग उनके बाद हमें श्रीधर पाठक का मिलता है जिन्होंने मध्ययुगीन तथा आधुनिक दोनों ही भाषाओं को अपनी रचनाओं में स्थान दिया था। पाठक जी सामंजस्यवादी थे। उन्होंने इसीलिए ब्रजभाषा तथा खड़ी बोली दोनों का सम्मिश्रण अपनी रचनाओं में प्रस्तुत किया। किंतु आवश्यकता थी पूर्ण परिवर्तन की। यह कार्य श्री महावीर प्रसाद द्विवेदी के उद्योग से पूर्ण हुआ।

विचारधारा में परिवर्तन

हिंदी कविता की भावधारा में भी इस काल में कुछ नवीनता आई थी। उसका कारण था, अंग्रेजी की उच्च शिक्षा प्राप्त कर कुछ व्यक्तियों का हिंदी साहित्य के क्षेत्र में आना। सन् १८८७ में प्रयाग विश्व-विद्यालय की स्थापना हुई थी। उसके उद्योग के फलस्वरूप प्रतिवर्ष अंग्रेजी शिक्षा-प्राप्त व्यक्तियों की संख्या मध्य देश में बढ़ती जाती थी। उसमें से कुछ हिंदी साहित्य को अपने अध्ययन से लाभान्वित करने के लिए भी प्रयत्नशील हुए। हिंदी साहित्य में उनके द्वारा होने वाले परिवर्तन का क्रम वस्तुतः सन् १८९० से आरम्भ होता है जब पं० श्रीधर पाठक, पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी आदि ने अपने साहित्यिक उद्योग प्रारम्भ किए थे। हिंदी कविता में स्वच्छन्दतावादी भावधारा सर्वप्रथम

हमें इन्हीं दो व्यक्तियों की रचनाओं में देखने को मिलती है। प्रकृति के प्रति भी इनका दृष्टिकोण भारतेंदु काल के कवियों से पूर्णतः बदला हुआ है।

नवीन गद्य लेखकों का निर्माण

इस काल की सबसे बड़ी विशेषता है: बहुत बड़ी संख्या में हिंदी गद्य के लेखकों का निर्माण होना। ये लेखक अधिकांश में तो अंग्रेजी पढ़कर ही आते थे किंतु कुछ ऐसे भी थे जिन्हें बंगला तथा मराठी आदि अन्य भारतीय साहित्यों का ज्ञान भी प्राप्त था। हिंदी गद्य का निर्माण किन नियमों के आधार पर होना चाहिए, इसका उन्हें कुछ भी ज्ञान नहीं होता था। हिंदी गद्य के निर्माण के नियम अभी बने भी तो नहीं थे। पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी 'सरस्वती' का सम्पादन अपने हाथों में लेकर इसके लिए प्रयत्नशील हुए। उन्होंने हिंदी गद्य को व्याकरण-सम्मत रूप दिया। कितने ही निबन्ध जो 'सरस्वती' में छपने के लिए आते थे, द्विवेदी जी को फिर से लिखने पड़ते थे। वे भाषा को एकरूपता देना चाहते थे, जिससे वह साहित्य के विकास में गतिशीलता उत्पन्न कर सके। उनके इस प्रयोग से यद्यपि लेखक का अपना व्यक्तित्व उसकी रचनाओं में नहीं निखर पाया तथापि भाषा का रूप शुद्ध हो गया। आगे चलकर उसमें लेखक को अपने व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति के लिए भी मार्ग मिल गया।

इस काल के सबसे अधिक उद्योगशील व्यक्ति गद्य तथा पद्य दोनों ही शैलियों के निर्माण में प्रधानतः द्विवेदी जी ही थे। इस कारण इस युग का नामकरण उन्हीं के नाम पर हुआ है।

काव्य साहित्य

इस काल में हिन्दी कविता को अपने विकास में अंग्रेजी कविता, संस्कृत-काव्य-साहित्य, हिन्दी की अपनी पुरानी काव्य-धारा तथा बंगला कविता से विशेष सहायता मिली थी। इस युग में अंग्रेजी कवियों ने वर्ण्य विषय प्रधान रूप से पोप, गोल्डस्मिथ तथा वर्ड्सवर्थ की रचनाओं ने विशेष प्रभावित किया। संस्कृत-काव्य-साहित्य के वर्णवृत्त छन्दों तथा प्रकृति के प्रति दार्शनिक दृष्टिकोण को इस काल के

हिन्दी कवियों ने विशेष अपनाया। हिन्दी की पुरातन काव्य-धारा पर रीति-ग्रंथों का प्रभाव विशेष रूप से दिखाई देता है। बंगला कविता की नवीन प्रवृत्तियों का प्रभाव, विशेष रूप से रवीन्द्र नाथ के नोबुल पुरस्कार प्राप्त करने के बाद, पड़ना प्रारम्भ हुआ, जब सहसा समस्त देश की आँखें उस महान् प्रतिमा की ओर उठ गई थीं। इन साहित्यिक प्रभावों के अतिरिक्त इस काल की हिन्दी कविता को आर्यसमाज के सुधार आंदोलन तथा कांग्रेस के द्वारा उत्पन्न किये गये राजनीतिक-जागरण से भी शक्ति मिली थी। इन दोनों प्रभावों के अन्तर्गत लिखी गई कविताओं में स्थायित्व की मात्रा अधिक नहीं है फिर भी एक ऐतिहासिक अनुशीलन में उनका उल्लेख होना तो आवश्यक है ही।

श्रीधर पाठक का कवि जीवन सन् १८८२ से आरम्भ होता है, जब उन्होंने अपनी कविताओं का प्रथम संग्रह 'मनोविनोद' प्रकाशित किया था।

श्रीधर पाठक

उसी के कुछ समय बाद उन्होंने अंग्रेजी कवि गोल्डस्मिथ के दो काव्य-ग्रन्थों 'दी ट्रेवलर' और 'डेजेर्टेड-विलेज' के अनुवाद 'श्रांत पथिक' तथा 'ऊजड़ ग्राम' के नाम से प्रकाशित किये। अंग्रेजी कवि पर्नेल के कथाकाव्य 'हरमिट' का 'एकांतवासी योगी' के नाम से अनुवाद भी उस समय प्रकाशित हुआ था। सन् १८८७ में प्रकाशित होने वाली उनकी कविता 'जगत सचाई सार' भी प्रसिद्ध अमरीकी कवि लांगफेलो की एक काव्य-रचना की प्रतिकृति थी। सन् १९०० से उनकी मौलिक रचनाओं का प्रकाशन प्रारम्भ होता है जब उनकी 'धन विनय' तथा 'गुणवंत हेमंत' शीर्षक रचनाएँ प्रकाशित हुई थीं।

पाठक जी की कविताओं की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उनमें व्यक्तिगत भावनाएँ स्वाभाविकता के साथ व्यक्त होती हैं। अपनी निज की अभिव्यक्ति कविता को एक गीतात्मकता दे देती है और इनकी रचनाओं में यह प्रचुर मात्रा में है। भारतेन्दु युग की कविता में भी कवि की निज की भावनाएँ देखने को मिल जाती हैं, किन्तु उनकी अभिव्यक्ति वर्णनात्मक ढंग से है। आधुनिक गीतिकाव्य की परम्परा वस्तुतः पाठक जी की रचनाओं से ही प्रारम्भ होती है। इसके अतिरिक्त पाठक जी के हृदय में प्रकृति के

रमणीय स्थलों के प्रति भी पर्याप्त अनुराग था। यह उनकी 'काश्मीर सुषमा' तथा 'देहरादून' आदि रचनाओं से स्पष्ट है। समाज-सुधार तथा राष्ट्रीय-जागरण की भावनाओं को भी लेकर इन्होंने कुछ रचनाएँ लिखी थीं। उनमें इनके भावुक हृदय की संवेदनशीलता पर्याप्त मात्रा में देखने को मिलती है:—

"बीता कातिक मास शरद का अन्त है,
लगा सकल सुखदायक ऋतु हेमंत है।
थोड़े दिन को बैल परिश्रम से थमे,
रब्बी के लहलहे नए अंकुर जमे।

×   ×   ×

दुखी बाल विधवाओं की जो है गति,
कौन सके बतला किसकी इतनी मती।
जिन्हें जगत की सब बातों से आन है,
दुःख-सुख मरना-जीना एक समान है।
जिनको जीते जी दी गई तिलांजली,
उनकी कुछ हो दशा किसी को क्या पड़ी।

इस उद्धरण की प्रथम दो पंक्तियों से इनका प्रकृति के प्रति परिवर्तित दृष्टिकोण भी हमारे सामने स्पष्ट हो जाता है। पाठक जी ने कुछ अंग्रेजी छन्दों को हिन्दी में लाने के प्रयोग भी किये थे। अन्त्यानुप्रास-रहित छन्दों की रचना भी इनके द्वारा बड़ी सुन्दर बन पड़ी है।

महावीर प्रसाद द्विवेदी

श्री महावीर प्रसाद द्विवेदी वास्तव में इस युग के निर्माता हैं। उन्होंने हिन्दी के गद्य तथा काव्य साहित्य को उसके आगे का पथ बताया तथा अन्य साहित्यकारों को उस ओर उन्मुख भी किया, किन्तु वे स्वयं अधिकांश में पथ-निर्देशक ही बने रहे। इनकी कविताएँ तथा गद्य-रचनाएँ परिमाण में अधिक होते हुये भी साहित्यिक उत्कृष्टता से पूर्ण नहीं हैं। उन्हें नवीन पथ के निर्माणकर्त्ता के रूप में ही देखना चाहिये। द्विवेदी जी की प्रथम काव्य-

रचना 'विद्याविनोद' सन् १८८६ में प्रकाशित हुई थी; उसके तीन वर्ष बाद 'देवी स्तुति' छपी। द्विवेदी जी ने अंग्रेजी तथा संस्कृत की काव्य-रचनाओं का विशेष अध्ययन किया था और वे दोनों ही की भावना सम्पत्ति को लेकर अपने युग की कविता का निर्माण करना चाहते थे। उन्होंने संस्कृत के कई काव्य-ग्रन्थों के अनुवाद भी किये थे। संस्कृत के वर्णवृत्त छंदों की ओर सर्व-प्रथम उन्होंने ही हमारा ध्यान आकर्षित किया था। सामान्य मानवता पर प्रथम महत्वपूर्ण काव्य द्विवेदी जी ने सरस्वती में "सरगौ नरक ठिकाना नाहिं" नामक कविता में निकाला।

अचकनु पहरि बूट हम डाँटा बाबू बनेन डेरात डेरात।
लागेन आवै जाय सभन माँ, कण्ठु फूट तब बना बतात।
जब तक हमरे तन माँ तनिकौ रहा गाऊँ के रस का अंसु।
तब तक हम अखबार किताबैं लिख लिख कीन उजागर बंसु।

रीति-कालीन विषयों को छोड़कर नए विषयों को काव्य-रचना के लिए अपनाने की प्रवृत्ति को भी उन्होंने उत्साहित किया; किन्तु सबसे अधिक महत्वपूर्ण उद्योग उसका गद्य और काव्य की भाषा को एक करना था। इससे आधुनिक हिन्दी कविता को अपने विकास में विशेष शक्ति मिली।

द्विवेदी जी ने हिन्दी कविता के निर्माण के लिये जिन सिद्धान्तों का प्रति-पादन किया था उन्हें श्री मैथिलिशरण गुप्त ने अपनी रचनाओं में सफलता के साथ प्रस्तुत किया। गुप्त जी अपने कवि-जीवन में प्रारम्भ से ही उदार प्रकृति के रहे हैं। सन् १९१० में उनकी "रङ्ग में भंग" तथा "जयद्रथ बध" शीर्षक दो रचनाएँ प्रकाशित हुई थीं और इन रचनाओं के बाद से आज तक वे लिखते ही चले जा रहे हैं। इतने विस्तृत साहित्यिक-जीवन में उन्हें कितने साहित्यिक आन्दोलन तथा 'वादों' के पथ को पार करना पड़ा है। अपनी निज की विशेषता को बचाते हुए गुप्त जी ने अपनी रचनाओं में उन सभी 'वादों' को अपनाया है। फलतः इनके काव्य-विषय पौराणिक, धार्मिक,

मैथिलीशरण गुप्त

ऐतिहासिक सामाजिक तथा राजनैतिक सभी प्रकार के रहे हैं। द्विवेदी युग के यथार्थ वर्णन से प्रारम्भ कर इन्होंने 'छायावाद-रहस्यवाद' को भी अपनी रचनाओं में स्थान दिया था और आज उनकी रचनाओं में प्रगतिशील दृष्टिकोण भी उभरता हुआ दिखाई देता है। इतने व्यापक दृष्टिकोण वाला कवि आधुनिक हिन्दी में कोई दूसरा नहीं है, इसीलिये गुप्त जी को युग का प्रतिनिधि कवि कहा गया है। द्विवेदी युग के अन्तर्गत इनके ये ग्रन्थ प्रकाशित हुये थे :—'रंग में भंग', 'जयद्रथ वध', 'भारत-भारती', 'पद्य-प्रबन्ध', 'किसान' तथा 'वैतालिक'। भारतेन्दु-युग ने हिन्दी कविता को वर्णनात्मकता दी थी जो विशेष रूप से प्रबन्ध-काव्यों की रचना के लिये उपयुक्त थी। उस काल में उसका प्रयोग केवल विभिन्न विषयों पर काव्य-रचना करने के लिये ही हुआ था। द्विवेदी युग में सुथरे प्रबन्ध-काव्यों की रचना प्रारम्भ हुई। श्री मैथिलीशरण जी ने विशेष रूप से प्रबन्ध-काव्य ही लिखे।

द्विवेदी युग में प्रकाशित होने वाली गुप्त जी की सबसे उल्लेखनीय रचनाएँ "जयद्रथ-वध" तथा 'भारत भारती' हैं। प्रथम में, जैसा रचना के नाम से ही स्पष्ट है, अर्जुन के द्वारा जयद्रथ के वध की कथा है। महाभारत में जयद्रथ ने चक्र-व्यूह के समय अर्जुन के पुत्र अभिमन्यु का वध कर डाला था उसी के परिणामस्वरूप उसे अर्जुन के हाथों मरना पड़ा था। गुप्त जी ने कथा का प्रारम्भ चक्रव्यूह की रचना का समाचार सुनकर पांडवों के परिवार में होने वाले वार्तालाप से किया है, जिसमें उत्तरा और अभिमन्यु की विदा के समय की बातचीत बड़ी ही सुन्दर बन पड़ी है। यद्यपि जयद्रथ-वध में काव्योत्कृष्टता अधिक नहीं है फिर भी वह एक अच्छा प्रबन्ध-काव्य है। 'भारत-भारती' में कवि ने भारत के प्राचीन गौरवपूर्ण दिनों का स्मरण किया है और आज की दीन-दशा पर आँसू बहाते हुये प्रगति के पथ पर अग्रसर होने का सन्देश दिया है। गुप्त जी ने अपनी यह रचना उर्दू के प्रसिद्ध कवि हाली के 'मद्दोजज़र इस्लाम' के आधार पर लिखी थी। वह राष्ट्रीय जागरण का युग था, इस कारण काव्य की दृष्टि से विशेष सुन्दर न होते हुए भी इसे

विशेष प्रसिद्धि मिल गई थी। नीचे हम उसकी कुछ पंक्तियाँ उद्धृत करते हैं :—

'क्षत्रिय! सुनो अब तो कुयश की कालिमा को मेट दो।
निज देश को जीवन सहित तन मन तथा धन भेंट दो।
वैश्यो! सुनो व्यापार सारा मिट चुका है देश का!
सब धन विदेशी हर रहे हैं पार क्या है क्लेश का?

अयोध्यासिंह उपाध्याय

श्री अयोध्या सिंह उपाध्याय का रचना-काल भी विशेषकर द्विवेदी-युग में ही आता है, किन्तु इन्होंने अपनी काव्य-रचना का पथ स्वयं ही निर्धारित किया था; द्विवेदी जी के बताए हुये पथ का पूर्णतः अनुसरण नहीं किया। यद्यपि इनका प्रथम काव्य-ग्रंथ 'रसिक रहस्य' सन् १८६६ में ही प्रकाशित हो गया था और उसके बाद निरंतर इनकी कितनी ही रचनाएँ प्रकाशित होती रहीं किन्तु इनकी आधुनिक युग के उत्कृष्ट कवि के रूप में प्रसिद्धि सन् १६१४ में 'प्रियप्रवास' के प्रकाशन के बाद ही हुई। 'प्रियप्रवास' की कथा यद्यपि पुरानी ही है : कृष्ण के मथुरा जाने और राधा तथा गोपियों के वियोग की गाथा; तथापि कवि ने उसे आधुनिक दृष्टिकोण से ओत-प्रोत कर विशेष सुन्दर बना दिया है। कृष्ण इस प्रबन्ध-काव्य में 'श्रीमद्भागवत' तथा भक्त-कवियों के योगेश्वर कृष्ण नहीं हैं, वरन् जीवन में जनसेवा की भावना को प्रश्रय देने वाले कर्मठ श्री कृष्ण हैं। राधा भी अपने वियोग की व्यथा को जनकार्यों में भुला देना चाहती हैं। इस मानवतावादी दृष्टिकोण के अतिरिक्त उपाध्याय जी ने 'प्रियप्रवास' में प्रकृति के भी बड़े सुन्दर चित्र खींचे हैं जो संस्कृत कवियों की परम्परा में आते हैं :

"दिवस का अवसान समीप था,
गगन था कुछ लोहित हो चला।
तरु शिखा पर थी अब राजती,
कमलनीकुल-वल्लभ की प्रभा।

विपिन बीच विहंगम वृन्द का,
कलनिनाद विवर्द्धित था हुआ।
ध्वनिमयी विविधा विहगावली,
उड़ रही नभमण्डल मध्य थी।"

इस उद्धरण को देखने से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि कवि ने अपनी इस प्रकार की रचना के लिए हिन्दी के पुराने छंदों को नहीं, संस्कृत के वर्ण-वृत्तों को ही अपनाया है। सम्पूर्ण 'प्रियप्रवास' इस प्रकार के वर्णवृत्तों में लिखा गया है। उसकी यह विशेषता उसका महत्व और बढ़ा देती है। इस प्रबन्ध-काव्य की रचना के बाद श्री अयोध्यासिंह जी उर्दू शैली की अभि-व्यञ्जना, शैली को लेकर चौपदे आदि की रचना में लग गये जिनमें उनकी काव्य प्रतिभा हमें किसी प्रकार भी व्यक्त होते हुये नहीं दिखाई देती। अभी कुछ वर्षों पूर्व उन्होंने फिर से 'प्रियप्रवास' की शैली को अपनाने का प्रयत्न किया था जो 'वैदेही वनवास' नामक प्रबन्ध-काव्य में देखने को मिली, किन्तु इसमें 'प्रियप्रवास' का वह मार्दव तथा प्रवाह किसी प्रकार भी नहीं है।

द्विवेदी युग के अन्य कवि

द्विवेदी जी के द्वारा बताए गए पथ पर चलने वाले तथा स्वतन्त्र रूप से आधुनिकता का स्वीकार करने वाले कवियों की संख्या इस काल में बहुत बड़ी है, जिनमें से कुछ कवियों के नाम इस प्रकार हैं :—सर्वश्री कामता प्रसाद गुरु, लोचन प्रसाद पांडेय, राम चरित उपाध्याय, गिरधर शर्मा, रूप नारायण पांडेय आदि। इनके अतिरिक्त आधुनिक भावना को लेकर चलने वाले स्वतंत्र कवियों में लाला भगवानदीन, नाथू राम शंकर शर्मा, गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही' आदि का नाम लिया जा सकता है; इन सभी कवियों में विशेष प्रसिद्ध श्री रामचरित उपाध्याय तथा श्री नाथूराम शंकर शर्मा हैं। प्रथम अपने प्रबन्ध-काव्य 'रामचरित चिंतामणि' के कारण उल्लेख्य हैं और द्वितीय अपनी रचनाओं में आर्यसमाजी भावनाओं को प्रश्रय देने के कारण। हिन्दी की प्राचीन काव्यधारा का प्रभाव यद्यपि आंशिक रूप से इस युग के सभी कवियों पर मिलता है, पर वह प्रभाव विशेष रूप से जगन्नाथ दास रत्नाकर तथा

राय देवी प्रसाद पूर्ण की रचनाओं पर अधिक है। जहाँ रत्नाकर जी पर भक्ति तथा रीति-काव्य दोनों का प्रभाव पड़ा वहाँ 'पूर्ण' जी पर विशेषकर रीति-काव्य का।

'रत्नाकर' जी की सर्वप्रथम रचना 'समस्या-पूर्ति' के नाम से सन् १८६४ में प्रकाशित हुई थी। सन् १८६६ में इन्होंने अंग्रेजी कवि पोप की प्रसिद्ध कविता Essay on Criticism का अनुवाद प्रकाशित किया। इस प्रकार उनकी काव्य प्रतिभा पर दो प्रभाव स्पष्टतया पाये जाते हैं: एक तो रीतिकालीन समस्यापूर्ति की परम्परा का प्रभाव तथा दूसरा अंग्रेजी के शास्त्रीय कवियों की इति-वृत्तात्मकता का प्रभाव। प्रथम में शास्त्रीय निपुणता तथा द्वितीय में प्रबन्धात्मकता को इन्होंने काव्य में प्रतिष्ठित किया। 'रत्नाकर' जी की अपनी मौलिक रचनाएँ विशेषकर प्रबंधात्मक ही हैं। 'हिंडोला', 'हरिश्चंद्र' तथा 'गंगावतरण' आदि। अपनी अंतिम काव्य-रचना 'उद्धव शतक' को भी इन्होंने प्रकाशित होने के पूर्व एक प्रबंध काव्य का ही क्रम दे दिया था। 'रत्नाकर' जी की इसी विशेषता ने उनके मध्ययुगीन साहित्यिक दृष्टिकोण को आधुनिकता प्रदान की। यदि 'रत्नाकर' जी शुद्ध रूप से मध्य-युगीन होते तो वे मुक्तकों ही में अपनी काव्य-प्रतिभा का विशेष परिचय देते। हिंदी के भक्ति काव्य का प्रभाव भी रत्नाकर जी की रचनाओं पर दीख पड़ता है। 'हिंडोला' तथा 'उद्धव शतक' नाम ही से कृष्ण-काव्य से संबंध रखते हैं। 'हरिश्चंद्र' तथा 'गंगावतरण' में भक्ति की भावना पूर्णतः व्यक्त हुई है। इनकी रचनाओं में मुक्तक-काव्य के भी दर्शन होते हैं जिनमें पौराणिक विषयों से लेकर आधुनिक देश-भक्ति-संबंधी विषय तक लिए गए हैं। 'रत्नाकर' जी की रचनाओं में शास्त्रीय बुद्धि-कौशल के साथ यथार्थ चित्रण का मणि-काञ्चन योग देखने को मिलता है।

जगन्नाथ दास रत्नाकर

तमकि ताकि भुज-दंड चंड फरकत चित चोपे।
गहि दबाय दुहुँ पाय कछुक अंतर सौं रोपे॥
मनु बल-विक्रम-जुगल-खंभ जग थंभन हारे।
धीर-धरा पर अति गभीर दृढ़ता-जुत धारे॥

इन पंक्तियों में जहाँ धरती पर दोनों पैरों को जोर से दबाकर खड़े होने में परिस्थिति का यथार्थ-चित्रण है वहाँ अनुप्रास का चमत्कार भी देखने योग्य है।

उद्धव शतक भी कवि की सहृदयता का द्योतक है—

"बिरह-बिथा की कथा अकथ अथाह महा
कहत बनै न जो प्रबीन सुकबीनि सौं।
कहै रतनाकर बुझावन लगै जो कान्ह
ऊधौ कौं कहन हेत ब्रज-जुवतीन सौं।
गहवरि आयौ गरौ भभरि अचानक त्यौं
प्रेम पर्यौ चपल चुचाइ पुतरीन सौं।
नैंकु कही बैननि; अनेक कही नैननि सौं
रही सही सोऊ कह दीनी हिचकीनि सौं।

देवी प्रसाद पूर्ण

श्री देवीप्रसाद 'पूर्ण' का कवि-जीवन विशेष रूप से कानपुर के 'रसिक-समाज' से ही संबंधित रहा। यह 'समाज' ब्रजभाषा-काव्य-परम्परा को जीवित रखने के लिए ही खोला गया था, किंतु आगे चल कर उसमें खड़ी बोली की रचनाओं को भी स्थान मिलने लगा। पूर्ण जी भी प्रारम्भ में ब्रजभाषा में ही काव्य-रचना करते थे। कालान्तर में जब खड़ी बोली 'काव्य-भाषा' के रूप में प्रतिष्ठित हो गई तो उन्होंने उसमें भी काव्य-रचना प्रारम्भ कर दी। पूर्ण जी की रचनाओं पर रीति-कालीन अलङ्कार-प्रियता का विशेष प्रभाव था। अपनी कुछ रचनाओं में तो इन्होंने जैसे अलङ्कार खोज-खोज कर रक्खे हैं। 'रसिक-समाज' में प्रतिद्वंद्विता के वातावरण में सम्भवतः उनके लिये यह आवश्यक था। इनके काव्य-विषयों में नवीनता पर्याप्त मात्रा में देखने को मिलती है। कुछ विषय इस प्रकार हैं :—'वसंत वर्णन', 'ग्रीष्म', 'ग्रीष्म-प्रभात', 'वर्षा वर्णन', 'वर्षा और किसान', 'अमलतास', 'वसंत-वियोग', 'कादम्बरी', 'जागिए', 'नए सन् का स्वागत', 'हिन्दू विश्वविद्यालय डेपुटेशन का स्वागत', आदि। इन्हें देखने से ही यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रकृति

में तथा इस जगत में होने वाले सम्पूर्ण परिवर्तनों के प्रति उनका कविहृदय जागरूक था। फिर भी उन की लेखन-शैली अधिकांश मध्ययुगीन हीरही:—

"लखि कोमल आँगुरी नागरी की, अति आगरी तार बजावन में;
अनुमान रचै मन 'पूरन' की, उपमान की खोज लगावन में।
दल मंजु अशोक के कंप सखेत वृथा कवि लागे बतावन में;
सुरताल भली भइ कंज कली, भली नाचती राग के गावन में।
उर प्रेम की जोति जगाय रही, मति को बिनु यास घुमाय रही;
रस की बरसात लगाय रही, हिय पाहन से पिघलाय रही।
हरियाले बनाय के रूखे हिये उतसाह की पैंगैं भुलाय रही;
इक राग अलापि के भाव भरी, खट राग प्रभाव दिखाय रही।"

इस काल में प्राचीन धारा को लेकर चलने वाले कवियों में वियोगी हरि तथा श्री दुलारे लाल भार्गव का नाम भी लिया जा सकता है। वियोगी हरि जी ने 'वीर सतसई' में हमारे देश के प्राचीन वीरों के संबंध में प्रशंसात्मक उद्‌गार व्यक्त किये हैं। दुलारे लाल जी ने अपनी 'दोहावली' हिन्दी की पुरानी कविता की परम्परा में ही लिखी थी, उसमें उनकी अपनी मौलिक प्रतिभा का प्रकाशन अधिक नहीं हो सका है। महाकवि विहारी लाल का सूक्ति चमत्कार और पदलालित्य श्री दुलारे लाल ने अपनाने का प्रयत्न किया है। कुछ सूक्तियाँ तो निस्संदेह आकर्षक हैं।

वियोगी हरि श्री दुलारे लाल

नाट्य साहित्य

इस काल में नाट्य-साहित्य, जैसा प्रारम्भ ही में संकेत किया गया है, अपनी रूपात्मक तथा भावात्मक-पूर्णता के लिये प्रयत्नशील था और अपने इस कार्य में बंगला, अँग्रेजी तथा संस्कृत को नाटकीय-रचनाओं से सहायता ले रहा था। इस काल में अनुवादित नाटकों की संख्या ही अधिक दीख पड़ती है। बङ्गला से अनुवाद करने वालों में तीन नाम मुख्य हैं, सर्व श्री रूपनारायण पाण्डेय, बाबू रामकृष्ण वर्मा तथा गोपालराम गहमरी। इन्होंने सर्व

बंगला से अनूदित नाटक

श्री द्विजेन्द्र लाल राय, गिरीश बाबू, रवीन्द्रनाथ आदि की नाटकीय-रचनाओं के अनुवाद प्रस्तुत किए। इन नाटकों में बंगाली मनोवृत्ति के अनुसार भावावेश पूर्ण संवाद का आधिक्य था, इस कारण हिन्दी नाट्य-साहित्य पर इनका प्रभाव बहुत लाभदायक नहीं कहा जा सकता। फिर भी इनके प्रकाशन से नाटकीय-रचनाओं को गति मिली थी।

अंग्रेजी के अनूदित नाटक

अँग्रेजी से इस काल में विशेषकर शेक्सपियर के ही कुछ नाटकों के अनुवाद हुये थे। वे नाटक थे: रोमियो जूलियट, ऐज यू लाइक इट, मरचैंट आव वेनिस, मैकबेथ, ओथेलो और हैमलेट। अनुवादकारों में पुरोहित गोपीनाथ का नाम लिया जा सकता है, जिन्होंने इन छः नाटकों में से प्रथम तीन के अनुवाद किये थे। अँग्रेजी के इन अनुवादों का प्रभाव विशेष रूप से लाभप्रद सिद्ध हुआ। इन नाटकों में जीवन की पूरी रूपरेखा देखी जा सकती है जिसमें कभी प्रसन्नता से मनुष्य खिलखिला उठता है; कभी हार्दिक शोक की अनुभूति से रोने लगता है।

संस्कृत से अनूदित नाटक

संस्कृत में अनुवादित होने वाले नाटकों की संख्या भी इस काल में विशेष है। कालिदास, हर्ष तथा शूद्रक आदि कितने ही नाटककारों की रचनाएँ अनुवादित हुईं। संस्कृत नाटकों के अनुवाद कर्ताओं में लाला सीताराम बी० ए० तथा श्री सत्य नारायण कविरत्न के नाम उल्लेखनीय हैं। ऐसे अनुवादित नाटकों की नामावली इस प्रकार है:—मालविकाग्निमित्र, मृच्छकटिक, नागानन्द, मालती-माधव, उत्तर रामचरित, महावीर चरित आदि।

इस काल के मौलिक नाटककारों में विशेष रूप से रायदेवी प्रसाद 'पूर्ण', बद्रीनाथ भट्ट, मैथिलीशरण गुप्त, माखनलाल चतुर्वेदी आदि का नाम है। इनकी रचनाओं में अँग्रेजी, बंगला और संस्कृत नाटकों के प्रभाव भली प्रकार देखने को मिल जाते हैं।

श्री देवीप्रसाद जी ने केवल एक ही नाटक लिखा था: 'चंद्र कला भानु

कुमार'। यह एक साहित्यिक रचना है, केवल पठनीय, रंगमंच के योग्य नहीं। कहानी सर्वथा कल्पित है और मध्ययुग के राजकुमार तथा राजकुमारियों के जीवन से सम्बन्धित है। नाटककार ने इसमें 'प्राचीन समय के व्यवहारों का प्रतिबिम्ब' देने का प्रयास किया है किन्तु कहीं-कहीं नाटकों में जो वर्तमान युग के वैज्ञानिक सिद्धांतों की चर्चा आ गई है, उसमें काल-दोष (Anachronism) है। नाटक की रचना पूर्णत: संस्कृत के नाट्य-शास्त्र के सिद्धांतों के आधार पर हुई है इस कारण उसका अंत सुखमय है। लेखक की काव्य-प्रतिभा इस नाटक में अपने उत्कृष्ट रूप में देखने को मिलती है। इस नाटक की स्त्रियाँ सभी पढ़ी लिखी हैं, जैसा लेखक ने स्वयं ही लिख दिया है और वे काव्य-रचना में भी निपुण हैं। माली की लड़की को भी काव्य-रचना करते हुये देखकर आश्चर्य होता है। यदि 'पूर्ण' जी ने इस प्रकार की पूर्णत: अस्वाभाविक बातों से अपनी रचना को मुक्त रक्खा होता तो उनका यह नाटक बहुत अधिक सुन्दर हो जाता। फिर भी सर्वसाधारण के लिये नहीं तो पढ़े लिखे लोगों के लिये तो यह पठनीय है ही।

देवी प्रसाद पूर्ण

श्री बद्रीनाथ भट्ट ने इस काल में सबसे अधिक संख्या में सुन्दर नाटकों की रचना की। भट्ट जी का प्रथम नाटक 'कुरु-वन-दहन' सन् १९१२ में प्रकाशित हुआ था, उसके बाद सन् १९१४-१५ में 'चुंगी की उम्मीदवारी' प्रहसन तथा 'चन्द्रगुप्त' नाटक प्रकाशित हुए। बाद की रचनाएँ 'गोस्वामी तुलसीदास', 'वेन चरित', 'दुर्गावती', 'लबड़धोंधों', 'विवाह विज्ञापन' तथा 'मिस अमेरिकन' हैं। यद्यपि ये रचनाएँ द्विवेदी-युग की सीमा से बाहर प्रकाशित हुईं तथापि उनकी नाटकीयता में द्विवेदी-युग की ही छाप बनी रही। भट्ट जी के नाटकों को पढ़कर जो सबसे पहली भावना मन में उत्पन्न होती है वह है युग के रंगमंच का साहित्यिक कृतियों पर प्रभाव। भट्ट जी ने राजनीतिक, सामाजिक, साहित्यिक तथा ऐतिहासिक सभी प्रकार के इतिवृत्त अपनी नाटकीय-रचना के लिए लिए और उन्हें गम्भीर तथा हास्यमय दोनों ही शैलियों से विभूषित किया।

बद्रीनाथ भट्ट

उनके सबसे अधिक सफल नाटक हैं : 'चंद्रगुप्त' तथा 'दुर्गावती'। दोनों ही ऐतिहासिक नाटक हैं, किन्तु उनकी सामग्री इतिहास के पृष्ठों से अधिक नहीं ली गई। सांस्कृतिक पृष्ठ-भूमि, जिसका होना ऐतिहासिक रचनाओं में आवश्यक है, इन दोनों रचनाओं में नहीं है। इनकी सफलता इनके भीतर प्रवाहित होने वाली आदर्शवादी भावना में ही निहित है। चंद्रगुप्त' में व्यक्त होने वाली आदर्शवादी भावना में एक मित्र के लिए दूसरे का अपने जीवन तक को उत्सर्ग कर देना शेक्सपीयर के 'मर्चेंट आव वेनिस' का प्रभाव लक्षित करता है। 'दुर्गावती' की सफलता देश के लिए बलि होने के आदर्श में निहित है। भट्ट जी रानी, मंत्री तथा सेनापति के चरित्र-चित्रण में अवश्य सफल हुए हैं। फिर भी इस नाटक को उच्चकोटि के देश-भक्ति-प्रधान नाटकों की श्रेणी में रखना संभव नहीं है। उनके नाटकों में भारतीय तथा पाश्चात्य कहीं के नाट्य-रचना के सिद्धांत पूर्णतः स्वीकृत नहीं हुए।

मैथिली शरण गुप्त

इस काल में श्री मैथिली शरण गुप्त के भी दो नाटक प्रकाशित हुए थे। 'चंद्रहास' तथा 'तिलोत्तमा'। 'तिलोत्तमा' तो बंगला से अनुवादित था, इस कारण उसके सम्बन्ध में विशेष कुछ कहने की आवश्यकता नहीं। 'चंद्रहास' एक पौराणिक आख्यान लेकर लिखा गया है और वह प्राचीन शैली में ही है। गुप्त जी की अपनी विशेषता है सीधे सादे वाक्यों में स्पष्ट बात कह देना। वह इस नाटक में पर्याप्त मात्रा में है। इसी कारण यह नाटक सर्व-साधारण के लिए भी पठनीय हो सका। यही इस नाटक की विशेषता है।

माखन लाल चतुर्वेदी

इस युग का सबसे उत्कृष्ट नाटक माखनलाल चतुर्वेदी का 'कृष्णार्जुन युद्ध' है। इसकी कथावस्तु तो प्राचीन है किंतु उसमें जहाँ-तहाँ आधुनिकता का भी समावेश है। आधुनिक युग के राष्ट्रीय जागरण की भावना इस नाटक में बड़ी सफलता के साथ व्यक्त हुई है। यह रचना पूर्णतः रंगमंच के योग्य है और कई बार सफलता के साथ अभिनीत भी हो चुकी है। लेखक ने अपने सभी पात्रों का चरित्र-चित्रण बड़े स्पष्ट ढंग से दिया है 'शङ्ख' के

द्वारा स्थान-स्थान पर जो हास्य का पुट है वह भी बड़ा सुन्दर बन पड़ा है। हिंदी के अन्य किसी नाटक में हमें इतना सुन्दर हास्य नहीं मिलता। यद्यपि नाटक के प्रारम्भ में संस्कृत नाटकों की भाँति प्रस्तावना का विधान है, किन्तु आगे चल कर लेखक ने अंग्रेजी के नाटकों की संघर्षमयी-भावना को ही स्वीकार किया है। यह भावना लेखक को सम्भवतः अँग्रेजी नाटकों के अध्ययन से नहीं वरन् अंग्रेजी नाटकों के अनुवाद से प्राप्त हुई है। प्रस्तावना में भी कुछ नवीनता है जिसमें लेखक ने पारिवारिक जीवन के प्रसंग में बड़ी सजीव रूप से कथावस्तु का संकेत किया है। नाटककार ने अपने सम्बन्ध में कुछ भी नहीं कहा। 'कृष्णार्जुन युद्ध' आज भी पठनीय है।

द्विवेदी युग में अन्य नाटककारों में सर्वश्री माधव शुक्ल, मिश्र बन्धु, और राधेश्याम कथा वाचक हैं। श्री जयशंकर प्रसाद की कुछ रचनाएँ भी इस काल में प्रकाशित हुई थीं, किन्तु वास्तव में वे बाद के युग के नाटककार हैं, इसलिए उनके सम्बन्ध में आगे ही लिखा जायगा।

अन्य नाटककार

कथा साहित्य

नाटकों की भाँति इस काल में अधिकांशतः उपन्यास बँगला तथा अँग्रेजी से होने वाले अनुवाद ही हैं। संस्कृत साहित्य में 'कादम्बरी' आदि कुछ थोड़े से ही उपन्यास हैं, इसलिए संस्कृत से अनुवादित होने वाला कथा-साहित्य हिंदी में कम ही मिलता है। इस काल के मौलिक कथाकारों में सबसे पहले श्री किशोरीलाल गोस्वामी तथा श्री गोपालराम गहमरी का ही नाम आता है किन्तु उपन्यासकार के सब में पहले ही इनके संबंध में विस्तृत रूप से लिखा जा चुका है। इस कारण यहाँ इनकी कहानियों के संबंध में ही लिखा जायगा। अन्य मौलिक उपन्यासकारों में अयोध्यासिंह उपाध्याय, लज्जाराम मेहता यथा ब्रजनन्दन सहाय का नाम उल्लेखनीय है। उपन्यास-लेखन इस काल में केवल इन्हीं तक सीमित रहा। कहानी साहित्य अवश्य पत्र-पत्रिकाओं के प्रकाशन के साथ विशेष मात्रा में लिखा गया और वह इस काल के उपन्यासों से साहित्यिक दृष्टि से उत्कृष्ट भी है।

(क) उपन्यास

अंग्रेजी से अनुवादित होने वाले उपन्यासों की संख्या अधिक नहीं है, किन्तु सबसे अधिक प्रभाव उन्हीं का रहा है। बंगला के उपन्यासों ने हलकी भावुकता का ही संचार किया है। प्रारम्भ में रेनल्डस के

वर्ण्य विषय

हलके उपन्यासों के अनुवाद किए गए। लैला, लंडन रहस्य, आदि। किंतु बाद में 'अङ्किल टाम्स केबिन' तथा 'रॅबिन्सन क्रूसो' आदि के अनुवाद भी हुए। अंग्रेजी के तथा उसमें अनुवादित अन्य योरोपीय भाषाओं के उपन्यासों ने भी इस काल के हिंदी उपन्यास-साहित्य के निर्माण में योग दिया।

बंगला से प्रधानतः सर्वश्री बंकिमचंद्र, रमेशचंद्र दत्त, हाराण चंद्र रक्षित, चण्डी चरण सेन, चारुचंद्र, रवींद्रनाथ तथा शरत् बाबू की औपन्यासिक रचनाओं के अनुवाद हुए। यद्यपि बंगला के उपन्यासों से हिन्दी उपन्यासों में एक हलकी भावुकता का समावेश हुआ है तथापि इस भावुकता के साथ ही हमारे सामने सामाजिक, ऐतिहासिक, राजनीतिक तथा भाव-प्रधान, चरित्र-प्रधान तथा कथावस्तु-प्रधान उपन्यासों की रूपरेखा भी स्पष्ट हुई और यही बंगला साहित्य की हिंदी उपन्यास के विकास में सबसे बड़ी देन थी।

इस काल में हमें बंगला के अतिरिक्त उर्दू, गुजराती तथा मराठी उपन्यासों के भी कुछ अनुवाद मिलते हैं:—जैसे पूना में हलचल, छत्रसाल, आदि।

श्री अयोध्यासिंह उपाध्याय ने तीन उपन्यास लिखे हैं:—'ठेट हिंदी का ठाट', 'वेनिस का बाँका' तथा 'अधखिला फूल', किंतु ये तीनों ही कलाकृतियाँ न होकर प्रधान रूप से भाषा-सम्बंधी प्रयोग हो

अयोध्यासिंह उपाध्याय

गए हैं। प्रथम तो जैसा उसके नाम से ही स्पष्ट है, ठेठ हिंदी की रचना है। दूसरा किसी पाश्चात्य उपन्यास का अनुवाद सा प्रतीत होता है और संस्कृत गर्भित हिन्दी में है। तीसरा उपन्यास साधारण हिंदी में है, किंतु बंगला उपन्यासों का प्रभाव होने के कारण उसमें कुछ औपन्यासिकता भी आ गई है।

श्री लज्जाराम मेहता ने इस काल में सबसे अधिक उपन्यास लिखे:— धूर्त रसिक लाल, हिंदू गृहस्थ, आदर्श दम्पत्ति, बिगड़े का सुधार तथा आदर्श हिंदू। ये सभी उपन्यास आदर्शवादी दृष्टिकोण को लेकर लिखे गये हैं, किंतु लज्जाराम जी वास्तव में एक पत्रकार थे। इस कारण उनकी इन रचनाओं में कथन की मात्रा प्रधान रूप से मिलती है, जीवन की वास्तविक परिस्थितियों में आदर्शों का उपयोग नहीं।

श्री लज्जाराम मेहता

श्री ब्रजनंदन सहाय इस काल के सर्वश्रेष्ठ उपन्यासकार हैं। उन्होंने भाव-प्रधान उपन्यासों की रचना की। अभी तक हिंदी में घटना प्रधान उपन्यास ही लिखे गए थे। भावों तथा मनोविकारों को प्रधानता देने वाले यही पहले उपन्यासकार हैं। इनके उपन्यास जन साधारण के लिए नहीं वरन् पढ़े-लिखे लोगों के लिए ही लिखे गए हैं। इनका प्रथम उपन्यास 'अद्भुत-प्रायश्चित्त' सन् १९०६ में प्रकाशित हुआ था।

श्री ब्रजनन्दन सहाय

उसके बाद 'राधाकांत', 'राजेन्द्र मालती', 'अरण्य बाला', 'लाल चीन', तथा 'सौंदर्योपासक' प्रकाशित हुए। 'सौंदर्योपासक' में तो केवल एक ही व्यक्ति की सौंदर्यात्मक अनुभूतियों का चित्रण है। इस प्रकार के भाव-प्रधान उपन्यासों पर बंगला उपन्यासों का विशेष प्रभाव कहा जाता है। १९१४ में मन्नन द्विवेदी का रामलाल और १९१८ में कल्याणी उपन्यास प्रकाशित हुआ। १९२५ में शिवपूजन सहाय का 'देहाती दुनिया' उपन्यास निकला जिसकी भाषा का एक उदाहरण यह है :—

अन्य उपन्यास-कार

"दरोगा जी की किसी पुश्त में दया की खेती नहीं हुई थी। उनके पिता पटवारी थे। पटवारी भी कैसे? गरीबों की गरदन पर अपनी कलम टेने वाले।"

(ख) कहानी

इस काल का उपन्यास-साहित्य तो केवल इन्हीं कुछ रचनाओं में सीमित रहा; किंतु कहानियाँ बहुत अधिक संख्या में लिखी गईं।

किशोरीलाल गोस्वामी

हिन्दी कहानियों के इस प्रगतिपूर्ण विकास में अंग्रेजी तथा बंगला कहानियों का विशेष प्रभाव पड़ा। इस युग की सबसे पहली कहानी 'इंदुमती' पर तो शेक्शपियर के 'टेम्पेस्ट' की छाया स्पष्ट है। यह कहानी सन् १६०० में सरस्वती में प्रकाशित हुई थी और इसके लेखक थे हिन्दी के प्रसिद्ध उपन्यास-कार श्री किशोरीलाल गोस्वामी। इंदुमती कहानी के प्रकाशन के दो वर्ष बाद इनकी एक और कहानी 'गुलबहार' प्रकाशित हुई फिर तो पत्र-पत्रिकाओं में बँगला से अनुवादित कहानियों के साथ दो चार मौलिक कहानियाँ भी छपती रहीं।

हिन्दी कहानियों का वास्तविक विकास सन् १६११ से आरम्भ होता है जब श्री जयशङ्कर प्रसाद जी अपनी भावना प्रधान रचनाएँ लेकर इस क्षेत्र में

जयशंकर प्रसाद

आये। इनकी सर्व प्रथम कहानी 'ग्राम' शीर्षक से स्वयं इन्हीं के द्वारा सम्पादित होने वाले मासिक-पत्र 'इंदु' में छपी थी।

इस काल के अन्य कहानी लेखकों के नाम क्रम से इस प्रकार हैं:— सर्व श्री जी० पी० श्रीवास्तव, विश्वम्भर नाथ शर्मा 'कौशिक', राधिका

अन्य कहानीकार

रमण प्रसादसिंह, ज्वाला दत्त शर्मा, चन्द्रधर गुलेरी, प्रेमचन्द आदि। इनके द्वारा सामाजिक, ऐतिहासिक तथा राजनैतिक सभी प्रकार की कहानियाँ प्रस्तुत की गईं जिनमें कुछ हास्यरसात्मक भी थीं।

इस स्थान पर हम श्री गुलेरी जी की कहानी 'उसने कहा था' के संबंध में कुछ विशेष रूप से लिखना चाहते हैं। क्योंकि यह कहानी उस युग की

गुलेरी जी

कहानी कला की दृष्टि से सबसे उत्कृष्ट है। कहानी का प्रारम्भ होता है बाजार के कोलाहल से और अंत होता है वर्षों बाद समाचार-पत्र में छपने वाले एक समाचार से।

सम्पूर्ण कहानी स्नेह के एक पावन सूत्र के सहारे बँधी हुई है और उसमें बाजार के युद्ध भूमि के और मृत्यु के पूर्व की घड़ियों के जो चित्र दिये गये हैं वे बहुत ही सच्चे हैं। कहानी कला के प्रायः सभी तत्वों को कहानीकार ने कहानी में उचित रूप से रक्खा है। इसी कारण हिन्दी कहानियों के विकास में इस कहानी का एक विशेष स्थान है।

निबंध

इस काल में निबन्ध साहित्य की प्रगति हमें विशेष रूप से देखने को मिलती है। पत्र-पत्रिकाओं की संख्या-वृद्धि से इस प्रगति को विशेष सहायता मिली। पत्र-पत्रिकाओं में प्रायः सभी विषयों के निबन्ध प्रकाशित होते थे और वे काफी पढ़े-लिखे लोगों द्वारा लिखे जाते थे। निबन्ध लेखन की सभी शैलियाँ इस काल में मिल जाती हैं। कथात्मक, वर्णनात्मक, भावात्मक तथा व्याख्यात्मक। ये सभी शैलियाँ अपने विकास की किस अवस्था तक पहुँच सकी थीं, यह विभिन्न निबंधकारों के सम्बन्ध में लिखते हुये आगे स्पष्ट किया जावेगा।

महावीर प्रसाद द्विवेदी

श्री महावीर प्रसाद द्विवेदी इस युग के सर्वप्रथम निबंधकार हैं और इस दृष्टि से उनका विशेष महत्व है। इस युग की सम्पूर्ण साहित्यिक प्रगति को इनके निबंधों से ही प्रेरणा मिली थी। अंग्रेजी साहित्य के विकास के एक चरण में जिस प्रकार डाक्टर जानसन ने सम्पूर्ण अधिकार अपने हाथ में ले लिये थे; उसी प्रकार हिन्दी साहित्य के विकास के इस युग में सम्पूर्ण स्वत्व द्विवेदी जी के ही हाथों में रहा। यद्यपि ऊपर हमने निबंधों के जिन विभिन्न प्रकारों का उल्लेख किया है वे द्विवेदी जी की रचनाओं में दृष्टिगत होते हैं, तथापि उनमें स्थायी साहित्य की भावना नहीं है। उनके सभी निबन्ध अधिकतर पत्रकार शैली में लिखे गये हैं, जिससे इस ऐतिहासिक अनुशीलन में निबंधकार के रूप में उनके सम्बन्ध में कुछ विशेष लिखने की आवश्यकता नहीं प्रतीत होती। द्विवेदी जी के निबन्धों के छः संग्रह प्रकाशित हुये हैं :—

'रसज्ञ-रञ्जन', 'अद्भुत आलाप', 'साहित्य संदर्भ' 'लेखाञ्जलि' 'साहित्य-सीकर' तथा 'विचार विमर्श'। इनका सबसे अधिक महत्वपूर्ण निबंध है : "कवि कर्तव्य"। उनके युग के सम्पूर्ण काव्य-साहित्य का विकास इस निबंध पर आधारित है जिस प्रकार वर्डस्वर्थ की लिखी हुई "लिरिकल बैलेड्स" की भूमिका पर अंग्रेज़ी की 'रोमांटिक रिवाइवल' की कविता आधारित है। द्विवेदी जी के निबंध का एक उद्धरण नीचे प्रस्तुत किया जाता है।

"भारत की बहुत प्राचीन चित्रकला जिन्हें देखना हो उन्हें एलोरा के गुफा-मन्दिरों की सैर करनी चाहिये। वहाँ दीवारों और छतों पर हजारों वर्ष के रङ्गीन चित्र अब भी प्रायः पूर्ववत् बने हुये हैं। दक्षिण के कुछ मन्दिरों में भी—जैसे एलोरा और सिलानवासल के गुफा-मन्दिरों में—पुराने चित्र पाये जाते हैं। उन चित्रों को देखकर देशी और विदेशी सभी चित्र-कलाकोविद मुग्ध हो जाते हैं।

इस युग के निबन्धकारों में द्विवेदी जी के बाद श्री बालमुकुन्द गुप्त का नाम आता है। कवि के रूप में इनका उल्लेख भारतेन्दु युगीन साहित्य में हो चुका है। इनके निबन्ध भी बड़े सुन्दर तथा व्यक्तित्व

बालमुकुन्द गुप्त से ओत-प्रोत होते थे। इनकी शैली विनोदपूर्ण तथा भावात्मक थी। इनके निबन्धों का एक संग्रह "गुप्त निबंधावली" के नाम से प्रकाशित हो चुका है। सम-सामयिक राजनीतिक परिस्थिति को लेकर इन्होंने बड़े मनोरंजक तथा व्यंगपूर्ण निबन्ध लिखे थे जो "शिव-शम्भु के चिट्ठे" के नाम से प्रसिद्ध हैं। इनकी विनोदशील तथा व्यंगपूर्ण शैली का एक उदाहरण प्रस्तुत किया जाता है :

"शर्मा जी महाराज बूटी की धुन में लगे हुए थे। सिलबट्टे से भंग रगड़ी जा रही थी।······बूटी तैयार हुई; बम भोला कह शर्मा जी ने एक लोटा भर चढ़ाई। ठीक उसी समय लाल डिग्गी पर बड़े लाट मिंटो ने बंग देश के भूतपूर्व छोटे लाट उडवर्न की मूर्ति खोली। ठीक एक ही समय कलकत्ते में यह दो आवश्यक काम हुए। भेद इतना ही था कि शिवशम्भु के बरामदे के छत पर बूँदें गिरती थीं और लार्ड मिंटो के सिर या छाते पर।"

श्री माधव प्रसाद मिश्र ने भी इस काल में कुछ सुन्दर निबन्ध लिखे थे जिसके प्रधान विषय धार्मिक, सामाजिक तथा राजनैतिक सभी प्रकार के थे। इन निबन्धों में भाषा-सौंदर्य हमें पूर्णरूपेण अपने वश में कर लेता है। मिश्र जी के निबंधों की भाषा संस्कृत-गर्भित तथा प्रवाहमय है और शैली भावावेश पूर्ण है। एक उद्धरण नीचे दिया जाता है :—

माधव प्रसाद मिश्र

"आर्यवंश के धर्म-कर्म और भक्ति-भाव का वह प्रबल प्रवाह—जिसने एक दिन बड़े सन्मार्ग विरोधी भूधरों का दर्प-दलन कर उन्हें रज में परिणत कर दिया था—और इस परम पवित्र वंश का वह विश्व व्यापक प्रकाश—जिसने एक समय जगत में अन्धकार का नाम भी न छोड़ा था—अब कहाँ है ?"

इस गद्यांश को पढ़ने से एक बात पूर्णतः स्पष्ट हो जाती है कि भाषा प्रवाहमान होते हुये भी एक उलझन सी उत्पन्न कर देती है, भावों का उपयुक्त स्पष्टीकरण नहीं कर पाती।

इस काल के अन्य निबन्ध-लेखकों में सर्वश्री अध्यापक पूर्णसिंह, गोविंद नारायण मिश्र आदि का नाम लिया जा सकता है। इन लेखकों ने बड़े सुन्दर निबन्ध लिखे थे, किन्तु वे संख्या में थोड़े ही हैं।

अन्य निबंधकार

समालोचना

समालोचनात्मक साहित्य का सृजन भी इस युग में पर्याप्त मात्रा में हुआ और उसने निबन्ध की रूपरेखा का अतिक्रमण कर प्रबन्ध का रूप भी ले लिया। हिन्दी तथा उसके पूर्व के अन्य भारतीय साहित्यों में भी हमें समालोचनात्मक साहित्य प्राप्त नहीं होता। संस्कृत में साहित्यशास्त्र-संबन्धी ग्रंथ विपुल मात्रा में मिलते हैं, किन्तु साहित्यालोचन के रूप में उनका प्रयोग कहीं भी नहीं मिलता। मम्मट ने अपने 'काव्य-प्रकाश में' यह अवश्य लिख

समालोचना का आरम्भ

दिया है कि कवि होने के लिए लोक-जीवन के अध्ययन की भी अपेक्षा है; किन्तु यह दृष्टिकोण केवल सिद्धान्त-प्रतिपादन तक ही सीमित रहा। इस सिद्धान्त के आधार पर तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत नहीं किये गये। अँग्रेजी साहित्य के संस्पर्श का परिणाम था कि हिन्दी में भी प्रयोगात्मक समालोचना-साहित्य का जन्म हुआ। ऊपर हम इस क्षेत्र में सर्वश्री बालकृष्ण भट्ट तथा बद्रीनारायण चौधरी द्वारा होने वाले प्रयत्नों का उल्लेख कर आये हैं, किंतु यह तो केवल प्रारम्भिक प्रयोग मात्र थे।

हिंदी में समालोचना साहित्य का विकास सुचारु रूप से सन् १९०१ से प्रारम्भ होता है जब श्री महावीरप्रसाद द्विवेदी इस क्षेत्र में आये। इसी वर्ष द्विवेदी जी का आलोचनात्मक अध्ययन 'हिंदी कालिदास की समालोचना' प्रकाशित हुआ। इसके बाद द्विवेदी जी के 'कालिदास की निरंकुशता' आदि आलोचनात्मक ग्रन्थ भी प्रकाशित होते रहे। द्विवेदी जी के अतिरिक्त इस काल में आलोचनात्मक अध्ययन साहित्यिक व्यक्तियों के जीवन-चरित्र लेखन में ही देखने को मिलते हैं।

महावीर प्रसाद द्विवेदी

मिश्र बन्धुओं ने अवश्य 'देव-ग्रंथावली' तथा 'भूषण-ग्रंथावली' के भूमिका भाग में अपनी आलोचनात्मक दृष्टि का अच्छा परिचय दिया है।

मिश्र बन्धु

साहित्य के अन्य रूप जैसे जीवन-वृत्त, इतिहास आदि भी इस काल में बहुत अधिक संख्या में लिखे गये। ललित तथा उपयोगी साहित्य के ग्रंथों का निर्माण भी होने लगा। संक्षेप में इस युग के ऐतिहासिक अनुशीलन को समाप्त करते हुये यह कहा जा सकता है कि भारतेन्दु के समय में हिंदी साहित्य ने जिन नवीन साहित्यिक रूपों को अपनाया था, द्विवेदी युग में वे पूर्णतः मँज कर स्पष्ट हो गये। आगे के युग में उनके सौंदर्य ग्रहण के उद्योग की मीमांसा की जावेगी।

बारहवाँ प्रकरण

आधुनिक-काल

वर्तमान-युग

[सन् १६२० से प्रारम्भ]

सन् १६२० से आधुनिक हिन्दी साहित्य के विकास में एक नवीन परिवर्तन का क्रम उपस्थित होता है। द्विवेदी युग में हिंदी साहित्य ने नवीन रूपों के आदर्शों की प्राप्ति का प्रयास किया था; वर्तमान युग में वह नवीन मूल्यों की प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील दिखाई देता है। वर्तमान युग में कितने ही नवीन 'वादों' का सृजन होता है जो साहित्य के विकास को विशेष गतिशीलता प्रदान करते हैं। प्रारम्भ में स्वच्छन्दतावाद की भावना को प्रधानता मिलती है, जिससे हिंदी कविता में एक नवीन जीवन का संचार होता है। हिन्दी के नाट्य और कथा साहित्य भी इस भाव-धारा से प्रभावित होते हैं। स्वच्छन्दतावाद कवि तथा लेखक को अपनी स्वानुभूति की अभिव्यक्ति के लिये जागरूक करता है। वर्तमान हिन्दी साहित्य में यह स्वानुभूति की अभिव्यक्ति ही कहीं अनगढ़ तथा कहीं सुगढ़ रूप में देखने को मिलती है। राष्ट्रीय जागरण की भावना से इस स्वानुभूति-मूलक साहित्य को अपने विकास में सहायता मिलती है। अंग्रेजी साम्राज्यवाद हमारी राष्ट्रीयता के विकास में बाधक होता है, इस कारण साहित्य में भी एक गत्यवरोध उत्पन्न होता है। इसके फलस्वरूप स्वानुभूति अपनी अभिव्यक्ति के लिये एक रहस्यमयता का आवरण ले लेती है। आधुनिक हिन्दी साहित्य में यह रहस्यवादी अभिव्यञ्जना कविता में ही नहीं, अन्य साहित्यिक रूपों में भी देखने को मिलती है। किन्तु समाज के

विकास को बहुत अधिक समय तक रोका नहीं जा सकता। और जब वह विकास की ओर बढ़ चलता है तो उसके साथ साहित्य भी आगे बढ़ता है। हमारा समाज भी अज्ञेय तथा अगोचर की प्राप्ति से विमुख हो कर जीवन के यथार्थ तथा आदर्श की प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील होता है; साहित्य में भी आदर्श तथा यथार्थवाद की भावना स्वीकृत होने लगती है। यह आदर्श तथा यथार्थवाद अपने में अलग-अलग रहकर जीवन तथा उसके साथ ही साहित्य के विकास में विशेष योग नहीं दे सकते; इसीलिये आज हम यथार्थ तथा आदर्श के सामंजस्य की भावना को लेकर चलने वाली प्रगतिशील भावधारा को बड़ी तीव्रता के साथ अपनाते जा रहे हैं। यह प्रगतिशील भावधारा हमारे साहित्य में कहीं गांधीवाद, कहीं समाजवाद और कहीं मार्क्सवाद के रूप में देखने को मिलती है; किन्तु उसकी इन सभी विभिन्नताओं के भीतर मूलभावना एक ही है; साहित्य को समाज के विकासक्रम में सहायक होना भी तो चाहिये।

काव्य-साहित्य

वर्तमान युग में हमें खड़ी बोली आरम्भ में ही काव्य-भाषा के रूप में स्वीकृत मिलती है। श्री महावीर प्रसाद द्विवेदी के प्रयत्नों और सर्व श्री मैथिलीशरण गुप्त, अयोध्यासिंह उपाध्याय आदि के प्रयोगों सामान्य परिचय से, उसे यह स्थान मिला था। इन कवियों की रचनाओं में खड़ी बोली का जो रूप देखने को मिला था, उसमें काव्यात्मकता अधिक नहीं थी। वर्तमान युग के प्रसाद, निराला तथा पन्त आदि स्वच्छन्दतावादी कवियों ने उसे यह शक्ति प्रदान की। अभिधा शक्ति तो भाषा में स्वतः ही होती है, खड़ी बोली में भी यह प्रारम्भ से ही थी। इन कवियों ने उसे नवीन लाक्षणिकता और ध्वनि प्रदान की। कालांतर में इस नवीन काव्य-भाषा का नामकरण चित्रमयी भाषा हुआ है। चित्रमयी भाषा से तात्पर्य है भाव-चित्रों के उत्पन्न करने की शक्ति रखने वाली भाषा। वर्तमान काव्य-भाषा की इसी शक्ति के सहारे वर्तमान कवियों ने अमूर्त को मूर्त और मूर्त को अमूर्त विधान से विभूषित किया है।

वर्तमान हिन्दी काव्य में इस भाषागत विशेषता के अतिरिक्त एक और विशेषता देखने को मिलती है, वह है गीतात्मकता। द्विवेदी युग में भारतेन्दु कालीन इतिवृत्तात्मकता का ही प्राधान्य बना रहा था, जिसके सहारे कवि अन्य वस्तुओं के संबंध में अपनी भावनाओं को ही व्यक्त कर सकता था; स्वतः अपने हार्दिक भावों की अभिव्यक्ति नहीं। वह धरती के ऊपर छाए हुये विस्तृत आकाश में किसी पक्षी के उड़ते हुये खो जाने के ही संबंध में कुछ लिख सकता था; किसी की आंखों के आकाश में अपने खग के खोने की बात नहीं। वर्तमान युग में स्वानुभूति-मूलक साहित्य का प्राधान्य मिलता है; स्वानुभूति काव्यरूप में प्रगीतशैली में ही अपनी स्वाभाविक अभिव्यक्ति पाती है। इसी कारण वर्तमान काव्य अधिकतर गीति-काव्य के रूप में ही देखने को मिलता है। इस काल में प्रबन्धकाव्य भी कुछ थोड़े से लिखे गए; किंतु उनके ऊपर भी गीतात्मकता का विशेष प्रभाव है। श्री मैथिलीशरण गुप्त के 'साकेत' में उसके पूर्णतः भौतिक अंश, काव्य की उपेक्षिता उर्मिला की वियोगावस्था के चित्रण में गीत-काव्य का ही रूप देखने को मिलता है। श्री गुरुभक्त सिंह की 'नूरजहां' की इतिवृत्तात्मक शैली पर भी गीतात्मकता का प्रभाव पर्याप्त है। प्रसाद जी की 'कामायनी' तो पूर्णतः प्रगीत शैली में ही लिखी गई है; इसी प्रकार श्री उदयशंकर भट्ट का 'तक्षशिला' काव्य भी इतिवृत्तात्मक है।

वर्तमान हिन्दी काव्य में अभिव्यञ्जना के एक नवीन रूप, मुक्तवृत्त का भी विकास होता है। इस मुक्तवृत्त में कवि की भावनाओं की वह रूपावली देखने को मिलती है जिसमें वह अपनी तीव्रता के कारण छन्दशास्त्र के नियमों को तोड़ती हुई चलती है। मुक्त-वृत्त का निर्माण गति और लय के आधार पर हुआ है।

वर्तमान हिन्दी काव्य को अपने विकास में बंगला तथा अंग्रेजी कविता से विशेष सहायता मिली है। बंगला ने उसकी काव्य-भाषा को सँवारने में सहायता पहुँचाई और अंग्रेज़ी कविता ने भाव-धारा के निर्माण में। बंगला के

कवियों में श्री रवीन्द्रनाथ का विशेष प्रभाव रहा है और अंग्रेजी कवियों में स्वच्छन्दतावादी कवि वर्डसवर्थ, शैली, कीट्स आदि तथा आधुनिक प्रगतिशील कवि स्टेकेन, स्पेंडर, आडेन आदि का।

स्वच्छंदतावादी धारा

जयशंकर प्रसाद

वर्तमान हिन्दी काव्य का प्रारम्भ श्री जयशङ्कर प्रसाद की रचनाओं से होता है। प्रसाद जी की सर्वप्रथम काव्य-रचना 'प्रेम-राज्य' सन् १९१० में प्रकाशित हुई थी। इसके बाद सन् १९१२ में 'कानन-कुसुम' प्रकाशित हुआ और एक वर्ष के अनन्तर 'प्रेम-पथिक'। प्रसाद जी की ये प्रारम्भिक रचनायें यद्यपि व्रजभाषा में हैं तथा पुरानी रीति से लिखी गई हैं; तथापि उनमें नवयुग का स्वर स्पष्ट रूप से सुनने को मिलता है। अन्तिम रचना 'प्रेम-पथिक' में तो स्वच्छन्दतावादी भावधारा बड़े सुन्दर रूप में व्यक्त हुई है। आगे चलकर 'प्रसाद' ने अपनी इस रचना को खड़ी बोली में भी कर दिया था। नवयुग का स्वर सबसे अधिक मुखर उनके 'झरना' नामक संग्रह में देखने को मिलता है। इसमें गीतों के साथ अतुकान्त पद्य के भी कुछ प्रयोग हैं। इस संग्रह की 'किरण' तथा 'खोलो-द्वार' शीर्षक रचनाएँ बड़ी सुन्दर हैं। १९३६ में प्रसाद का शोक-काव्य 'आँसू' प्रकाशित हुआ। आधुनिक जीवन में अन्तर-निहित पीड़ा की भावना, इस काव्य में पूर्णतः व्यक्त हुई है, किंतु अभिव्यञ्जना में एक रहस्यमयता होने के कारण वह अस्पष्ट ही रह गई है। यह अस्पष्टता ही इस काल का सबसे बड़ा गुण है। जीवन का सत्य जैसे कितनी ही बार व्यक्त हो कर आज तक एक रहस्य ही बना हुआ है।

शशि मुख पर घूंघट डाले अंचल में दीप छिपाये
जीवन की गोधूली में, कौतूहल से तुम आये

बस गई एक बस्ती है, स्मृतियों की इसी हृदय में
नक्षत्र लोक फैला है मेरे इस नील निलय में।

सुख-दुख के धूप-छाँही कगारों के बीच जैसे जीवन की धारा चिरप्रवह-मान है, 'प्रसाद' ने उसी प्रकार इस शोक-काव्य में भी विच्छेद और मिलन के क्रम की ओर एक आशामय संकेत किया है। सन् १९३६ में प्रसाद जी का 'लहर' नामक काव्य-संग्रह प्रकाशित हुआ। इस संग्रह के कई गीत तो प्रसाद की नाटकीय रचनाओं में भी समाविष्ट हैं। कुछ विशेष अवसरों के लिये लिखे गये थे। इस संग्रह की 'अशोक की चिन्ता', 'पेशोला की प्रति-ध्वनि तथा 'शेरसिंह का अस्त्र-समर्पण' आदि कवितायें बड़ी सुन्दर हैं। प्रसाद जी की सर्वोत्कृष्ट रचना 'कामायनी' है जो सन् १९३७ में प्रकाशित हुई। अपनी इस रचना में प्रसाद जी ने मनुष्य के मानसिक विकास का चित्रण किया है। इच्छा, ज्ञान और क्रिया के सामञ्जस्य में मानव-जीवन की पूर्णता दिखाई गई है। 'कामायनी' एक सृष्टि के विनाश और दूसरी सृष्टि के निर्माण की कथा है। एक अन्तर्निहित रहस्य की भावना जो 'झरना' में बड़े अनगढ़ रूप में व्यक्त हुई थी, 'आँसू' में जिसने एक स्वच्छन्दतावाद का आवरण पहन लिया था, तथा 'लहर' में जो केवल कुछ गीतों में ही व्यक्त हो सकी थी, 'कामायनी' में वह एक महाकाव्य के रूप में व्यक्त हो उठी है। 'कामायनी' वस्तुतः एक ही व्यक्ति 'मनु' की जीवन-कथा है, और यहाँ मनु मानवता का प्रतीक है। चिन्ता, आशा, लज्जा आदि की विविध मान-सिक वृत्तियों के बीच कवि ने उसका विकास दिखाया है। इस विकास को सजीवता प्रदान करने के लिए कवि ने इनमें से कुछ वृत्तियों का मानवी-करण कर दिया है। स्थान-स्थान पर प्राकृतिक दृश्यों के भी संश्लिष्ट चित्र उपस्थित किये गये हैं और षट्-ऋतुओं का वर्णन भी है। मानव जीवन के विविध रूपों तथा विभिन्न अवस्थाओं का चित्रण भी कवि ने सम्भवतः अपनी 'कामायनी' को महाकाव्य की संज्ञा से विभूषित कराने के लिये ही संस्कृत काव्य-शास्त्र के अनुसार कर दिया है। कल्पना तथा वास्तविकता का इतना सुन्दर सामञ्जस्य वर्तमान हिन्दी-काव्य में अन्यत्र नहीं मिलता।

सूर्यकांत त्रिपाठी निराला

श्री सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला' की रचनाओं में परम्पराओं के प्रति विद्रोह की भावना सबसे अधिक तीव्र रूप में देखने को मिलती है। 'जूही की कली', 'अधिवास' आदि मुक्त छन्द की रचनाओं से इनके कवि-जीवन का प्रारम्भ होता है।

निराला ने प्रकृति के वासनामय सौंदर्य का चित्रण 'शेफालिका' में किया है :—

बन्द कंचुकी के खोल दिये सब प्यार से,
यौवन उभार ने
पल्लव पर्यंक पर सोती शेफालिके
मूक आह्वान भरे लालसी कपोलों के
व्याकुल विकास पर
झरते हैं शिशिर से चुम्बन गगन के।

इन रचनाओं के बाद इन्होंने प्रगीत-शैली में भी कुछ रचनाएँ लिखीं। जैसे, 'यमुना के प्रति', 'मैं और तुम' आदि। इस काल में लिखी गई 'भिखारी' तथा 'विधवा' शीर्षक रचनाओं में इनकी दीन-हीनों के प्रति सहानुभूति देखने को मिलती है :—

वह इष्टदेव के मन्दिर की पूजा सी
वह दीप शिखा सी शांत भाव में लीन
वह क्रूर काल तांडव की स्मृति रेखा सी
वह टूटे तरु की छुटी लता सी दीन
दलित भारत की विधवा है

'जागो फिर एक बार' तथा 'शिवाजी का पत्र' आदि रचनाओं में राष्ट्रीय जागरण की भावना व्यक्त हुई है। ये प्रारम्भिक रचनाएँ अधिकांशतः मुक्त छन्द में हैं और 'परिमल' नामक संग्रह में सन् १९३० में प्रकाशित हुईं। १९३६ में 'निराला' जी के गीतों का संग्रह 'गीतिका' नाम से प्रकाशित

हुआ। निराला जी ने इस प्रकार यह दिखला दिया कि वे छन्द-शास्त्र के नियमों का उल्लंघन तथा पालन दोनों ही कर सकते हैं। 'निराला' जी की इन रचनाओं में स्वच्छन्दतावाद की भावना प्रधानतः दिखाई देती है। कुछ रहस्यवादी रचनाएँ भी हैं, किंतु वे शुद्ध साधनात्मक तथा भावनात्मक रहस्यवाद की रचनाएँ नहीं हैं। रहस्यवादी भावना उनमें स्वच्छन्दतावाद के वातावरण में ही व्यक्त हुई हैं। 'निराला' जी ने आगे चल कर 'तुलसीदास' नामक एक कथा-काव्य भी लिखा, जिसमें हिन्दी के कवि तुलसीदास के मानसिक विकास का बड़ी ओजमयी भाषा में वर्णन है। इसके बाद की 'निराला' जी की रचनाओं में 'राम की शक्ति पूजा' विशेष रूप से उल्लेखनीय है। कवि ने इस कविता में राम के मन में जागने वाले भावचित्रों का बड़ा सुन्दर तथा सजीव वर्णन किया है। परम्पराओं के विरोध में लिखी जाने वाली 'कुकुरमुत्ता' शीर्षक रचना में टी. एस. इलियट के 'वेस्टलैंड' (Waste-Land) की भाँति ही 'निराला' जी ने आधुनिक युग की दीनदशा पर कठोर व्यंग्य किया है। इधर 'वेला' तथा 'नये पत्ते' नाम से उनके दो कविता-संग्रह हाल में ही निकले हैं। इतना सब होते हुये भी उनके सम्बन्ध में एक बात का उल्लेख करना आवश्यक-सा प्रतीत होता है। वह यह कि उनकी रचनाओं में अस्पष्टता विशेष मात्रा में मिलती है।

स्वच्छन्दतावादी कवियों में प्रकृति के प्रति सबसे अधिक अनुराग श्री सुमित्रानन्दन पंत की रचनाओं में है। अल्मोड़ा जैसी प्रकृति की रम्य

सुमित्रानन्दन पन्त

गोद में उनका जन्म हुआ था, इस कारण प्राकृतिक सुंदरता जैसे उनकी दृष्टि में समा गई है और उससे उनके दृष्टिकोण में इतनी कोमलता आ गई है कि उनकी भावनाओं में प्रभात भी स्त्री का रूप रख कर आता है। उनके हृदय में कविता का जागरण सम्भवत: किसी के वियोग की भावना से हुआ था, इस तथ्य का संकेत उनकी निम्नलिखित पंक्तियों से मिलता है :—

वियोगी होगा पहला कवि,
आह से उपजा होगा गान!

उनकी सर्वप्रथम रचना 'उच्छ्वास' है। इस संज्ञा के द्वारा भी हमारे कथन की पुष्टि होती है। आगे चलकर पंत जी की अन्य रचनाएँ प्रकाशित हुई जिनमें 'वीणा', 'पल्लव', 'ग्रंथि' तथा 'गुंजन' हैं। प्रथम दो और अंतिम दो विभिन्न विषयों पर लिखी गई रचनाओं के संग्रह हैं, जिनमें प्रकृति के विभिन्न रूपों के संश्लिष्ट चित्र देखने को मिलते हैं, तथा उनके दर्शन के अनुरूप जागने वाली भावनाएँ सामने आती हैं। कहीं-कहीं इन रचनाओं में पीड़ित मानवता के प्रति सहानुभूति भी देखने को मिल जाती है—

अविरत दुःख भी उत्पीड़न
अविरत सुख भी उत्पीड़न
सुख-दुख की निशा दिवा में
सोता जगता जग जीवन

नवयौवना भारतीय विधवा के प्रति कवि बहुत दयार्द्र है। कुछ स्थानों पर प्रकृति की गोद में बैठकर कवि ने रहस्यवादी भावनाओं को भी व्यक्त किया है। 'ग्रंथि' एक कथा-काव्य है। उसमें एक प्रेम कहानी है। समय के विकास में राष्ट्रीय जागरण की भावना भी कवि के हृदय में प्रवेश पाती गई; उसने कवि की भाव-धारा को ही बदल दिया। कवि ने 'युगांत' को पहिचाना और उसे युगारम्भ की भावना के साथ हमारे आगे प्रस्तुत किया। उनका कवि 'युगवाणी' में बोला किन्तु उसमें युग-दर्शन ही अधिक है। 'ग्राम-वासिनी भारत माता' के भावना-चित्र तो 'ग्राम्या' में ही देखने को मिलते हैं।

टूट गया वह स्वप्न वणिक का
आई जब बुढ़िया बेचारी
आध पाव आटा लेने, बनिये ने डंडी मारी।

कवि का दृष्टिकोण इस संग्रह में पूर्णतः बदला हुआ दिखलाई देता है। कल का स्वर्णिम शशि आज उसे तांबे का सा दिखाई देता है। इस परिवर्तित भावधारा की रचनाओं में कवि की 'बापू के प्रति', 'ग्राम देवता' आदि रचनाएँ श्रेष्ठ हैं। 'स्वर्ण धूलि' और 'स्वर्ण किरण' में कवि मार्क्सवाद से प्रभावित है—

"तीसरे रे मूक आत्मा की गहन" 'स्वर्ण किरण' में यह दोष और विस्तृत हो गया है :

सूट बूट में सजे धजे तुम
डाल गये फाँसी का फंदा
तुम्हें कहे जो भारतीय वह
है दो आँखों वाला अंधा

इन स्वच्छन्दतावादी कवियों के अतिरिक्त वर्तमान युग के प्रारम्भ से ही हमें राष्ट्रीय जागरण की भावना लेकर चलने वाले कुछ कवि मिलते हैं।

राष्ट्रीय चेतना के कवि

इस जागरण का प्रथम स्पंदन श्री माखनलाल चतुर्वेदी की रचनाओं में मिलता है; उनके बाद श्रीमती सुभद्रा कुमारी चौहान तथा श्री बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' की रचनाएँ आती हैं। चतुर्वेदी जी की रचनाओं में 'फूल की अभिलाषा', 'कैदी और कोकिला' आदि में पर्याप्त भावोन्मेष है। आज भी वे कविताएँ हमें प्रभावित करती हैं। सुभद्रा जी की रचनाओं में 'राखी की चुनौती', 'झाँसी की रानी' तथा 'वीरों का वसन्त' आदि विशेष सफल हैं और 'नवीन' जी की रचनाओं में 'विप्लव गायन' एक क्रांति गीत है। इन कवियों के अतिरिक्त राष्ट्रीय आन्दोलन के प्रवाह में और भी अनेक कवि अपनी रचनाएँ लेकर आए थे, किन्तु उनमें काव्य-प्रतिभा इतनी नहीं थी जिसके कारण इस इतिहास में उनके उल्लेख की आवश्यकता हो। आगे चल कर राष्ट्रीयता की यह भावना हमें सांस्कृतिक चित्रों तथा सर्वहारा के संघर्षमय जीवन से शक्ति ग्रहण करती हुई दिखलाई देती है।

रहस्यवादी धारा

हमारे मानसिक विकास में परिस्थितियों द्वारा जो बाधायें उपस्थित की जाती हैं, उसके फलस्वरूप स्वच्छन्दतावादी भावधारा अपने ऊपर रहस्यमयता का आवरण ले लेती है।

महादेवी वर्मा

यह रहस्यवादी भावना श्रीमती महादेवी वर्मा की रचनाओं में देखने को मिलती है। महादेवी जी स्वभावतः अनुभूतिमयी हैं और सामाजिक गत्यवरोध ने उन्हें अपनी अनुभूति को और भी घनीभूत करने का अवसर दे

दिया है। इस प्रकार रहस्यवादी भावना उनकी रचनाओं में स्वयमेव उत्पन्न हो गई और उनमें मीरा की रहस्यमयी भावनाएँ स्वाभाविक रूप से व्यक्त होने लगीं। काव्य-प्रतिभा से सम्पन्न होने के कारण उन्होंने मीरा की अनुभूति का रहस्य पूर्णतः अपने रङ्ग में रंग लिया। महादेवी जी की भाँति वर्तमान युग के अन्य रहस्यवादी कवियों पर भी यह संवेदनात्मक प्रभाव मिलता है। वर्तमान युग में युग-दर्शन के अनुसार रहस्यमयी भावना ने किसी ईश्वरवाची नाम अथवा रूप का सहारा नहीं लिया है, वह अपने शुद्ध भावात्मक रूप में ही गृहीत हुई है। मेरी रचनाओं में भी वह इसी भावनात्मक आधार को लेकर व्यक्त हुई है। वर्तमान युग ने रहस्यमयी भावना की परिधि का भी विकास किया है, जिसमें सूक्ष्म सत्य से लेकर आज के स्थूल सत्य का भी ग्रहण है : आकाश के शशि का स्थिर सौन्दर्य भी है तथा जलाशय में प्रतिबिम्बित होने वाले चन्द्रमा की चंचल आभा भी। उसमें आधुनिक युग के पीड़ित मानव का स्वर भी सुनने को मिल जाता है तथा चिर-प्रवहमान् जीवन की धारा का कल-कल स्वर और समय की अनन्त यात्रा पर बढ़ते हुए मानव की पद-चाप इसमें स्पष्ट रूप से सुनी जा सकती है।

भगवती चरण वर्मा

श्री भगवती चरण वर्मा की रचनाओं में रहस्यवादी भावना पार्थिव आधार को लेकर व्यक्त हुई है। उनके प्रथम काव्य-संग्रह 'मधुकण' की भूमिका में इस दृष्टिकोण का संकेत है; दूसरे काव्य-संग्रह 'प्रेम संगीत' में यह पूर्णतः स्पष्ट हो गया है। पार्थिक जीवन को अपनी अभिव्यक्ति का आधार बनाकर चलने वाला कवि प्रेम की मादक संगीत-लहरी में ही नहीं खो गया; उसे आधुनिक जीवन की कठोर वास्तविकताओं से संघर्ष भी लेना पड़ा। वर्मा जी के तृतीय काव्य-संग्रह 'मानव' में इस प्रकार के बहुत से चित्र हैं। उन्होंने उसमें आधुनिक भारत की मन्थर तथा प्रगतिशील दोनों ही प्रकार की जीवन-धाराओं का अपनी 'भैंसा गाड़ी' तथा 'ट्राम' शीर्षक रचना में चित्रण किया है।

'श्री हरिवंश राय बच्चन' की रचनाओं में मध्यवर्ग के एक नवयुवक की भावनाओं के चित्र मिलते हैं जो कहीं आँसुओं से भीगे हुये हैं, कहीं आत्म-निर्भरता से आलोकमय हैं। कहीं-कहीं उनमें आज के विद्रोह का स्वर भी फूट पड़ा है। उन्होंने 'अश्रु स्वेद रक्त से लथ-पथ' आज के मानव को अपने 'अग्निपथ' पर बढ़ते हुये भी देखा है। वर्तमान जीवन की स्वच्छन्द-भावनाओं की अभिव्यक्ति उनके 'मधुकलश' में पर्याप्त मात्रा में प्राप्त होती है। 'निशा निमन्त्रण' तथा 'एकान्त संगीत' में शोककाव्य की करुणा व्याप्त है। अभी कुछ दिन हुये उनका 'बंगाल का काल' नामक काव्य-ग्रन्थ प्रकाशित हुआ। इसमें इन्होंने दुर्भिक्ष से पीड़ित जनता को विद्रोह के लिए निमन्त्रित किया है। 'हलाहल' उनकी उत्तम कृति है। 'मिलन यामिनी' तथा कुछ अन्य स्फुट गीत जो उन्होंने विदेश यात्रा के समय लिखे हैं उनकी अन्तिम रचनाएँ हैं।

श्री हरिवंश राय 'बच्चन'

वर्तमान काव्यधारा में प्रेम तथा पीड़ित जनता के प्रति सहानुभूति इन दोनों भावनाओं का द्वन्द्व देखने को मिलता है। नरेन्द्र शर्मा की रचनाओं में यह अंतर्द्वन्द्व सबसे अधिक स्पष्ट है। अपने 'प्रवासी के गीत' आदि संग्रहों में उन्होंने अपनी प्रेम की भावना को व्यक्त किया है तथा 'कामिनी' जैसा एक स्वच्छन्दतावादी प्रेम-काव्य भी लिखा है। अपने 'लाल-निशान' में उन्होंने आधुनिक युग के वर्ग-संघर्ष को अपनाया है, तथा प्रगति के पथ पर आगे बढ़ती हुई जनता के लिए कुछ गीत भी लिखे हैं।

नरेन्द्र शर्मा

प्रेम की अतृप्त प्यास एवं क्रांति का उद्घोष 'अञ्चल' की कविताओं में उग्र होकर आया है। मार्क्सवादी भावधारा के साथ जीवन की विभिन्न प्रेमानुभूतियों की ओर अञ्चल की कविता उन्मुख हुई है।

अंचल

इतिहास के पृष्ठों का आधार लेकर अपनी राष्ट्रीयता को व्यक्त करने वाले प्रधान रूप से दो कवि हैं : श्री रामधारी सिंह 'दिनकर' तथा श्री श्याम नारायण पाण्डेय। 'दिनकर' ने 'रेणुका' में भारत के प्राचीन अवशेषों की गोद में बैठकर हृदय की राष्ट्रीय भावना को जगाया है। इस भावधारा में उनकी 'हिमालय' तथा 'वैशाली' आदि रचनाएँ बड़ी सुन्दर हैं। श्री श्याम नारायण ने 'हल्दी घाटी' नामक काव्य-ग्रन्थ में हल्दी घाटी के युद्ध का ओजस्विनी भाषा में वर्णन किया है। 'दिनकर' की राष्ट्रीयता ने आगे चल कर सर्वहारा वर्ग के प्रति सहानुभूति पूर्ण रचनाएँ लिखी हैं। विशेष उल्लेख्य उनमें से 'दिगम्बरि बोल' तथा 'हाहाकार' हैं।

'दिनकर' तथा श्यामनारायण पाण्डेय

द्विवेदी युग के प्रमुख कवि श्री मैथिली शरण गुप्त की काव्य-प्रतिभा आज भी जागरूक है,इसलिए यहाँ उनकी भी नवीनतम रचनाओं का उल्लेख करना आवश्यक है। इनमें से 'साकेत', 'यशोधरा' तथा 'नहुष' प्रमुख हैं। 'साकेत' राम काव्य की परम्परा में लिखा गया है। काव्य की उपेक्षिता उर्मिला उसमें मुखरित हो उठी है। 'यशोधरा' में गौतम के गृह-त्याग के अनन्तर वियोगिनी यशोधरा की मानसिक भावनाओं का चित्रण है। राहुल के साथ यशोधरा के वार्तालाप से उसमें बड़ी सजीवता आ गई है। 'नहुष' पौराणिक इतिवृत्त के अनुसार एक श्रेष्ठ मानव के स्वर्ग से पतन की कथा है। निपतित होते हुए भी नहुष के मन में फिर से ऊपर उठने का विश्वास है। इस कथा-काव्य को देखकर ज्ञात होता है कि गुप्त जी ने वर्तमान प्रगतिशील भाव-धारा को भी भली प्रकार समझा है और उसे अपना कर सफलता के साथ व्यक्त भी किया है। प्रगतिशीलता का तात्पर्य केवल मजदूरों तथा किसानों के प्रति होने वाले अनाचारों को व्यक्त करना ही नहीं है, वरन् आधुनिक परिस्थितियों में मनुष्य के विकास का पथ प्रशस्त करना भी है।

मैथिली शरण गुप्त

वर्तमान युग के अन्य कवियों में सर्व श्री सियाराम शरण गुप्त, उदय शङ्कर भट्ट, राम विलास तथा 'अज्ञेय' आदि का नाम लिया जा सकता है।

अन्य कवि

श्री सियाराम शरण के काव्य में त्याग, तप तथा अद्भुत रस का पर्याप्त मिश्रण है। 'बापू', 'उन्मुक्त' इनके सुन्दर काव्य हैं। श्री भट्ट जी का काव्य दार्शनिकता एवं चिन्तन की धारा की ओर अधिक प्रभावशाली रहा है। मुक्तक छन्दों के साथ व्यक्ति-भावना के गीतों की भी इन्होंने सृष्टि की है। मुक्तक छन्द में लुई-सुई शेंकाई, बङ्गाल, नर्तकी इनकी प्रसिद्ध रचनाएँ हैं। अन्तिम दोनों की रचनाओं में हिन्दी कविता के वस्तु तथा भाव दोनों ही बदले हुये मिलते हैं। परिवर्तन के इस क्रम का प्रारम्भ सुमित्रानन्दन पन्त ने अपनी 'युगवाणी' से किया था। भगवतीचरण, दिनकर, नरेन्द्र तथा अंचल ने उसके विकास को गतिप्रदान की।

नाट्य-साहित्य

वर्तमान युग में नाटकों की रचना में विशेष प्रगति देखने को मिलती है। संस्कृत नाट्यशास्त्र के अनुसार नाटकों में पहले नांदी; प्रस्तावना; वन्दना का होना आवश्यक था। आधुनिक नाटकों में यह परिपाटी छोड़ दी गई। प्राचीन नाटकों में प्रस्तावना में नाटक की रूपरेखा खींच देना आवश्यक था। आधुनिक काल में यह अनुपयुक्त समझा गया। रसोद्रेक नाटक का प्रधान गुण था और प्रवेशकों तथा विष्कम्भकों द्वारा किसी बात का परिचय करना भी आवश्यक था। इसी प्रकार लम्बे स्वगत कथन और लम्बे अंकों का होना संस्कृत नाटकों की विशेषता थी। आधुनिक नाट्य साहित्य में इनका लोप हो गया। नाटकों के कला-पक्ष का इस काल में पर्याप्त विकास हुआ। इतिहास के अनुशीलन तथा आधुनिक युग की आवश्यकता के अनुसार ऐतिहासिक नाटक पर्याप्त संख्या में लिखे गये। पश्चिम के प्रतीकवादी नाटकों की रचना-शैली भी अपनाई गई तथा सामाजिक प्रश्नों को लेकर भी नाटकीय रचनाएँ लिखी गई। इधर कुछ वर्षों से पश्चिम के एकांकी नाटकों के अनुकरण में हिन्दी में भी एकांकी नाटक लिखे जाने लगे हैं।

वर्ण्य विषय

जयशंकर प्रसाद

वर्तमान युग के सर्वप्रथम नाटककार श्री जयशङ्कर प्रसाद जी हैं। उन्होंने भारतीय इतिहास के आदिम युग को अपनी नाटकीय रचनाओं में हमारे सामने फिर से प्रस्तुत कर दिया है। जनमेजय के समय से लेकर उनके ऐतिहासिक नाटक हर्षवर्धन के समय तक आते हैं। इस बीच के सभी ऐतिहासिक व्यक्तित्व जनमेजय, बुद्ध, अजातशत्रु, चाणक्य, चन्द्रगुप्त, स्कन्दगुप्त, हर्षवर्धन तथा पुलकेशिन् 'प्रसाद' के नाटकों में देखने को मिल जाते हैं। प्रसाद जी स्वच्छन्दतावादी कवि थे, अपनी नाटकीय-रचनाओं में भी इसी कारण उन्होंने स्वच्छन्दतावादी भावधारा को ही प्रश्रय दिया है। अपने कला-पक्ष में भी उन्होंने शास्त्रीय सीमाएँ स्वीकार नहीं कीं। संस्कृत नाट्य-शास्त्र के अनुसार जो दृश्य वर्जित हैं, जैसे युद्ध, विग्रह, रण-प्रयाण आदि, उन्हें भी प्रसाद जी ने अपनी रचनाओं में स्थान दिया है। प्रसाद जी के नाटकों का सबसे बड़ा दोष यह बताया जाता है कि वे रंगमंच पर अभिनीत नहीं हो सकते। इस सम्बन्ध में उनका अपना मत भी विचारणीय है : रंगमञ्च का निर्माण नाटककार की रचनाओं के आधार पर ही होना चाहिये।

प्रसाद जी के सबसे सुन्दर नाटक हैं—'अजात-शत्रु', 'चन्द्रगुप्त मौर्य' तथा 'स्कन्द-गुप्त विक्रमादित्य'। इन तीनों ही ऐतिहासिक नाटकों की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि विशेष पुष्ट है। भारत के आदिम युग की जीवन-धारा का इनमें पर्याप्त परिचय मिल जाता है। समय-समय पर उस काल में जो दार्शनिक, सामाजिक तथा राजनीतिक संघर्ष हुये थे, उनका भी इनमें दिग्दर्शन है। 'अजात शत्रु' में बौद्ध दर्शन का—क्षमा का—आदर्श, 'चन्द्रगुप्त मौर्य' में आर्य तथा यूनानी संस्कृतियों का समन्वय तथा 'स्कन्दगुप्त विक्रमादित्य' में उत्सर्गमय जीवन का सिद्धान्त नाटककार ने प्रतिपादित किया है। चाणक्य जैसे शक्तिशाली व्यक्तित्व में भी मानव-जनित दुर्बलता दिखाई गई है। वह भी कभी नारी के प्रति आकर्षित हुआ था। 'प्रसाद' की रचनाओं पर बौद्ध दर्शन का प्रभाव विशेष है, इसी कारण उनके नाटकों की समाप्ति सुख तथा

दुख की भावनाओं से उठ कर एक नवीन भाव-लोक में होती है, जिनमें करुणा, क्षमा और त्याग की भावनाओं का प्राधान्य है। प्रसाद की नाटकीय रचनाओं को इसीलिए हमें सुखान्त अथवा दुखान्त नहीं कहना चाहिये। उसे 'लोकोत्तर रसान्त' कहना सत्य के अधिक निकट है।

वर्तमान काल में विशेष रूप से ऐतिहासिक नाटकों की ही रचना हुई है। प्रसाद के बाद इस क्षेत्र में सर्वश्री गोविन्द वल्लभ पन्त, जगन्नाथ प्रसाद 'मिलिन्द' तथा हरिकृष्ण 'प्रेमी' का नाम आता है। पन्त गोविन्द वल्लभ जी का ऐतिहासिक नाटक है 'राजमुकुट'। पन्ना दाई के

पंत

अपूर्व त्याग की कथावस्तु लेकर यह नाटक लिखा गया है। उनके दो नाटक और हैं; 'वरमाला' तथा 'अंगूर की बेटी'। प्रथम नाटक मार्कण्डेय पुराण की एक कथा पर आधारित है और दूसरा शराब पीने के दुष्परिणाम में एक आधुनिक सामाजिक स्थिति को लेकर लिखा गया है। पंत जी के नाटक रंगमञ्च की सीमाओं को स्वीकार करते हुये लिखे गये हैं, किन्तु उनमें साहित्यिकता अधिक नहीं है।

'मिलिन्द' जी का ऐतिहासिक नाटक 'प्रताप-प्रतिज्ञा' है। यह मध्ययुग

मिलिन्द

के प्रसिद्ध ऐतिहासिक पुरुष महाराणा प्रताप सिंह के चरित्र-चित्रण के लिए लिखा गया है।

'प्रेमी' जी ने दो ऐतिहासिक नाटकों की रचना की : 'रक्षा-बन्धन' तथा 'शिवा-साधना'। प्रथम नाटक हिन्दू-मुसलिम सामंजस्य की भावना को बढ़ाने के लिए लिखा गया है। भारतीय इतिहास में किस प्रकार

हरि कृष्ण 'प्रेमी'

एक बार मेवाड़ की रानी कर्मवती ने अपने राज्य की रक्षा के लिये हुमायूं को भाई मान कर उन्हें राखी भेजी थी और हुमायूं ने उसे स्वीकार कर उसकी रक्षा की थी, उसी कथावस्तु पर यह नाटक आधारित है। 'शिवा-साधना' में शिवा जी के जीवन में अपने देश को स्वतन्त्र करने की भावना का प्राधान्य दिखाया गया है। प्रेमी जी के ऐतिहासिक नाटकों पर इस प्रकार जीवन की वर्तमान धारा का प्रभाव विशेष रूप से मिलता है।

वर्तमान युग में प्रतीकों का आश्रय लेकर लिखने वाले दो नाटककार हैं। श्री सुमित्रानन्दन पन्त तथा श्रीभगवती प्रसाद वाजपेयी।

सुमित्रा नन्दन पन्त तथा भगवती प्रसाद वाजपेयी

पन्त जी ने विभिन्न प्राकृतिक शक्तियों का मानवीकरण अपनी 'ज्योत्स्ना' में प्रस्तुत किया है। इस रचना पर बेल्जियन नाटककार मेंटरलिंग के 'ब्ल्यू बर्ड' का विशेष प्रभाव है। इस प्रतीकवादी नाटक में पन्तजी का कवि-रूप ही अधिक व्याप्त है। 'ज्योत्स्ना' कवि की एक भावात्मक कल्पना है। अपने चारों ओर संसार में सर्वत्र अराजकता देखकर इन्दु की ज्योत्स्ना से कवि ने उसमें एक नियमन स्थापित करने तथा एक स्वतंत्र समाज स्थापित करने का प्रयत्न किया है। वाजपेयी जी की 'छलना' में मानसिक वृत्तियों का मानवीकरण किया गया है। उसमें मानसिक संघर्ष देखने को मिलता है। 'ज्योत्स्ना' की भाँति उसका सौन्दर्य भावनामय नहीं, वरन् यथार्थमय है। इस नाटक की समस्या भी सामाजिक है, वह है नारी की समस्या। वाजपेयी जी ने इस समस्या का कोई हल नहीं प्रस्तुत किया है। नारी के जीवन का अन्त उन्होंने दुःखमय ही दिखाया है; फलतः क्या पुरुष का जीवन भी दुःखान्त नहीं हो जायगा? इस प्रकार के निराशावादी साहित्य की सृष्टि हिन्दी साहित्य को आगे नहीं बढ़ा सकेगी।

लक्ष्मी नारायण मिश्र

समस्या-नाटकों की रचना वर्तमान युग में श्री लक्ष्मी नारायण मिश्र द्वारा हुई। मिश्रजी की रचनाओं पर इब्सन और बर्नार्ड शा के नाट्य-सिद्धांतों का विशेष प्रभाव है। इसीलिए उन्होंने अपनी रचनाओं में गीतों तथा भावुक कथनों को विशेष स्थान नहीं दिया है। इनके नाटकों की समस्या भी प्रधान रूप से नारी ही की समस्या है। मिश्र जी के नाटक हैं; 'संन्यासी', 'राक्षस का मन्दिर', 'मुक्ति का रहस्य', 'राजयोग', 'सिन्दूर की होली'। इन सभी रचनाओं में उन्होंने नारी के अध्ययन ही प्रस्तुत किए हैं। आज की भारतीय जीवन-धारा में तो इनके नाटकों के पात्र देखे नहीं जाते। इस कारण लगता है—लेखक ने पश्चिम के मानसिक विकारों से युक्त व्यक्तियों को भारतीय

परिधान में हमारे सामने उपस्थित किया है। मनोविज्ञान के चित्रण में वे विशेष सफल हुए हैं।

पौराणिक, ऐतिहासिक तथा सामाजिक नाटक लिखने में श्री उदयशङ्कर भट्ट का अपना विशेष स्थान है। भट्ट जी ने 'विक्रमादित्य', 'दाहर' तथा 'मुक्ति पथ' नाम के तीन ऐतिहासिक नाटक लिखे हैं।

उदयशंकर भट्ट

अम्बा, सगर-विजय, आदिम-युग, मनु और मानव, कुमार-संभव पौराणिक नाटक हैं। मत्स्यगंधा, राधा, विश्वामित्र तीन भाव नाट्य हैं। इन्हें गीति नाट्य भी कहा जा सकता है। 'कमला' और 'अन्त-हीन अन्त' उनके दो सामाजिक नाटक हैं। श्री भट्ट जी ने इन नाटकों को लिखने में संस्कृत नाटकों की शैली का अनुकरण नहीं किया है। इन नाटकों में स्त्री, पुरुष, समाज व्यवस्था, प्रेम के लिए त्याग, राज्य नियंत्रण आदि सभी समस्याओं पर प्रकाश डाला गया है। भट्ट जी के नाटकों में अधिकतर दुःखान्त नाटक हैं। एक तरह से कहना होगा कि दुःखान्त नाटक लिखने का सबसे अधिक प्रयास भट्ट जी का है। इनके दुःखान्त नाटकों की कल्पना ग्रीक तथा अन्य योरोपीय नाटकों से भिन्न है। चरित्र-चित्रण, संवाद की प्रौढ़ता इनके नाटकों का प्रधान गुण है।

इन नाटककारों के अतिरिक्त सर्वश्री उपेन्द्रनाथ अश्क, सत्येन्द्र, पृथ्वीनाथ शर्मा, चन्द्रगुप्त विद्यालंकार और गोविंददास ने भी नाटकों की सृष्टि की है। इनके नाटकों में प्रायः सभी प्रकार की समस्याएँ हैं। फिर

अन्य नाट्यकार

भी समाजसुधार, अछूतोद्धार, अहिंसा तथा त्याग, दया आदि प्रत्येक विषय पर इनके नाटक हैं। सेठ जी के नाटकों की संख्या हिन्दी के प्रत्येक नाटककार से अधिक है। हर्ष, शशिगुप्त, कुलीनता, कर्तव्य, प्रकाश, सेवापथ आदि इनके प्रसिद्ध नाटक हैं। इनके नाटकों में साहित्य-सौष्ठव की अपेक्षा वस्तु-कल्पना अधिक है।

एकांकी नाटक

पश्चिम के अनुकरण में इधर कुछ वर्षों से हिन्दी में एकांकी नाटक भी

वृन्दावन लाल वर्मा

का नाम आता है। वर्मा जी ने प्रधानतः ऐतिहासिक उपन्यास ही लिखे; 'गढ़ कुंडार' तथा 'विराटा की पद्मिनी'। ये दोनों ही उपन्यास बुन्देलखंड के इतिहास से सम्बंधित हैं। 'गढ़ कुंडार' की कथावस्तु तो पूर्णतः ऐतिहासिक है। 'विराटा की पद्मिनी' में अवश्य कल्पना की रंगीनी अधिक है। वर्मा जी स्वयं बुन्देलखंड के अधिवासी हैं और अपने उपन्यासों के घटना-क्षेत्र का उन्होंने पर्यटन करके विस्तृत ज्ञान भी प्राप्त किया है। इस कारण उनकी रचनाओं में स्थानीय अनुरंजन भी विशेष मिलता है। भाव-धारा की दृष्टि से उनके उपन्यासों में भी नारी तथा पुरुष के पारस्परिक सम्बंध की समस्या सामने आती है। किंतु उसका हल आधुनिक युग में अन्य साहित्यकारों की भाँति बौद्धिक रूप से नहीं वरन् भावनात्मक रूप से ही दिया गया है।

बेचन शर्मा उग्र

समाज के कुत्सित क्षेत्रों का चित्रण करने का ध्येय लेकर श्री बेचन शर्मा 'उग्र' ने उपन्यास-रचना का प्रारम्भ किया था। उनके उपन्यसों के नाम हैं: 'चन्द हसीनों के खतूत', 'दिल्ली का दलाल' 'बुधुआ की बेटी', 'शराबी' 'वराटा' आदि। इनमें अप्राकृतिक कृत्यों से लेकर स्त्री-विक्रय जैसे नारकीय व्यापार तक देखने को मिल जाते हैं। इस प्रकार की रचनाओं का निर्माण तो सुधारवादी भावनाओं से हुआ था, किंतु वह इन कुत्सित वर्णनों में खो सी गई है।

चतुरसेन शास्त्री

श्री चतुरसेन शास्त्री की रचनाओं में भी आज के सामाजिक पतन के चित्र ही देखने को मिलते हैं, किन्तु उनमें अश्लीलता की मात्रा उतनी अधिक नहीं है जितनी 'उग्र' की रचनाओं में। 'उग्र' का सा जीवन का विस्तृत अध्ययन भी उनके पास नहीं है। 'उग्र' के उपन्यासों को पढ़ने से ज्ञात होता है कि उन्होंने खोज-खोज कर सामाजिक अनाचार देखे हैं। शास्त्री जी नारी तथा पुरुष के पारस्परिक सम्बन्ध में संतुलन स्थापित करने के लिए प्रयत्नशील दिखाई देते हैं। अपने प्रारम्भिक उपन्यासों 'हृदय की प्यास',

'हृदय की परख' आदि में उन्होंने इसी दृष्टिकोण को रखा है। अपने तीसरे उपन्यास 'आत्म-दाह' में उन्होंने भारतीय विधवा की समस्या को उठाया है और उसका हल भी व्यावहारिक रूप से दिया है। यदि विधवा कठोर संयम के जीवन को स्वीकार नहीं कर सकती तो उसके लिए विवाह कर लेना आवश्यक है। कला की दृष्टि से शास्त्रीजी के उपन्यास बड़े शिथिल हैं। 'आत्म-दाह' ही कई कहानियों का संग्रह सा प्रतीत होता है जो कि भाव-साम्य के कारण एक सूत्र में बाँध दिया गया है। उनका चौथा उपन्यास 'अमर अभिलाषा' तो बहुत ही शिथिल है।

जयशंकर प्रसाद

प्रसादजी भी नाटककार के रूप में पर्याप्त ख्याति प्राप्त करने के बाद उपन्यासों की रचना में प्रयत्नशील हुये थे। अपने उपन्यासों में उन्होंने आधुनिक जीवन के अध्ययन प्रस्तुत किए हैं। नाटकों की भाँति उनके उपन्यासों में भी उनका कवि स्थान-स्थान पर बोल उठता है। 'प्रसाद' जी के उपन्यासों की कथावस्तु भी प्रेमचन्द की कथा-शैली की भाँति जन-साधारण की जीवन-धारा से ही सम्बन्धित है। उन्होंने 'इरावती' के रूप में हमें एक ऐतिहासिक उपन्यास देने का भी प्रयास किया था, किंतु उसे पूरा करने के पहले ही वे हमें छोड़कर चले गए। 'इरावती' के जो पृष्ठ प्राप्त हैं, उनमें कथा का चमत्कार तो अधिक नहीं है, किंतु सांस्कृतिक पृष्ठभूमि अवश्य बड़ी सुन्दर बन पड़ी है।

जैनेन्द्र कुमार

श्री जैनेन्द्र कुमार प्रारम्भ से ही समस्या-उपन्यासों की रचना में प्रयत्नशील दिखाई देते हैं। वे जीवन में व्यावहारिक न हो कर आदर्शवादी हैं और इस लिए वे समस्याओं का कोई हल उपस्थित नहीं कर पाते। अपने सब से पहले उपन्यास 'परख' में उन्होंने भारतीय विधवा की समस्या को उठाया था, किंतु अंत तक पहुँचते-पहुँचते वे 'वैदिक-यज्ञ' में ही उलझ गए, उसके लिए कोई मुक्ति का मार्ग नहीं बता सके। अपने दूसरे उपन्यास 'सुनीता' में उन्होंने पुरुष के

लिखे जाने लगे हैं। प्रमुख एकांकी नाटककार हैं : सर्वश्री गणेश प्रसाद द्विवेदी, उदय शंकर भट्ट, भुवनेश्वर, उपेन्द्र नाथ 'अश्क' आदि। इन सभी लेखकों की रचनाएँ यद्यपि सुन्दर हैं, तथापि उनमें से अधिकांश एकांकी नाटक-रचना-कौशल का पूर्ण निर्वाह नहीं कर सके। श्री गणेशप्रसाद द्विवेदी के दो संग्रह प्रकाशित हुए : 'सुहाग बिन्दी' और 'दगा'। श्री उदय शंकर भट्ट के भी दो नाटक-संग्रह प्रकाश में आए : 'अभिनव एकांकी नाटक' और 'स्त्री का हृदय'। उपेन्द्रनाथ अश्क ने दो एकांकी-संग्रह प्रस्तुत किए : 'छठा बेटा' और 'देवताओं की छाया में'। श्री भुवनेश्वर का केवल एक संग्रह देखने में आया : 'कारवां'। मेरे एकांकी नाटकों के चार संग्रह अभी तक प्रकाशित हुए हैं : 'पृथ्वीराज की आंखें', 'रेशमी टाई', 'चारु मित्रा' तथा 'विभूति'। सुमित्रा नन्दन पन्त द्वारा सम्पादित 'रूपाभ' में कई वर्ष हुए दो सुन्दर एकांकी नाटक प्रकाशित हुए थे : श्री जगदीश चन्द्र कृत 'भोर का तारा' तथा 'जय-पराजय'। हिन्दी एकांकी नाटकों के विकास में इन दोनों रचनाओं का भी विशेष स्थान है। एकांकी नाटकों में कौतूहल को लेते हुए जिस मनोवैज्ञानिक चरित्र-विधान की आवश्यकता है वह अभी हिन्दी के क्षेत्र में कम दिखाई पड़ती है।

वर्तमान युग के अन्य नाटककारों में सर्वश्री प्रेमचन्द, भगवती चरण वर्मा के नाम लिए जा सकते हैं। श्री प्रेमचन्द ने दो नाटक लिखे थे : 'कर्बला' तथा 'संग्राम'।

कथा-साहित्य

वर्तमान युग में कथा-साहित्य का सृजन सबसे अधिक हुआ है। इस काल में सभी प्रकार के उपन्यास लिखे गए : सामाजिक, राजनीतिक, ऐतिहासिक। उनके कलापक्ष का विकास भी विशेष हुआ। प्रेमचन्द ने अपने चारों ओर की कठोर वास्तविकताओं के चित्र प्रस्तुत किए। समाज के प्रायः सभी वर्गों का चित्रण इस युग के उपन्यासों में देखा जा सकता है। उनमें भारत का सबसे अधिक दलित तथा शोषित किसान भी बोलता है, तथा बड़े बड़े धनपति भी बातचीत करते हुए देखे जाते हैं। संन्यासी का मानसिक

विकास देखने को मिलता है और कामुक का आन्तरिक संघर्षों के बीच स्वाभाविक पतन भी।

(क) उपन्यास

वर्तमान कथा-साहित्य का विकास प्रेमचन्द से आरम्भ होता है। ऊपर सामाजिक उपन्यासों से प्रेमचन्द के उपन्यास-लेखन का प्रारम्भ दिखाया जा चुका है। वर्तमान युग में वे बढ़ती हुई राष्ट्रीय-आन्दोलन की भावधारा को अपनी रचनाओं में संवारते सजाते हुये मिलते हैं। राष्ट्रीय आन्दोलन के विकास के साथ उनकी कला का भी विकास होता गया। प्रारम्भ में उन्होंने सन् १६२०-२२ के राजनीतिक-आन्दोलन के चित्रण को अपना विषय बनाया। उसके चित्र हमें 'रंगभूमि' में देखने को मिलते हैं। फिर सन् १६३० के आन्दोलन के यथार्थ चित्र 'कर्मभूमि' में उपस्थित किए गए हैं और अन्त में 'गोदान' में साम्राज्यवाद के दमन-चक्र के नीचे पिसते हुये भारतीय मानव का चित्र अमिट रंगों से उपस्थित किया गया है।

प्रेमचन्द

इन राजनीतिक भावनाओं से ओत-प्रोत उपन्यासों के अतिरिक्त प्रेमचन्द जी ने कुछ सामाजिक उपन्यास भी लिखे जैसे 'निर्मला', 'गबन' आदि। किंतु उसकी विशेष रुचि भारत के दलित तथा पीड़ित मानव को अभिव्यक्ति के लिए वाणी देने की ओर ही बनी रही। भारतीय जीवन को उन्होंने उसकी गहराई के साथ देखा था। तभी तो उनके उपन्यासों के पढ़ने पर लगता है: जैसे हम अपने चारों ओर की ही बातें देख-सुन रहे हैं। इतनी व्यापक दृष्टि रखने वाला साहित्यकार आधुनिक समय में हिंदी ही नहीं अन्य किसी भारतीय साहित्य में भी नहीं मिलता। अपनी इसी विशेषता के कारण कलापक्ष में शिथिलता रखते हुए भी रवीन्द्रनाथ तथा शरत् चन्द्र की कोटि के साहित्यकार माने गए हैं।

श्री प्रेमचन्द के बाद हिंदी उपन्यास के विकास में श्री वृन्दावन लाल वर्मा

का नाम आता है। वर्मा जी ने प्रधानतः ऐतिहासिक उपन्यास ही लिखे; 'गढ़ कुंडार' तथा 'विराटा की पद्मिनी'। ये दोनों ही उपन्यास बुन्देलखंड के इतिहास से सम्बंधित हैं। 'गढ़ कुंडार' की कथावस्तु तो पूर्णतः ऐतिहासिक है। 'विराटा की पद्मिनी' में अवश्य कल्पना की रंगीनी अधिक है। वर्मा जी स्वयं बुन्देलखंड के अधिवासी हैं और अपने उपन्यासों के घटना-क्षेत्र का उन्होंने पर्यटन करके विस्तृत ज्ञान भी प्राप्त किया है। इस कारण उनकी रचनाओं में स्थानीय अनुरंजन भी विशेष मिलता है। भाव-धारा की दृष्टि से उनके उपन्यासों में भी नारी तथा पुरुष के पारस्परिक सम्बंध की समस्या सामने आती है। किंतु उसका हल आधुनिक युग में अन्य साहित्यकारों की भाँति बौद्धिक रूप से नहीं वरन् भावनात्मक रूप से ही दिया गया है।

वृन्दावन लाल वर्मा

समाज के कुत्सित क्षेत्रों का चित्रण करने का ध्येय लेकर श्री बेचन शर्मा 'उग्र' ने उपन्यास-रचना का प्रारम्भ किया था। उनके उपन्यसों के नाम हैं: 'चन्द हसीनों के खतूत', 'दिल्ली का दलाल' 'बुधुआ की बेटी', 'शराबी' 'बराटा' आदि। इनमें अप्राकृतिक कृत्यों से लेकर स्त्री-विक्रय जैसे नारकीय व्यापार तक देखने को मिल जाते हैं। इस प्रकार की रचनाओं का निर्माण तो सुधारवादी भावनाओं से हुआ था, किंतु वह इन कुत्सित वर्णनों में खो सी गई है।

बेचन शर्मा उग्र

श्री चतुरसेन शास्त्री की रचनाओं में भी आज के सामाजिक पतन के चित्र ही देखने को मिलते हैं, किन्तु उनमें अश्लीलता की मात्रा उतनी अधिक नहीं है जितनी 'उग्र' की रचनाओं में। 'उग्र' का सा जीवन का विस्तृत अध्ययन भी उनके पास नहीं है। 'उग्र' के उपन्यासों को पढ़ने से ज्ञात होता है कि उन्होंने खोज-खोज कर सामाजिक अनाचार देखे हैं। शास्त्री जी नारी तथा पुरुष के पारस्परिक सम्बन्ध में संतुलन स्थापित करने के लिए प्रयत्नशील दिखाई देते हैं। अपने प्रारम्भिक उपन्यासों 'हृदय की प्यास',

चतुरसेन शास्त्री

'हृदय की परख' आदि में उन्होंने इसी दृष्टिकोण को रखा है। अपने तीसरे उपन्यास 'आत्म-दाह' में उन्होंने भारतीय विधवा की समस्या को उठाया है और उसका हल भी व्यावहारिक रूप से दिया है। यदि विधवा कठोर संयम के जीवन को स्वीकार नहीं कर सकती तो उसके लिए विवाह कर लेना आवश्यक है। कला की दृष्टि से शास्त्रीजी के उपन्यास बड़े शिथिल हैं। 'आत्म-दाह' ही कई कहानियों का संग्रह सा प्रतीत होता है जो कि भाव-साम्य के कारण एक सूत्र में बाँध दिया गया है। उनका चौथा उपन्यास 'अमर अभिलाषा' तो बहुत ही शिथिल है।

जयशंकर प्रसाद

प्रसादजी भी नाटककार के रूप में पर्याप्त ख्याति प्राप्त करने के बाद उपन्यासों की रचना में प्रयत्नशील हुये थे। अपने उपन्यासों में उन्होंने आधुनिक जीवन के अध्ययन प्रस्तुत किए हैं। नाटकों की भाँति उनके उपन्यासों में भी उनका कवि स्थान-स्थान पर बोल उठता है। 'प्रसाद' जी के उपन्यासों की कथावस्तु भी प्रेमचन्द की कथा-शैली की भाँति जन-साधारण की जीवन-धारा से ही सम्बन्धित है। उन्होंने 'इरावती' के रूप में हमें एक ऐतिहासिक उपन्यास देने का भी प्रयास किया था, किंतु उसे पूरा करने के पहले ही वे हमें छोड़कर चले गए। 'इरावती' के जो पृष्ठ प्राप्त हैं, उनमें कथा का चमत्कार तो अधिक नहीं है, किंतु सांस्कृतिक पृष्ठभूमि अवश्य बड़ी सुन्दर बन पड़ी है।

जैनेन्द्र कुमार

श्री जैनेन्द्र कुमार प्रारम्भ से ही समस्या-उपन्यासों की रचना में प्रयत्नशील दिखाई देते हैं। वे जीवन में व्यावहारिक न हो कर आदर्शवादी हैं और इस लिए वे समस्याओं का कोई हल उपस्थित नहीं कर पाते। अपने सब से पहले उपन्यास 'परख' में उन्होंने भारतीय विधवा की समस्या को उठाया था, किंतु अंत तक पहुँचते-पहुँचते वे 'वैदिक-यज्ञ' में ही उलझ गए, उसके लिए कोई मुक्ति का मार्ग नहीं बता सके। अपने दूसरे उपन्यास 'सुनीता' में उन्होंने पुरुष के

हृदय में नारी के प्रति जो स्वाभाविक आकर्षण है, उसे एक समस्या के रूप में उपस्थित किया, किंतु समस्या हल होने के पहले ही उपन्यास समाप्त हो जाता है। अपनी इस दुर्बलता को श्री जैनेन्द्र कुमार ने भली प्रकार पहचान लिया था, इसी लिए आगे के उपन्यासों में उन्होंने किसी समस्या को उठाया ही नहीं। वे केवल उलझन को ही व्यक्त कर रह गए। 'कल्याणी' तथा 'त्याग-पत्र' में यह उलझन ही देखने को मिलती है। श्री जैनेन्द्र कुमार के उपन्यासों के वस्तु-संगठन में सुन्दरता अवश्य है।

भगवती चरण वर्मा

श्री भगवती चरण वर्मा ने भी तीन उपन्यास लिखे हैं : 'पतन', 'चित्र-लेखा' तथा 'तीन-वर्ष'। प्रथम एक साधारण कोटि की रचना है। दूसरे ने ऐतिहासिक उपन्यास के रूप में विशेष ख्याति प्राप्त की है। इस उपन्यास में वर्मा जी ने पाप तथा पुण्य की समस्या को उठाया है। इसकी व्याख्या लेखक ने एक योगिराज तथा दूसरे विलास-प्रिय व्यक्ति को लेकर ही की है। वर्मा जी का कहना है कि मनुष्य परिस्थितियों का दास है, उसी के वशीभूत हो कर वह कार्य करता है। उस कार्य को पाप अथवा पुण्य की संज्ञा नहीं दी जा सकती। यह उपन्यास के प्रारम्भ में किये गए प्रश्न का उत्तर-सा नहीं प्रतीत होता। 'तीन-वर्ष' की कथावस्तु आधुनिक है : विश्वविद्यालय के एक आदर्श-वादी छात्र के जीवन के तीन वर्षों का वर्णन। विश्वविद्यालय के छात्रों के जीवन का चित्रण उसके सम्पूर्ण वातावरण के साथ इसमें उपस्थित किया गया है। इस उपन्यास को पढ़ने से लगता है कि इसके जीवन की एक एक घटना जैसे लेखक के जीवन में ही घटी हो, वह उन्हें बराबर लिखता गया हो और अन्त में उसने उसे एक उपन्यास का रूप दे दिया हो। अभी कुछ ही दिन हुए वर्मा जी का एक और उपन्यास 'टेढ़े मेढ़े रास्ते' प्रकाशित हुआ है।

श्री इलाचन्द्र जोशी ने अपने उपन्यासों का निर्माण अंतस् चेतन की

व्याख्या के आधार पर किया है। इनके चार उपन्यास अभी तक प्रकाशित हुए हैं : 'घृणामयी', 'संन्यासी', 'पर्दे की रानी' तथा 'प्रेत और छाया'। प्रथम रचना सन् १६२६ में प्रकाशित हुई थी उसके बाद सन् १६४१ में इनकी रचना 'संन्यासी' प्रकाशित हुई। उपन्यासकार के रूप में जोशी जी की ख्याति इसी रचना से प्रारम्भ होती है। 'संन्यासी' एक व्यक्ति के मानसिक विकास की कथा है—आत्म कथा है। 'पर्दे की रानी' में भी आत्म-कथा के रूप में ही कहानी का विकास किया गया है। इन दोनों ही उपन्यासों की समस्या एक ही है : नारी तथा पुरुष के पारस्परिक सम्बन्ध की। जोशी जी ने नारी में एकनिष्ठा की भावना दिखाई है, पुरुष में कितनों से ही सुख प्राप्त करने की लालसा। इसी से समस्या खड़ी हो जाती है, परस्पर का सम्बन्ध टूटने लगता है, टूट भी जाता है। इस प्रकार समस्या का कोई हल नहीं हो पाता। जोशी जी ने अपने चौथे उपन्यास 'प्रेत और छाया' की भूमिका में अपने साहित्यिक दृष्टिकोण को स्पष्ट किया है, आदि काल में कुछ पशु-वृत्तियों ने मानव हृदय में अपना स्थान बना लिया था, वही वृत्तियाँ आज तक निरंतर कार्य करती चली आ रही हैं, और उन्हीं के कारण आज भी समाज में ऊहापोह और विशृंखलता देखने को मिलती है। इस विचार-धारा को स्वीकार कर लेने का निश्चित परिणाम होता है : सृष्टि में एक आधारभूत परिवर्तन के लिए प्रयत्नशील होना—एक नवीन जगत् का निर्माण करना। जोशी जी अपनी रचनाओं में इस भावना को प्रश्रय देते हुए नहीं मिलते। इस कारण उनकी रचनाओं में मनुष्य की केवल मानसिक दुर्बलता का ही चित्रण मिलता है। उनके उपन्यास 'प्रेत और छाया' को पढ़ने से यह भावना और भी दृढ़ हो जाती है। फिर भी जोशी जी ने हिन्दी उपन्यास को अंतस् चेतन की व्याख्या देकर एक विशेष महत्त्व का कार्य किया है।

श्री इलाचन्द्र जोशी

श्री 'अज्ञेय' ने अपने उपन्यास 'शेखर—एक जीवनी' में भी इसी अंतस्

चेतन की व्याख्या का आश्रय लिया है; किन्तु उसके ऊपर उनका अध्ययन पूरी तरह से छाया हुआ है। शेखर वास्तव में एक बौद्धिक

श्री अज्ञेय

कल्पना है, एक पढ़ा-लिखा व्यक्ति, यदि उसे फिर से शैशव से लेकर कौमार्य तक का जीवनयापन करने का अवसर मिल जाय तो वह उसे किस प्रकार यापित करेगा, उसी का चित्रण है। इस बौद्धिक प्रयोग की भावना के रूप में ही 'अज्ञेय' का प्रयत्न विशेष स्पृहणीय है। 'शेखर' का प्रथम भाग सन् १९४१ में प्रकाशित हुआ था, द्वितीय सन् १९४४ में प्रकाशित हुआ और तृतीय अभी प्रकाशित होने को है।

श्री प्रेमचन्द के बाद उपन्यासों में भारत के राष्ट्रीय आंदोलन की धारा में चित्रण का कार्य श्री यशपाल ने उठाया है। उन्होंने इस आन्दोलन का अध्ययन उसी की धारा में डूबते उतराते हुए किया है।

श्री यशपाल

किंतु वे मन से स्वच्छन्दतावादी हैं, इस कारण उनके उपन्यासों में हमें अपने राष्ट्रीय आन्दोलन का वह सर्वाङ्गीण अध्ययन नहीं मिलता जो प्रेमचन्द के उपन्यासों में मिला था। 'दादा कामरेड' उनका सर्वप्रथम राजनीतिक उपन्यास है। उसमें उन्होंने राष्ट्रीय आंदोलन के आतंकवाद से हटकर वर्ग-संघर्ष की भावना को अपनाने का प्रयास किया है। उन्होंने अपने जीवन में स्वयं इस परिवर्तन को देखा है, इस कारण इस उपन्यास में यथार्थता तो है, किन्तु कलात्मकता अधिक नहीं है। दूसरे उपन्यास 'देश द्रोही' में उन्होंने इस कमी को तो पूरा कर दिया है; किन्तु जो समस्या उठाई है, वह हमारे समाज की समस्या नहीं है। इसका प्रमुख पात्र जो एक राजनीतिक कार्यकर्ता है, राजनीति के विषय में केवल बातचीत करता हुआ ही देखा जाता है, किसी राजनीतिक कार्य में संलग्न नहीं। यह उपन्यास श्री शरत्चन्द के स्वच्छन्दतावादी उपन्यासों की भाँति ही आकर्षक है, राजनीतिक उपन्यास के रूप में नहीं। यशपाल जी का तीसरा उपन्यास 'दिव्या' है। यह स्वयं लेखक के शब्दों में एक ऐतिहासिक कल्पना है। इसकी सांस्कृतिक पृष्ठ-भूमि विशेष पुष्ट है, जैसी हिंदी के किसी अन्य ऐतिहासिक उपन्यास की नहीं है। यशपाल

जी ने बड़े प्रयत्न से इसे लिखा है। इस उपन्यास की समस्या भी, इस काल की अन्य रचनाओं की भाँति, पुरुष और नारी के पारस्परिक सम्बन्ध की ही है। यशपाल जी ने उसका हल भी उपस्थित कर दिया है। पुरुष तथा नारी इस संसार में एक दूसरे के पूरक हैं; उनके सम्मिलन में ही मानव-जीवन की पूर्णता है और इस सम्मिलन के सहारे ही मनुष्यता को अमरता का वरदान मिलता है।

इन उपन्यासकारों के अतिरिक्त वर्तमान युग में सर्वश्री सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला', सियारामशरण गुप्त, भगवती-प्रसाद बाजपेयी तथा प्रतापनारायण श्रीवास्तव आदि के भी उपन्यास मिल जाते हैं। इनके

अन्य उपन्यासकार

उपन्यासों की भाव-धारा भी नारी और पुरुष के पारस्परिक संबंध की समस्या को आधार बना कर चली है। किंतु समस्या का हल इन उपान्यसकारों की रचनाओं में भी नहीं मिलता। इस समस्या को पूरी तरह से यशपाल ने ही समझा और सुलझाया है। उनकी रचनाओं के साथ हिंदी उपन्यास अपने विकास की एक विशेष अवस्था तक पहुँच जाता है। जीवन कथा के रूप में 'वह, जो मैंने देखा' नाम का उपन्यास श्री उदय शंकर भट्ट ने लिखा है। उसमें जीवन की व्याख्या का रूप प्रस्तुत किया गया है। इसके अतिरिक्त अंचल, सर्वदानन्द वर्मा के नग्न यथार्थवादी सामाजिक उपन्यास प्रकाशित हुए हैं।

(ख) कहानी-साहित्य

उपन्यासों की भाँति इस काल में कहानियां भी बहुत बड़ी संख्या में लिखी गईं। इस युग की प्रारंभिक रचनाओं में समाजसुधार की भावना का प्राधान्य मिलता है: समय के विकास के साथ उनके कलापक्ष का भी विकास होता गया। इस काल में कहानी-कला के विभिन्न अंगों में कथावस्तु, घटना, वातावरण, कथोपकथन आदि को प्रधानता दे कर सुन्दर रचनाएँ तो प्रस्तुत की ही गईं, साथ ही कहानी लेखन में विभिन्न शैलियों के प्रयोग भी हुए: डायरी के पृष्ठों तथा पत्र-शैली आदि की ऐतिहासिक, राजनीतिक तथा

सामाजिक विभिन्न भाव-धाराओं को लेकर भी कहानियाँ लिखी गई। कहानी कला के इस सर्वाङ्गी विकास में पाश्चात्य कहानियों के अध्ययन का सब से अधिक प्रभाव रहा है। विशेष प्रभाव फ्रांसीसी तथा रूसी कहानियों का है। समय-क्रम से वर्तमान युग के कहानी-लेखकों में प्रसाद, प्रेमचन्द, विश्वम्भर नाथ शर्मा, कौशिक, चतुर सेन शास्त्री, भगवती प्रसाद बाजपेयी, जैनेन्द्र कुमार, चन्द्रगुप्त विद्यालंकार, पहाड़ी, अज्ञेय, यशपाल, आदि का नाम लिया जा सकता है। श्री प्रेमचन्द ने अपने उपन्यासों की भाँति ही कहानियों में भी जीवन के प्रति व्यापक दृष्टिकोण को ही प्रश्रय दिया है, प्रसाद की कहानियाँ विशेषरूप से वातावरण-प्रधान हैं। जैसा हम ऊपर लिख आए हैं वे स्वच्छन्दतावादी थे; उनकी कहानियों का वातावरण भी इस कारण स्वच्छन्दतावादी ही है। उनमें उनका कवि विशेष मुखर मिलता है। 'कौशिक' जी की कहानियों में मध्यवर्ग के सामाजिक जीवन के चित्र बड़े सुन्दर मिलते हैं। शास्त्री जी ने प्राय: ऐतिहासिक, सामाजिक तथा राजनीतिक सभी विचार-धाराओं की कहानियाँ लिखी हैं; किंतु उनमें कलात्मकता अधिक नहीं है। बाजपेयी जी की कहानियों में कला-सौष्ठव सबसे अधिक देखने को मिलता है। जैनेन्द्र कुमार की कहानियों में पीड़ित जनता के प्रति सहानुभूति की भावना बड़े सुन्दर रूप में व्यक्त हुई है। श्री चन्द्रगुप्त विद्यालंकार की रचनाओं में यह भावना अधिक प्रखर तथा शक्तिशाली रूप में देखने को मिलती है। मध्यवर्ग के नवयुवकों की प्रेम भावना को भी इन्होंने भली प्रकार समझा है तथा उसका चित्रण भी बड़ी यथार्थता के साथ किया है। पहाड़ी जी की कहानियों में मध्यवर्ग के नवयुवक की भावुकता ही अधिक मिलती है। अज्ञेय जी की रचनाओं पर उनका अध्ययन-सम्पन्न विचारक पूरी तरह से छाया हुआ है। यशपाल जी ने अपनी कहानियों में जीवन को एक विशिष्ट दृष्टि से देखने का प्रयास किया है। इनके अतिरिक्त और भी बहुत से लेखकों की कहानियाँ समय समय पर पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होती रहती हैं: किंतु अभी तक उनकी रचनाएं हिंदी साहित्य की स्थायी सम्पत्ति नहीं हुई हैं, इस लिए उनका उल्लेख यहाँ आवश्यक प्रतीत नहीं होता।

निबन्ध

निबन्धों की संख्या में भी यद्यपि वर्तमान युग में अति वृद्धि हुई है, किन्तु वह प्रवृत्ति विशेष गतिशील नहीं रही। निबन्ध-लेखन की शैली में कलात्मक विकास अवश्य देखने को मिलता है, किन्तु अधिकतर साहित्यिक विषयों पर ही निबन्ध लिखे गए। अन्य विषयों को लेकर निबन्ध रचना के प्रयोग श्री रामचन्द्र शुक्ल तथा श्री गुलाब राय द्वारा किए गए। निबंध-साहित्य के विकास की इस धीमी गति का कारण वर्तमान युग के परिवर्तनशील वातावरण में निहित है। निबन्ध में लेखक अपने विचारों को श्रृंखलाबद्ध प्रस्तुत करता है। निबंध लिखने के लिए कुछ चिन्तन की आवश्यकता होती है और चिन्तन के उपयुक्त वातावरण की। वर्तमान युग का वातावरण विशेष अशान्ति से पूर्ण रहा है। हमारे विकास की गति भी मध्य युग की स्थिरता के बाद आधुनिक काल में विशेष तीव्र रही है। हमारे विचार भी विकास की इस धारा में बड़ी तीव्रता के साथ बदलते रहे हैं। इसी कारण उन लेखकों ने भी, जिन में निबन्ध-लेखन की प्रतिभा थी, अपने परिवर्तित होते हुए विचारों को चिन्तन के साथ श्रृंखलाबद्ध करते हुए निबन्ध नहीं लिखे।

वर्ण्य विषय

वर्तमान युग में सबसे पहले श्री रामचन्द्र शुक्ल के भावात्मक तथा साहित्यिक निबन्ध मिलते हैं। शुक्ल जी के निबन्धों का पहला संग्रह 'विचार वीथी' के नाम से सन् १६३० में प्रकाशित हुआ था। सन् १६३६ में कुछ नये निबन्ध सम्मिलित कर इसी का प्रकाशन 'चिन्तामणि' नाम से हुआ। शुक्ल जी के निबन्धों के विषय हैं : 'भाव या मनोविकार', 'उत्साह', 'श्रद्धा', 'भक्ति', 'घृणा', 'प्रेम और ग्लानि', 'ईर्ष्या', 'भय', 'क्रोध', 'कविता क्या है' आदि। अपने इन निबन्धों में शुक्ल जी ने इतिहास, साहित्य तथा व्यक्तिगत अनुभव के आधार पर अपने विचारों को व्यवस्थित ढंग से प्रस्तुत किया है। ये सभी निबन्ध गम्भीर तथा चिन्तन-पूर्ण हैं और पाठकों में भी चिन्तन का उद्भव करते हैं।

रामचन्द्र शुक्ल

शुक्ल जी के बाद निबन्ध-लेखकों में डा० धीरेन्द्र वर्मा का नाम आता है। उनके निबन्धों का संग्रह अभी कुछ ही वर्ष हुये 'विचार-धारा' के नाम से प्रकाशित हुआ है। इसमें समय-समय पर लिखे गए वर्मा जी के खोज, हिन्दी प्रचार, हिंदी साहित्य, समाज, राजनीति, समालोचना तथा अन्य विषयों के निबन्ध संग्रहीत हैं। वर्मा जी के निबंधों में विचार-शृङ्खला क्रमें वैज्ञानिक स्पष्टता के साथ देखने को मिलती है; किसी प्रकार की भी उलझन जैसे उनके भीतर है ही नहीं।

धीरेन्द्र वर्मा

श्री जयशङ्करप्रसाद ने भी काव्य और कला, रस, नाटकों का प्रारम्भ, रहस्यवाद आदि साहित्यिक विषयों को लेकर कुछ निबन्ध लिखे थे। उनके निबन्धों में गम्भीरता है तथा उनके भीतर व्यक्त होने वाला मौलिक दृष्टिकोण उन निबंधों के महत्त्व को और भी बढ़ा देता है।

प्रसाद

श्रीमती महादेवी वर्मा के निबंधों के भी दो संग्रह इधर कुछ वर्ष हुए प्रकाशित हुए हैं; 'विवेचनात्मक गद्य' तथा 'शृङ्खला की कड़ियाँ'। पहले में साहित्यिक विषयों पर विचार-पूर्ण निबन्ध हैं तथा दूसरे में सामाजिक विषयों पर।

महादेवी वर्मा

वर्तमान युग के अन्य निबंध-लेखकों में श्री हजारी प्रसाद द्विवेदी तथा श्री गुलाब राय जी का नाम लिया जा सकता है। द्विवेदी जी के निबंध गम्भीर तथा विचारपूर्ण हैं। कहीं-कहीं उनमें लेखक के व्यक्तित्व की भी झलक मिल जाती है।

हजारी प्रसाद द्विवेदी

गुलाबराय जी के कुछ निबंधों में भी यही विशेषता है। वर्तमान युग के अधिकांश निबंधों पर लेखकों का अध्ययन तथा चिन्तन इतनी गंभीरता के साथ छाया हुआ है कि उनमें उनका व्यक्तित्व खो सा गया है। द्विवेदी जी तथा गुलाब राय जी इसके अपवाद हैं।

गुलाब राय

श्री नरेन्द्र ने भी 'विचार और अनुभूति' नाम से निबन्धों का संग्रह प्रका-

शित कराया है। विनय मोहन शर्मा ने 'साहित्य कला' तथा 'कवि प्रसाद और आँसू' नाम से दो पुस्तकें लिखी हैं। इनके निबंध प्रायः काव्य-साहित्य संबंधी हैं। वर्तमान काल में भावपूर्ण निबंधों की रचना भी हुई है, जिन्हें गद्य-काव्य कहा जाता है। इस प्रकार की रचनाशैली का सर्वप्रथम सूत्रपात रायकृष्ण दास जी ने किया था। श्री माखन लाल चतुर्वेदी ने भी अपना 'साहित्य देवता' नामक निबंध इसी शैली में लिखा था। श्रीमती दिनेश नन्दिनी डालमिया ने इस प्रकार की रचनाओं में विशेष ख्याति प्राप्त की है। उनके भावपूर्ण निबंधों के तीन संग्रह 'शबनम' 'मौक्तिक माल' तथा 'शारदीया' प्रकाशित हुए हैं। श्री रघुबीरसिंह की 'शेष स्मृतियाँ' भी इस रचना-शैली की एक उत्कृष्ट कृति है। वियोगी हरि ने भी इस साहित्यिक रूप के निर्माण के कुछ प्रयोग किए थे। मेरी रचना 'हिमहास' इसी शैली के अन्तर्गत है।

गद्य-काव्य

समालोचना

समालोचनात्मक अथवा आलोचनात्मक अध्ययन इस काल में विशेष मात्रा में प्रस्तुत किए गए हैं। आज जो समालोचना-साहित्य हमारे आगे है उसमें उसके विविध रूप निखर आए हैं। अपने साहित्य के ऐतिहासिक अध्ययन से लेकर एक विशेष काल के अध्ययन, एक काल की एक विशेष धारा के अध्ययन, किसी कवि के जीवन तथा साहित्य के सम्यक अध्ययन आदि सभी रूप देखे जा सकते हैं। हिन्दी साहित्य के वर्तमान युग में उसकी परिवर्तित होती हुई विचार-धारा इन आलोचनात्मक अध्ययनों में सुदृढ़ रूप से देखने को मिल सकती है।

हिन्दी साहित्य का सर्वप्रथम अध्ययन श्री मिश्र बन्धुओं के 'मिश्रबन्धु विनोद' के तीन भागों में मिलता है जो सन् १९१३ में प्रकाशित हुआ। इसके बाद साहित्य का ऐतिहासिक अध्ययन श्री रामचन्द्र शुक्ल द्वारा सन् १९३० में प्रस्तुत किया गया था। उसके बाद सन् १९३१ में श्याम सुन्दर दास जी का 'हिन्दी भाषा और साहित्य' प्रकाशित हुआ। शुक्ल जी के इतिहास को पढ़कर कोई भी व्यक्ति हिन्दी साहित्य के विकास और उसमें योग देने वाले

आधुनिक युग समालोचना

विविध कवियों और लेखकों से परिचय प्राप्त कर सकता है। हिन्दी साहित्य के विकास के विविध युगों की प्रवृत्तियों का अध्ययन भी श्याम सुन्दर दास जी की पुस्तक के 'हिन्दी साहित्य' अंश में अच्छा मिलता है। उसके बाद फिर तो कितने ही इतिहास प्रस्तुत किये गये, जिनमें विशेष उल्लेखनीय सर्वश्री मिश्र बन्धुओं का 'हिन्दी साहित्य का इतिहास', अयोध्यासिंह उपाध्याय का 'हिन्दी भाषा और साहित्य का विकास' तथा हजारी प्रसाद द्विवेदी की 'हिन्दी साहित्य की भूमिका' आदि हैं। मैंने भी कई वर्ष हुए 'हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास' लिखने का प्रयत्न किया था; किन्तु तब केवल उसका एक भाग ही लिख सका जिसमें सन्धि-काल, चारण-काल तथा भक्ति-काल का सम्यक अध्ययन है।

हिन्दी साहित्य के विकास के विशेष काल के अध्ययनों में डा० लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय का भारतेंदु काल का अध्ययन, आधुनिक हिन्दी साहित्य (१८५०-१६००) तथा श्री कृष्ण लाल का बीसवीं शताब्दी के प्रथम पचीस वर्षों के साहित्य का अध्ययन 'हिन्दी साहित्य का विकास' के रूप में विशेष प्रयत्न के साथ प्रस्तुत किये गये हैं। साहित्यकारों के जीवन तथा उनकी रचनाओं के अध्ययनों की परम्परा श्री रामचन्द्र शुक्ल द्वारा प्रारम्भ की गई थी। उन्होंने सूरदास, तुलसीदास तथा जायसी के अध्ययन प्रस्तुत किये थे। इन प्रारम्भिक प्रयोगों के साथ ही श्यामसुन्दर दास तथा पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल के संयुक्त प्रयत्न से प्रस्तुत हुए अध्ययन 'गोस्वामी तुलसीदास' का भी उल्लेख आवश्यक है। डा० माताप्रसाद गुप्त का 'तुलसीदास' जिसे उन्होंने प्रयाग विश्वविद्यालय की डी० लिट० उपाधि के लिए लिखा था, इस दिशा में सबसे नवीन प्रयत्न है। तुलसीदास के जीवन, रचनाओं के काल-क्रम तथा आलोचात्मक अध्ययन इसमें साफ सुथरे रूप में प्रस्तुत किये गये हैं। किसी कवि की विशेष प्रवृत्ति के अध्ययन के रूप में श्री धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी की 'गुप्त जी की करुण धारा' का नाम लिया जा सकता है। किसी विशेष प्रवृत्ति की व्याख्या के रूप में किए प्रयोगों में पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल की 'हिन्दी काव्य की निर्गुण धारा' का उल्लेख कर सकते हैं। यद्यपि यह अंग्रेजी में ही प्रका-

शित हुआ है, तथापि हिन्दी साहित्य से पूर्णतः सम्बंधित होने के कारण, उसका उल्लेख यहाँ आवश्यक प्रतीत होता है। स्वयं किसी विशेष प्रवृत्ति के अध्ययन के रूप में हम शुक्ल जी के 'काव्य में रहस्यवाद' तथा लक्ष्मीनारायण 'सुधांशु' के 'काव्य में अभिव्यंजनावाद' आदि का नाम ले सकते हैं। इधर कुछ वर्षों से निबंधों के रूप में आलोचनात्मक अध्ययन विशेष रूप से प्रकाश में आ रहे हैं। श्री नगेन्द्र की 'साकेत : एक अध्ययन' तथा 'सुमित्रा नन्दन पंत' नाम की दो आलोचनात्मक पुस्तकें निकली हैं। इनमें मैथिलि शरण गुप्त के साकेत तथा पंत जी की कविताओं का, विवेचनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। प्रमुख लेखकों में श्री नंद दुलारे वाजपेयी तथा श्री इलाचन्द जोशी के नाम लिये जा सकते हैं। कई वर्ष हुये स्वयं मेरे भी दो आलोचनात्मक अध्ययन प्रकाशित हुये थे : 'साहित्य-समालोचना' तथा 'कबीर का रहस्यवाद'। अंत में इस स्थान पर इतना लिख देना और आवश्यक प्रतीत होता है कि यद्यपि इस काल में आलोचनात्मक साहित्य अपने विविध रूपों में हमारे सामने आया है; तथापि उसका परिणाम स्थायित्व की दृष्टि से अधिक नहीं है।

उपयोगी-साहित्य

इस आधुनिक काल के प्रथम दो युगों के ऊपर जो अध्ययन प्रस्तुत किए गए हैं उनमें इस संबंध में कुछ विशेष लिखने की आवश्यकता नहीं प्रतीत हुई थी, किन्तु वर्तमान युग में इस क्षेत्र में इतना अधिक काम हुआ है कि उसका उल्लेख हुए बिना यह अध्ययन कुछ अपूर्ण सा ही रहेगा। इसी कारण संक्षेप में यहाँ उसे भी उल्लिखित कर देना आवश्यक है। उपयोगी साहित्य की वैज्ञानिक दृष्टि से विभिन्न धाराएं विभाजित की जा सकती हैं और लगभग उन सभी क्षेत्रों में वर्तमान युग में कुछ न कुछ प्रयत्न किए गए हैं; किंतु यहां हम विशेष रूप से जीवन-कथाओं, ऐतिहासिक तथा सांस्कृतिक अध्ययनों, राजनीति और विज्ञान से संबंध रखने वाले साहित्य के सम्बन्ध में ही लिखेंगे। इन्हीं क्षेत्रों में प्रधान रूप से कार्य हुआ है तथा कुछ स्थायी मूल्य की रचनाएँ भी प्रस्तुत की गई हैं।

जीवन-कथाओं में सबसे पहले श्री गौरी शंकर चैटर्जी के 'हर्षवर्धन' का नाम लिया जा सकता है। इसमें हर्षवर्धन के जीवन तथा शासन-काल का

प्रामाणिक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। साहित्यकारों की जीवन-कथा के जितने अध्ययन प्रस्तुत किए गए हैं उनमें श्री व्रजरत्न दास जी का 'भारतेन्दु हरिश्चन्द्र' सबसे सुन्दर है। श्री बनारसी दास चतुर्वेदी ने भी 'विशाल भारत' के सम्पादन काल में कुछ विदेशी तथा कुछ भारतीयों के जीवन के अच्छे परिचय लिखे थे। कुछ वर्ष पूर्व प्रकाशित हुआ 'निराला' जी का 'कुल्ली भाट' भी एक सुन्दर कृति है। उसमें निराला जी ने यह दिखाने का प्रयास किया है कि किसी विशेष ख्याति के व्यक्ति के जीवन से ही नहीं, किसी अज्ञातनामा व्यक्ति के जीवन से भी चरित्र-निर्माण के लिए शक्ति ग्रहण की जा सकती है। सबसे नवीन प्रयोग इस क्षेत्र में राहुल जी द्वारा हुए हैं। उन्होंने एक तो विस्तृत जीवन-कथा प्रसिद्ध क्रांतिकारी सरदार पृथ्वी सिंह की लिखी है, तथा लगभग ५० छोटी-छोटी जीवन कथाएं लिखी हैं जिनका संग्रह 'नए भारत के नए नेता' के नाम से प्रकाशित हुआ है।

ऐतिहासिक अध्ययन प्रस्तुत करने में सर्वश्री काशी प्रसाद जायसवाल, जयचन्द्र विद्यालंकार तथा गौरी शङ्कर हीराचन्द ओझा ने विशेष ख्याति प्राप्त की है। जायसवाल जी की दो पुस्तकें हैं: 'हिन्दू राज्य तन्त्र' तथा 'अंधकार-युगीन भारत'। ये दोनों ही ग्रंथ विशेष गवेषण के आधार पर लिखे गए हैं। श्री जयचन्द्र विद्यालंकार ने भारतीय इतिहास से संबंध रखने वाले कई ग्रन्थ प्रस्तुत किए हैं: उनमें सबसे अधिक महत्वपूर्ण 'भारतीय इतिहास की रूप-रेखा' है। ओझा जी ने राजस्थान का इतिहास कई भागों में प्रस्तुत किया है, जिसमें राजस्थान के विभिन्न राजवंशों का विकास दिखाया गया है। ओझा जी ने हमारी संस्कृति के विकास का भी अध्ययन किया है। इस संबंध में उनकी 'मध्यकालीन भारतीय संस्कृति' एक विशेष महत्त्व की रचना है। हमारी पुरानी सभ्यता का अध्ययन डा० वेनी प्रसाद जी ने विशेष अध्ययन के साथ लिखा था। आधुनिक काल में जो सांस्कृतिक विकास हुआ है, उसका कोई उल्लेखनीय अध्ययन अभी तक प्रकाश में नहीं आया है। राजनीतिक विषयों पर इस काल में विशेष महत्त्व की रचनाएँ श्री सम्पूर्णानन्द जी तथा श्री यशपाल की रही हैं। सम्पूर्णानन्द जी ने 'समाजवाद' तथा 'व्यक्ति और

राज' दो पुस्तकें लिखी हैं। श्री यशपाल ने भी दो पुस्तकें लिखी हैं : एक गांधीवाद से संबंधित है, दूसरी मार्क्सवाद से। विज्ञान से संबंध रखने वाले विषयों पर लिखने वालों में सर्वश्री रामदास गौड़, शालिग्राम भार्गव, सत्य प्रकाश तथा गोरख प्रसाद जी ने विशेष ख्याति प्राप्त की है।

भाषा-विज्ञान ने भी इधर कुछ वर्षों से हमें आकर्षित किया है। इस संबंध में प्रारंभिक प्रयास श्री श्यामसुन्दर दास जी ने 'हिन्दी भाषा का विकास' लिखकर किया था। उसके बाद डा० मंगल देव शास्त्री का 'तुलनात्मक भाषा शास्त्र' प्रकाशित हुआ। डा० धीरेन्द्र वर्मा का 'हिंदी भाषा का इतिहास' इस क्षेत्र की सब से महत्त्वपूर्ण कृति है। डा० बाबूराम सक्सेना ने 'सामान्य भाषा विज्ञान' लिखकर इस क्लिष्ट विषय को सामान्य पाठकों के लिए भी सरल बना दिया है। भाषा-विज्ञान संबंधी नीरसता इस पुस्तक में अधिक नहीं मिलती। एक प्रकार के पारिभाषिक शब्दों के हिंदी कोश निर्माण में डाक्टर रघुवीर का प्रयत्न सराहनीय है। उनका कोश प्रकाशित हो चुका है।

इस प्रकार की पुस्तकों के अतिरिक्त आधुनिक काल में अर्थशास्त्र, समाज-शास्त्र, धर्म, दर्शन आदि विषयों पर भी पुस्तकें लिखी गई हैं; किंतु उनमें अभी प्रयोग की भावना ही देखने को मिलती है।

पत्र-पत्रिकाएँ

इस काल की पत्र-पत्रिकाओं की संख्या में भी विशेष अभिवृद्धि हुई है। आज हिन्दी में दैनिक पत्रों से लेकर त्रैमासिक पत्रिकाएँ तक निकलती हैं। दैनिक पत्रों में 'आज' 'संसार' 'भारत' 'अमृत पत्रिका' तथा 'प्रताप' का विशेष नाम है। साप्ताहिकों में इन्हीं दैनिकों के साप्ताहिक अंक तथा 'धर्मयुग' 'विश्वमित्र,' 'कर्मवीर' आदि हैं। मासिक पत्रिकाओं में द्विवेदी जी की 'सरस्वती' अभी तक प्रकाशित होती चली जा रही है; यद्यपि अब उसमें उतनी महत्वपूर्ण रचनायें नहीं प्रकाशित होतीं। इसके अतिरिक्त 'माधुरी', 'सुधा', 'विशाल भारत', 'चाँद' 'हंस', 'साहित्यसंदेश' 'विश्वमित्र' आदि का भी प्रकाशन प्रारम्भ हुआ था। इन्होंने हिंदी साहित्य के विकास में, जिस क्रम से इनके नाम लिखे गए हैं, योग दिया है। एक अन्य मासिक-पत्रिका 'गंगा' का भी उल्लेख यहाँ पर

आवश्यक प्रतीत होता है, यद्यपि वह थोड़े ही समय चलकर बन्द हो गई थी; परन्तु हिन्दी साहित्य के प्रारम्भिक युग की रचनाओं को प्रकाश में लाने में उसने विशेष कार्य किया था। इसी में राहुल सांकृत्यायन के बौद्ध सिद्धों की रचनाओं से संबंधित लेख प्रकाशित हुए थे जिन्होंने हिन्दी साहित्य को तीन सौ वर्षों की सामग्री और दे दी। हिन्दी साहित्य का विकास जो पहले सन् १००० से माना जाता था, इन लेखों के आधार पर सन् ७०० से माना जाने लगा। इस प्रकार की हिन्दी साहित्य की खोज तथा उसके उचित मूल्यांकन से संबंध रखने वाली तीन पत्रिकायें आज प्रकाशित हो रही हैं; 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका,' 'हिंदुस्तानी' तथा 'पारिजात'। ये तीनों ही त्रैमासिक पत्रिकायें हैं। शान्तिनिकेतन के हिन्दी भवन से प्रकाशित होने वाली 'विश्व भारती पत्रिका' का उल्लेख भी यहाँ आवश्यक है। उसमें अधिकांश में तो रवीन्द्र-साहित्य का अनुवाद ही प्रकाशित होता है, किंतु इसके अतिरिक्त कुछ मौलिक तथा उच्च कोटि की रचनायें भी निकलती हैं। 'भारतीय हिंदी परिषद्' का मुख पत्र 'हिन्दी अनुशीलन' जो त्रैमासिक रूप में ही प्रकाशित हुआ था, यदि युद्ध-जनित कठिनाइयों के कारण एक वर्ष के अनन्तर ही बन्द न हो गया होता तो उसने भी हिन्दी साहित्य के अध्ययन तथा विकास को विशेष सहायता पहुँचाई होती। अब फिर प्रकाशित होने लगा है। इन पत्र-पत्रिकाओं के अतिरिक्त और भी कितने पत्र तथा पत्रिकायें आज हिन्दी साहित्य के विकास में योग दे रही हैं, यद्यपि उनमें साहित्यिक सौष्ठव की मात्रा अधिक नहीं है।

इस प्रकार इस प्रवुद्ध काल में वर्तमान युग में ही सबसे अधिक साहित्य-निर्माण के प्रयत्न देखने को मिलते हैं। ललित साहित्य के विविध रूपों में कविता, नाटक, उपन्यास, कहानी, निबंध आदि का तो पर्याप्त विकास हुआ है; उपयोगी साहित्य की भी पर्याप्त अभिवृद्धि हुई है। स्थायित्व की मात्रा भी भारतेन्दु तथा द्विवेदी युगों की अपेक्षा इस युग के साहित्य में अधिक है। कुछ रचनायें तो इस काल की ऐसी भी हैं जिन्हें लेकर हम विश्व साहित्य के क्षेत्र में भी प्रवेश कर सकते हैं। प्रेमचन्द के उपन्यास, प्रसाद के नाटक तथा 'कामायनी,' महादेवी वर्मा की 'दीपशिखा' आदि इस काल की ऐसी ही कृतियाँ हैं।

तेरहवाँ प्रकरण

आधुनिक काल

समसामयिक-साहित्य

प्रगतिशील साहित्य

मानव सदैव से ही अपने वातावरण से युद्ध करता आया है। अपने अस्तित्व और विकास के लिये प्रथम तो उसे प्रकृति की विराट शक्तियों का विरोध करना पड़ता है और दूसरे अपने ही समाज में उत्पन्न उन रूढ़ियों के विपरीत उसे सिर उठाना पड़ता है जो उसकी उन्नति और विकास में व्यवधान डालती हैं। साहित्य सदैव से ही जीवन के साथ संलग्न रहा है। किन्तु जो साहित्य विशेष रूप से जीवन की प्रगति में आये हुए व्यवधानों का विरोध कर उसे अग्रसर करने में सहायक होता है उसे ही प्रगतिशील साहित्य की संज्ञा दी जाती है। यद्यपि 'प्रगतिशील' शब्द नया है तथापि इस प्रकार का साहित्य प्रत्येक युग में निर्मित होता रहा है जिसने रूढ़िग्रस्त जीवन को बंधन मुक्त कर गतिमान् बनाने में मानव की अमूल्य सहायता की। हिन्दी में प्रगतिशील साहित्य का जन्म तो भारतेन्दु युग से ही हो गया था जब रीति-काल की रूढ़ियों के विपरीत प्रतिक्रिया प्रारंभ हुई। राजनैतिक क्षेत्र में १८५७ ई० का विप्लव ही इस बात का निदर्शन है कि ब्रिटिश सत्ता के प्रति असं-तोष की भावना सुदृढ़ हो रही थी। भारतेंदु की कृतियों में यद्यपि एक ओर अंग्रेजी शासन के प्रति उत्साह है क्योंकि उन्हीं की कृपा से देश में नई संस्कृति, शिक्षा और सभ्यता का प्रसार हुआ किन्तु दूसरी ओर देश के राज-नैतिक दासत्व के प्रति घोर विरोध भाव भी है। भारतेन्दु के 'भारत दुर्दशा' नाटक में हमें जागृति के प्रथम लक्षण उपलब्ध होते हैं :—

"रोवहु सब मिलिकै आवहु भारत भाई।
हाहा! भारत दुर्दशा न देखी जाई॥
× × ×
"अँगरेज राज सुख साज सजे सब भारी।
पै धन विदेस चलि जात इहै अति ख्वारी॥
ताहू पै मँहगी काल रोग बिस्तारी।
दिन दिन दूने दुःख ईश देत हा हा री॥
सबके ऊपर टिक्कस की आफत आई।
हा हा! भारत दुर्दशा न देखी जाई॥"

भारतेन्दु के समकालीन प्रतापनारायण मिश्र, बदरीनाथ चौधरी, राय देवी प्रसाद पूर्ण आदि सभी में इस जागृति के चिह्न मिलते हैं। बंग भंग के कारण राष्ट्रीय चेतना की बिजली सारे देश में दौड़ गई। इसी समय बंकिम बाबू के क्रांतिकारी उपन्यास और 'वंदेमातरम्' गीत निकले जिनका प्रभाव सारे देश पर पड़ा। हिन्दी साहित्य में भी विरोध के लक्षण दिखाई देने लगे। उदाहरणार्थ श्री बालमुकुंद ने 'भारतमित्र' में अंग्रेजी सरकार के परिवर्तन पर कटाक्ष किया था—

"टोरी जायें, लिबरल आयें। भारतवासी धूम मचायें।
जैसे लिबरल वैसे टोरी। जो परनाला वो ही मोरी॥"

हिन्दी प्रगतिशील साहित्य का दूसरा क़दम 'भारत भारती' था। उस समय 'भारत भारती' का जितना प्रचार हुआ वह देश में बढ़ते हुए असंतोष की भावनाओं का पुष्ट प्रमाण है। 'भारत भारती' में मातृभूमि का जो चित्र अंकित किया गया है वह अत्यंत सुन्दर है :

'नीलाम्बर परिधान हरित पट पर सुंदर है।
सूर्य-चंद्र युग मुकुट मेखला रत्नाकर है॥
नदियाँ प्रेम-प्रवाह, फूल तारे मण्डन हैं।
बंदीजन खगवृन्द, शेषफन सिंहासन है॥
करते अभिषेक पयोद हैं, बलिहारी इस वेष की।
हे मातृभूमि! तू सत्य ही, सगुण मूर्ति सर्वेश की॥"

इसी समय गांधी जी के सत्याग्रह आंदोलन की धूम मची और अनेक साहित्यकार उसके प्रवाह में बह गये जिनमें ये प्रमुख हैं—प्रेमचंद, 'एक भारतीय आत्मा' और सुभद्रा कुमारी चौहन। इनके अतिरिक्त हिन्दी के अनेक कवि और लेखक जीवन के इस संघर्ष से दूर हट गये और कल्पना-लोक में विचरण करने लगे जिनका साहित्य 'छायावाद' कहा जाने लगा। इनमें से जिनका झुकाव कुछ आध्यात्मिकता की ओर, अनंत सत्ता की ओर हुआ उन्होंने 'रहस्यवाद' की सृष्टि की।

स्व० प्रेमचंद ने एक बार पुन: स्वप्नलोक की ओर पलायमान साहित्य की प्रवृत्ति को जीवन की ओर आकृष्ट किया। प्रेमचंद की रचनाओं में हमें भारतीय ग्रामीण और निम्न स्तर तथा मध्यवर्ग के नागरिक जीवन का सच्चा चित्र मिलता है। भारत की ग्रामीण और नागरिक समाज-योजना की आपने गंभीर और मार्मिक विवेचना की। वर्ग संघर्ष की समस्याओं और उनके निराकरण के प्रश्न पर आपने अपनी कहानियों में पर्याप्त प्रकाश डाला। गांधी जी की विचारधारा का प्रभाव उनकी अंतिम कुछ रचनाओं को छोड़ सर्वत्र परिलक्षित होता है जिनमें हृदय परिवर्तन द्वारा समाज सुधार में विश्वास का आभास मिलता है। 'गोदान' के बाद से 'कफन' आदि में उनके इस दृष्टिकोण में किंचित् परिवर्तन प्रतीत होता है। इनमें सामाजिक रूढ़ियों के प्रति विद्रोह की भावना का आभास मिलने लगता है।

देश में राष्ट्रीय जागृति की लहर के साथ अनेक कवियों के स्वरों में भी कंपन हुआ जिनमें से 'नवीन' ने अनन्य प्रतिभा का परिचय दिया। उदाहरण-स्वरूप उनकी निम्न पंक्तियों में क्रांति का स्वर काफी तीव्र है :—

"कवि कुछ ऐसी तान सुनाओ-जिससे उथल पुथल मच जाये।
एक हिलोर इधर से आये—एक हिलोर उधर से आये।
प्राणों के लाले पड़ जायें त्राहि त्राहि रव नभ में छाये।
नाश और सत्यानाशों का धुआँधार जग में छा जाये।

बरसे आग, जलद जल जायें, भस्मसात् भूधर हो जायें।
पाप पुण्य, सदसद् भावों की, धूल उड़ उठे दायें बायें।
नभ का वक्षस्थल फट जाये, तारे टूक टूक हो जायें।
कवि कुछ ऐसी तान सुनाओ जिससे उथल पुथल मच जाये।

आपने 'गाँधी गुरुदेव', 'मानव', 'पराजय गान' आदि अनेक ओज और क्रांतिपूर्ण कविताएं लिखी हैं।

'नवीन' की ही श्रेणी में 'एक भारतीय आत्मा', 'त्रिशूल सनेही', रामनरेश त्रिपाठी, सुभद्रा कुमारी चौहान आदि की वे राष्ट्रीय कविताएं आती हैं जिनमें राष्ट्रीय भावना का उत्तेजित स्वर है।

यद्यपि छायावादी कवियों ने अधिकांशतः कल्पनालोक के ही मधुर स्वप्न देखे हैं तथापि यत्र-तत्र उनकी रचनाओं में भी देश के क्रन्दन का स्वर प्रतिध्वनित हुआ है। उदाहरणार्थ 'परिवर्तन' में पन्तजी इतिहास के स्वर्ण पट को देखते हुए कहते हैं :—

"कहाँ आज वह पूर्ण पुरातन वह सुवर्ण का काल"

अतीत से वर्तमान की तुलना कर उनका कविहृदय इस भीषण परिवर्तन पर व्याकुल हो उठता है।

"अहे निष्ठुर परिवर्तन !
तुम्हारा ही ताण्डव नर्त्तन, विश्व का करुण-विवर्तन।
तुम्हारी ही नयनोन्मीलन, लिखित उत्थान पतन !

'युगान्त' के बाद से पंत जी की काव्य-प्रतिभा एक नई दिशा में मुड़ती हुई दिखाई देती है। कल्पना लोक से निकल कर वे समाज विधान की ओर दृष्टिपात करते हैं। 'युगवाणी' और 'ग्राम्या' में कवि अतीत की अपेक्षा वर्तमान और भविष्य के प्रति अधिक सजग है।

छायावादी कवियों में 'निराला' भी देश के जीवन से विरक्त नहीं :—

"जागो फिर एक बार !
उगे अरुणाचल में रवि,
आई भारती रति कवि कंठ में,

पल पल में परिवर्तित होते रहे प्रकृति पट
गया दिन, आई रात,
मुँदी रात, खुला दिन,
ऐसे ही संसार के
बीते दिन पक्ष मास,
वर्ष कितने ही हजार
जागो फिर एक बार !"

'भारत की विधवा' के प्रति जो भावनायें उन्होंने प्रकट की हैं वे अत्यंत जीवन्त हैं :—

"वह इष्ट देव के मंदिर की पूजा सी,
वह दीप शिखा सी शान्त, भाव में लीन,
वह क्रूर काल ताण्डव की स्मृति रेखा सी,
वह टूटे तरु की छुटी लता सी दीन—
दलित भारत की ही विधवा है ।"

बंधनों से मुक्ति का संदेश आपकी इन पंक्तियों में है :—

"ताल ताल से रे सदियों के जकड़े हृदय कपाट,
खोल दे करकर कठिन प्रहार—"

छायावादी कवियों में प्रगतिशीलता की दृष्टि से 'दिनकर' सबसे आगे बढ़े हुए हैं। स्वप्न लोक की ओर जहाँ अन्य छायावादी कवियों की कविता उन्मुख होती है वहाँ दिनकर की कविता कहती है :—

"आज न उड़के नील कुंज में स्वप्न खोजने जाऊँगी,
आज चमेली में न चन्द्र किरणों से चित्र बनाऊँगी,

कल्पना लोक में उड़ने का प्रयास करते समय :—

"रह रह पंखहीन खग-सा मैं गिर पड़ता भू की हलचल में;
झटिका एक बहा ले जाती स्वप्न राज्य आँसू के जल में ।"

उनकी "भैरव हुङ्कार" में आशा और विजय का अमिट संदेश है :—

'जागरूक की जय निश्चित है, हार चुके सोने वाले !
मंजिल दूर नहीं अपनी दुख का बोझा ढोने वाले !"

उन्होंने 'विपथगा', 'हिमालय', 'भविष्य की आहट', 'नई दिल्ली' आदि अनेक उत्कृष्ट गीतों की रचना की। उनकी निम्न पंक्तियों में क्रांति का उग्र रूप देखने को मिलता है :—

"अँगड़ाई में भूचाल, साँस में लंका के उनचास पवन !"

× × ×

"मेरे मस्तक के छत्र मुकुट वसुकाल सर्पिणी के शत फन
मुझ चिर कुमारिका के ललाट में नित्य नवीन रुचिर चंदन
आँजा करती हूँ चिताधूम का दृग में अंधतिमिर-अंजन
संहार लपट का चीर पहिन नाचा करती मैं छूम छनन—

× × ×

"पायल की पहली झमक, सृष्टि में कोलाहल छा जाता है
पड़ते जिस ओर चरण मेरे, भूगोल उधर दब जाता है।"

दुखवाद से प्रगति की ओर किस प्रकार उनकी प्रवृत्ति में परिवर्तन हुआ यह उन्होंने स्वयं इन पंक्तियों में व्यक्त किया है।

"समय दूह की ओर खिसकते मेरे गीत विकल छाये,
आज खोजते उन्हें बुलाने वर्तमान के पल आये।"

'बच्चन', महादेवी, रामकुमार तथा और कुछ कवियों को छोड़ शेष कवियों की प्रवृत्ति प्रगति की ओर उन्मुख हुई है। भगवती चरण वर्मा ने "भैंसागाड़ी" में इस परिवर्तन का आभास दिया तथा नरेन्द्र ने 'प्रभातफेरी' से 'ज्येष्ठ के मध्यान्ह' तक तो इस प्रवृत्ति का परिचय दिया किन्तु उनके 'प्रवासी के गीत' में फिर हमें निराशावाद की झलक मिलती है। 'अंचल' तथा राजेश्वर गुरु की नई कविताएँ स्पष्ट रूप से प्रगतिशील हैं।

भाषा की दृष्टि से भी छायावादी भाषा के लाक्षणिक प्रयोगों और वक्र शैली से हटकर स्वतंत्र शैली में काव्य-रचना की प्रवृत्ति दृष्टिगोचर हो रही

है। इस पुस्तक के लेखक, सोहनलाल द्विवेदी, अज्ञेय, मोहनलाल महतो "वियोगी" श्यामनारायण पांडेय, हरीकृष्ण प्रेमी आदि कवियों ने शैली की दृष्टि से भाषा में पर्याप्त परिमार्जन किया और उनकी भाषा में नवीन व्यंजना शक्ति का स्फुरण हुआ। इस प्रकार हम देखते हैं कि यद्यपि 'प्रगतिशील' नाम का आविष्कार और आरोप बाद को किया गया किन्तु हिन्दी साहित्य में प्रगतिशीलता का बीजारोपण पहले ही हो चुका था और यह आंदोलन आज से लगभग तीस वर्ष पहले से ही सृजित संचालित होता रहा।

'वाद' के रूप में 'प्रगतिवाद' का जन्म सन् १६३६ में प्रगतिशील लेखक संघ' की स्थापना के साथ हुआ। इसके संस्थापकों में डा० मुल्कराज आनन्द,

प्रगतिवाद

सज्जाद जहीर आदि प्रमुख थे। पहली भारतीय कान्फ्रेंस लखनऊ में अप्रैल १६३६ में हुई। इसके सभापति स्व० प्रेमचन्द थे। दूसरी कान्फ्रेंस कलकत्ता में दिसम्बर १६३८ में रवि बाबू की अध्यक्षता में हुई। प्रगतिशील लेखक ने एक निश्चित प्रगतिवादी विचारधारा को अपनाया जिसके कारण 'प्रगतिशीलता' और 'प्रगतिवाद' उसी निश्चित विचारधारा के अर्थ में रूढ़ि हो गये।

इस प्रगतिवादी विचारधारा का मूलाधार है मार्क्स द्वारा स्थापित तत्वदर्शन जिसका प्रमुख तत्व है वर्गसंघर्ष। इसके अनुसार समाज सदैव बदलता रहता है और उसके दो मुख्य वर्गों—शोषक और शोषित में सतत संघर्ष चलता रहता है। परिणाम स्वरूप समाज में कोई सनातन व्यवस्था स्थापित होना संभव नहीं हो पाता। किन्तु प्रगतिवादियों का यह विश्वास है कि प्रगतिशील आन्दोलन और क्रांति के द्वारा ऐसे समाज का निर्माण किया जा सकता है जो वर्गहीन हो अर्थात् जिसमें न शोषक हों और न शोषित तथा जिसमें मानव मात्र की समाज में एकसी स्थिति हो। संक्षेप में प्रगतिवाद का साहित्य में वही स्थान है और वह उन्हीं आदर्शों का पोषक है जो राजनैतिक क्षेत्र में साम्यवाद ने अपने आगे रखे हैं। विचारधारा की दृष्टि से प्रगतिवाद यथार्थ और भौतिकता में ही विश्वास रखता है और भाग्यवाद, प्रकृति की रहस्यात्मकता अथवा ईश्वर और धर्म के नाम पर किये जानेवाले ढकोसलों को

सर्वथा उपेक्षणीय मानता है। इस प्रकार प्रगतिवाद उन लोगों को 'प्रतिक्रियावादी, मानता है जो अतीत का राग अलापते हैं, जो रहस्यात्मकता और कल्पनालोक में ही तल्लीन रहते हैं, जो काम और विलास के विवेचन में रत हैं अथवा जो पलायनवादी हैं अर्थात् साम्यवाद की स्थापना में सक्रिय सहयोग नहीं देते। प्रगतिवाद को 'कला कला' के लिये अथवा 'स्वान्तः सुखाय' के सिद्धान्त ग्राह्य नहीं हैं। कला को वह जीवन के लिये एक उपयोगी वस्तु मानता है और जो कला जीवन के लिये उपयोगी नहीं हो सकती उसे वह कला ही नहीं मानता। इस प्रकार 'प्रगतिशीलता' की व्यापकता 'प्रगतिवाद' में आकर एक निश्चित विचारधारा में परिवर्तित होकर रूढ़ि हो गई।

इस विचारधारा के परिणाम स्वरूप हिन्दी की अनेक प्रतिभाओं ने प्रेरणा ग्रहण की जिसमें से आलोचना और विवेचन के क्षेत्र में राहुल सांकृत्यायन, प्रकाशचन्द्र गुप्त, शिवदानसिंह चौहान, रामविलास शर्मा और भगवतशरण उपाध्याय; कथा साहित्य के क्षेत्र में यशपाल, रांगेय राघव और अमृतराय; तथा काव्य के क्षेत्र में शिवमंगल सिंह सुमन, नागार्जुन और प्रभाकर माचवे का नाम उल्लेखनीय है।

प्रगतिशील आंदोलन का उद्देश्य जो समाज में मानवता की स्थापना कर वर्गसंघर्ष का अंत करना है वह तो बुरा नहीं है किन्तु इस आंदोलन के परिणाम स्वरूप 'प्रगतिवाद' के रूप में जो एक संप्रदायगत भावना आ गई है वह साहित्य के साथ स्वस्थ विकास की दृष्टि से शुभसूचक नहीं है। हर्ष की बात है प्रगतिशील होते हुए भी अनेक नवीन प्रतिभाएँ अब संप्रदायगत रूढ़ियों में न बँध कर स्वतंत्र रूप से भी साहित्य सृजन में संलग्न हैं।

प्रयोगवाद

पिछले कुछ वर्षों से हिन्दी साहित्य में कुछ ऐसी रचनाएं हो रही हैं जिन्हें 'प्रयोगवादी' कहा जाता है, यों तो हिन्दी काव्य के क्षेत्र में पहले भी प्रयोग किये जाते रहे हैं किन्तु उस समय 'प्रयोग' शब्द का अर्थ नये अभ्यास, नवीन प्रयत्न अथवा नये निर्माण-प्रयासों से लिया जाता रहा है जो प्रायः अधकच्चरे ही रहते थे और जिनमें अनुभूति, व्यक्तित्व अथवा कला का पूर्ण परिपाक नहीं हो पाता

था। इन रचनाओं का उद्देश्य मात्र एक प्रकार के काव्य कला का अभ्यास करना ही होता था और साहित्य के क्षेत्र में ऐसी रचनाओं को कोई महत्व नहीं दिया जाता था। किन्तु जिस अर्थ में आधुनिक रचनाएँ 'प्रयोगवादी' कही जाती हैं वह सर्वथा नया है। इन रचनाओं में प्रयोग एक साधनमात्र नहीं है, वह स्वयं साध्य है और उनके काव्य का चरम लक्ष्य है। इस प्रकार 'प्रयोगवाद' भी एक निश्चित रचना शैली और काव्योद्देश्य के अर्थ में रूढ़ि हो गया है। प्रयोगवादी यह नहीं मानते कि जिन विषयों पर काव्य रचना हो चुकी है उनके अतिरिक्त और विषय अब हैं ही नहीं। अतः उन्होंने नये-नये विषयों को चुनकर काव्य रचना के नये-नये प्रयोग किये हैं। शैली की दृष्टि से भी उन्होंने प्रचलित परिपाटियों को छोड़कर नई-नई शैलियाँ अपनाई हैं: संक्षेप में विषय और शैली दोनों ही दृष्टियों से नवीनता का समावेश प्रयोगवादी साहित्य का मुख्य उद्देश्य है।....

हिन्दी में प्रयोगवादी काव्यधारा के मूल प्रवर्त्तक श्री 'अज्ञेय' जी हैं। 'तारसप्तक' प्रयोगवादी कवियों की रचनाओं का सर्वप्रथम संग्रह है। इस संग्रह की विवृत्ति में अज्ञेय जी लिखते हैं: "उनके तो एकत्र होने का कारण यही है कि वे किसी एक स्कूल के नहीं हैं, किसी मंजिल पर पहुँचे हुए नहीं है, अभी राही हैं—राही नहीं, राहों के अन्वेषी।......काव्य के प्रति एक अन्वेषी दृष्टिकोण उन्हें समानता के सूत्र में बाँधता है।" प्रयोगवादी कवियों की प्रवृत्ति के संबंध में वे लिखते हैं: "उनमें मतैक्य नहीं है, सभी महत्वपूर्ण विषयों में उनकी राय अलग-अलग है—जीवन के विषय में समाज और धर्म और राजनीति के विषय में, काव्य वस्तु और शैली के, छंद और तुक के, कवि के दायित्वों के—प्रत्येक विषय में उनका आपस में मतभेद है। यहाँ तक कि हमारे जगत के ऐसे सर्वमान्य और स्वयंसिद्ध भौतिक सत्यों को भी वे स्वीकार नहीं करते, जैसे लोकतन्त्र की आवश्यकता, उद्योगों का सामाजीकरण, यांत्रिक युद्ध की उपयोगिता, वनस्पति घी की बुराई अथवा काननवाला और सहगल के गानों की उत्कृष्टता आदि। सब एक दूसरे की रुचियों-कृतियों और आशाओं-विश्वासों पर, एक दूसरे की जीवन परिपाटी पर

और यहाँ तक कि एक दूसरे के मित्रों और कुत्तों पर भी हँसते हैं।"

भाषा की दृष्टि से नये प्रयोगों के संबंध में लिखते हुए 'अज्ञेय' जी कहते हैं कि आजकल भाषा के क्षेत्र में विशेष रूप से 'अन्वेषण' का काम हो रहा है। वे लिखते हैं—"आजकल भाषा को अपर्याप्त पाकर विराम संकेतों से अंकों और सीधी तिरछी लकीरों से, छोटे बड़े टाइपों से, सीधे या उलटे अक्षरों से, लोगों और स्थानों के नामों से, अधूरे वाक्यों से—सभी प्रकार के इन साधनों स कवि उद्योग करने लगा कि अपनी उलझी हुई संवेदना की सृष्टि को पाठकों तक अक्षुण्ण पहुँचा सके।" इस प्रकार प्रयोगवादी यह स्वीकार करते हैं कि आज क कवि की संवेदना उलझी हुई है। इस उलझी संवेदना के दो कारण हैं—आंतरिक संघर्ष और बाह्य सघर्ष। आंतरिक संघर्ष के परिणाम स्वरूप "आज के मानव का मन यौन परिकल्पनाओं से लदा हुआ है, और वे कल्पनाएँ सब दमित और कुंठित हैं। उसकी सौन्दर्य चेतना भी इससे आक्रांत है। उसके उपमान सब यौन प्रतीकार्थ रखते हैं······ और इस आंतरिक संघर्ष के ऊपर जैसे काठी कसकर एक बाह्य-संघर्ष भी बैठा है, जो व्यक्ति और व्यक्ति का नहीं", व्यक्ति समूह का, वर्गों और श्रेणियों का संघर्ष है। व्यक्तिगत चेतना के ऊपर उठकर एक वर्गगत चेतना भी लदी हुई है और उचितानुचित की भावनाओं का अनुशासन करती है, जिससे एक दूसरे प्रकार की वर्जनाओं का पुंज खड़ा होता है। अज्ञेय जी की दृष्टि में आत्माभिव्यक्ति अपने आप में संपूर्ण नहीं है। अपनी अभिव्यक्ति, किन्तु किस पर अभिव्यक्ति? उनका कहना है कि कोई भी कवि केवल स्वांतः सुखाय नहीं लिखता।

प्रयोगवादी कविताओं के अब तक तीन सप्तक प्रकाशित हो चुके हैं। अभी हाल ही में प्रकाशित 'कविताएं १९५४—संकलन,' में अन्य समसामयिक कवियों के साथ प्रयोगवादी कवियों को भी स्थान दिया गया है। प्रयोगवादी कवियों में से प्रभाकर माचवे, गजानन मुक्तिबोध, भारतभूषण अग्रवाल, गिरजाकुमार माथुर, नरेशकुमार, रघुवीर सहाय, शकुन्तला माथुर, शमशेर बहादुर आदि के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

साहित्य में नवीन प्रयोगों का होना इस बात का प्रमाण है कि वह जीवन्त है और इस दृष्टिकोण से प्रयोगवादी रचनाओं का अपना एक विशेष महत्व है। किन्तु केवल प्रयोग के नाम पर ही किसी रचना को काव्य की श्रेणी में रखने में आपत्ति हो सकती है। अधिकांश प्रयोगवादी रचनाओं को देखने से यह आशंका होती है कि कहीं वैचित्र्य और चमत्कार को ही तो काव्य की संज्ञा नहीं दी जा रही है! कहीं-कहीं प्रयोगवादी रचनाओं में नवीनता का दुराग्रह भी दिखाई देता है। फिर भी कुछ रचनाएं उत्कृष्ट कोटि की हैं उदाहरणार्थ दूसरे सप्तक में भवानीप्रसाद मिश्र की 'गीत फरोश' जिनमें व्यक्तिगत अनुभूति के प्रति ईमानदारी भी है और सामाजिक उत्तरदायित्व का ज्ञान भी। साथ ही जिनमें काव्य के भी सभी गुण विद्यमान हैं।

आधुनिक काल का सिंहावलोकन

हिंदी साहित्य ने अपने विकास की विभिन्न अवस्थाओं में से प्रायः सभी में हमारे सामने पर्याप्त रचनाएं प्रस्तुत की हैं; किन्तु सबसे अधिक ग्रन्थ-संख्या प्रबुद्ध काल में ही देखने को मिलती है। प्रबुद्ध काल को यह विशेषता देने में जिन शक्तियों का सहयोग रहा था उनका उल्लेख प्रारम्भ में ही कर दिया गया है। यहाँ इस काल के साहित्य के विकास की धारा को ही एक बार एक तारतम्य में देख लेना है। भारतेंदु युग में हम सर्वप्रथम एक नवीन तथा विकासोन्मुखी साहित्य के सम्पर्क में आए। उसके संस्पर्श से हम में कुछ नवीन साहित्यिक रूपों के प्रयोग की प्रवृत्ति उत्पन्न हुई। प्रबुद्ध काल के प्रथम उत्थान में निर्मित हुए साहित्य में हमें इस प्रयोग की भावना का ही प्राधान्य देखने को मिलता है। साहित्य में गद्य को प्राधान्य मिलता है; और नाटक, उपन्यास, कहानी, निबन्ध आदि लिखे जाने लगते हैं। द्वितीय उत्थान में भी हमें प्रयोग की भावना ही देखने को मिलती है : किन्तु वह विकसित अवस्था में है। यह प्रयोग पूर्णता प्राप्ति के लिए है। गद्य और पद्य की भाषा में भी द्विवेदी जी के प्रयत्न से साम्य स्थापित होता है। द्विवेदी युग की अन्तिम अवस्था तक

पहुँचते-पहुँचते यह पूर्णता-प्राप्ति का उद्योग सफल भी हो जाता है। प्रसाद, निराला तथा पंत की कविताएं प्रकाशित होने लगती हैं। प्रसाद के नाटक का प्रकाशन भी इसी काल से प्रारम्भ होता है। प्रेमचन्द के उपन्यास तथा कहानियाँ भी हमें देखने को मिलने लगती हैं। तृतीय उत्थान में यह आदर्श-प्राप्ति की भावना विभिन्न धाराओं में विभाजित होती हुई मिलती है तथा मौलिक प्रतिभा का भी विकास प्रारम्भ होता है। नाटकों में सामाजिक, ऐतिहासिक, राजनीतिक, गीतिनाट्य, भावनाट्य आदि का निर्माण होने लगता है। काव्य-प्रतिभा का विकास प्रबन्ध-काव्य तथा मुक्तक दोनों ही क्षेत्रों में देखने को मिलता है। इस प्रकार साहित्य के अन्य रूपों के विकास में भी हमें विविधता के दर्शन होते हैं।

प्रबुद्ध काल का साहित्य, जैसा हमने प्रारम्भ में ही लिख दिया है, बौद्धिक आधार को लेकर खड़ा है। वह वस्तुतः पाश्चात्य विचार-धारा में पोषित हुए व्यक्तियों द्वारा निर्मित हुआ साहित्य है; इसलिए जन-साधारण के बीच वह कभी भी बहुत अधिक प्रचलित नहीं हो सका। आज हम उसे जन साधारण के सम्पर्क में लाने के लिए प्रयत्नशील हैं। प्रबुद्ध काल आज 'कामायनी', 'स्कन्द गुप्त विक्रमादित्य', 'शेखर-एक जीवनी,' 'प्रेत और छाया,' 'परंपरा', 'महादेवी के विवेचनात्मक गद्य', यशपाल की 'दिव्या' आदि के साथ अपने विकास की अन्तिम अवस्था को प्राप्त कर रहा है। आगे आने वाला युग जन-साहित्य का युग होगा। प्रेमचन्द के कथा-साहित्य में उसका जो रूप-देखने को मिलता है, उससे उसका भविष्य उज्ज्वल ही प्रतीत होता है।